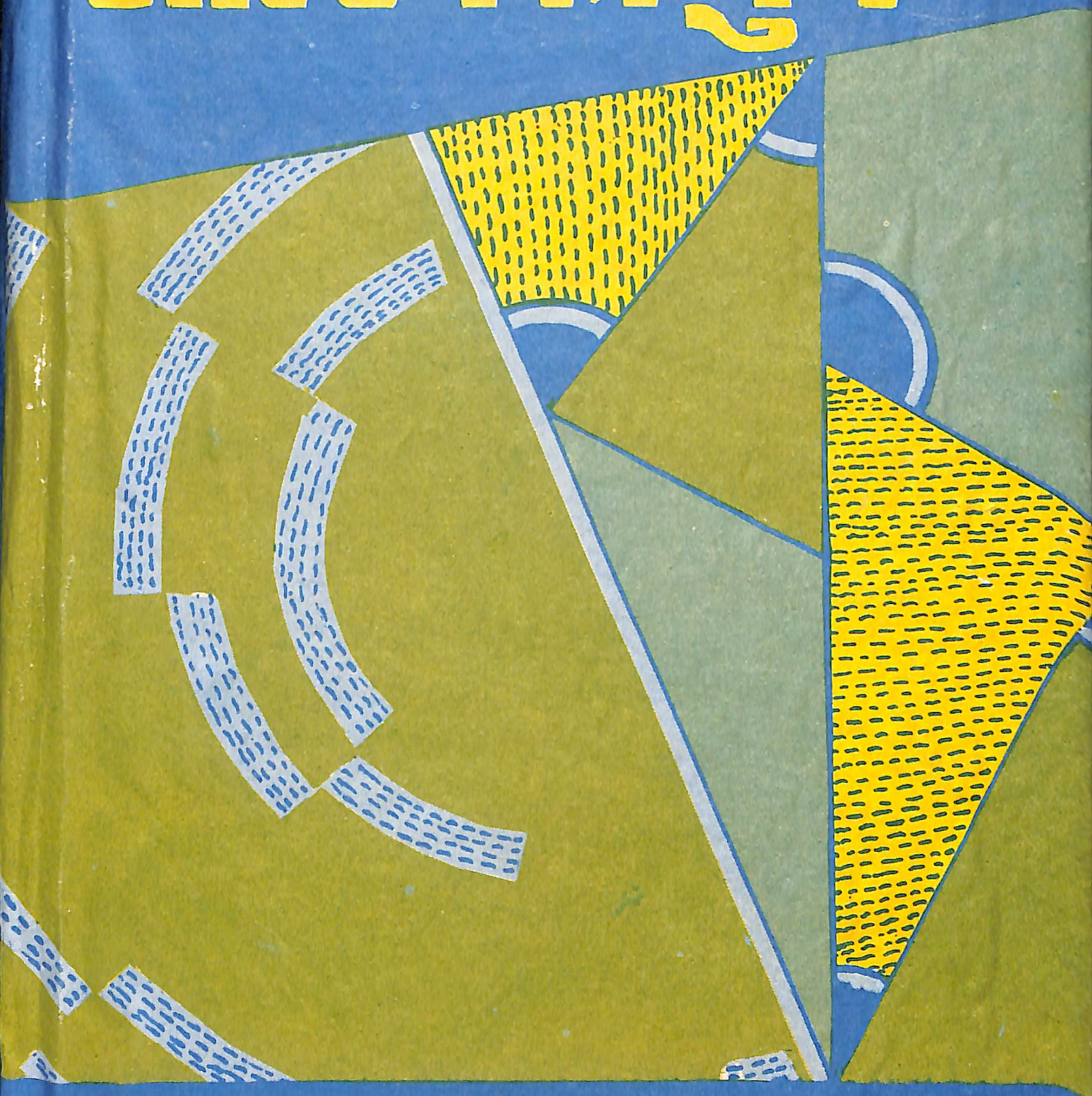
नाटककार भारतेन्दु और उनका युग



कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह

नाटककार भारतेन्दु और उनका युग



कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह

नाटककार भारतेन्दु और उनका युग

लेखक

आचार्य (डॉ०) कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

सुलभ प्रकाशन

१७, अशोक मार्ग, लखनऊ

सुलभ प्रकाशन
१७, अशोक मार्ग, लखनऊ (उ० प्र०)

प्रथम संस्करण : १९९० / मूल्य : एक सौ पचास रुपये /
मुद्रक : वर्द्धमान मुद्रणालय, जवाहरनगर, वाराणसी

NATAKKAR BHARTENDU AUR UNAKA YUG.

Price Rs. 150-00

समर्पण

प्यारी बेटी स्वर्गीया सुदक्षिणा
की स्मृति को

आत्मनिवेदन

'नाटककार भारतेन्दु और उनका युग' ग्रन्थ विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ के आरंभिक अध्यायों में पूर्व भारतेन्दु युग की नाट्यपरंपरा का विस्तृत विवेचन किया गया है। इस विवेचन के अन्तर्गत मध्यकाल की नाट्यपरंपरा के विविध रूपों को व्यापक और प्रामाणिक शोधकार्य के निष्कर्षों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। मध्यकाल की लोकधर्मी नाट्यपरंपरा के नौटंकी, माच, रासलीला, रामलीला आदि के उद्भव और विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि गुजरात, महाराष्ट्र, असम जैसे हिन्दीतर क्षेत्रों में भवाई, तमासा, जात्रा, वाद या चर्चा, अंकियानाट आदि अनेक नाम और रूप धारण कर जो नाट्य-शैलियाँ विकसित हुईं थीं उनमें हिन्दी का व्यापक प्रयोग होता था और वह बहुत अधिक लोकप्रिय भी था। रासलीला के उद्भव और विकास का विवेचन करते हुए यह बतलाया गया है कि इस नाट्यपरंपरा ने एक ऐसी अभिनयप्रविधि का विकास किया था जिसका अनुसरण करनेवाले बहुसंख्यक लीलानाटकों का प्रणयन मध्यकाल में हुआ। इन लीलानाटकों के प्रणेताओं में चाचा हित वृन्दावन दास, हित ध्रुवदास आदि बड़े-बड़े भक्तकवियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इन भक्त कवियों की कृतियों को लीला तो कहा गया किन्तु उनके नाटकीय वैशिष्ट्य पर ध्यान नहीं दिया गया। इस ग्रन्थ में यह स्पष्ट किया गया है कि रासलीला नाटकों की प्रविधि का बड़ा व्यापक प्रभाव मध्य-कालीन हिन्दी नाटकों पर पड़ा। भक्तकवियों की रचना में गेयता और अभिनेयता का जो समन्वित उत्कर्ष देखा जाता है, उसके मूल में इन रासलीला नाटकों की ही प्रेरणा प्रधान है। रीतिकालीन कवियों पर भी इन लीलानाटकों का प्रभाव पड़ा था। रासलीला की ही तरह रामलीला की भी अभिनय परंपरा का विकास हुआ, रामचरितमानस, रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकाल की नाट्यधर्मी रूढ़ियों और पूर्व भारतेन्दु युग के ब्रज-भाषा के साहित्यिक नाटकों का खोजपूर्ण विवेचन भी किया गया है। इसके अन्त-र्गत हिन्दी के प्रथम सर्वांगपूर्ण साहित्यिक नाटक 'गोविन्द हुलास' का विवेचन विद्वानों और शोधकर्त्ताओं के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक मुझे अपने देशव्यापी अनुसंधान-अभियान में प्राप्त हुआ था। जब मैंने इस ग्रन्थ को संपादित

कर प्रकाशित किया, तो महामनीषी समीक्षक डॉ० नगेन्द्र ने इसके विषय में लिखा था, "नाटक के क्षेत्र में 'गोविन्द हुलास' नाटक का ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है''''उसके प्रकाशन से हिन्दी नाटक के इतिहास की पूर्व सीमा का सुखद विस्तार हुआ है। 'गोविन्द हुलास' वास्तव में एक विचित्र कृति है। इसके प्रकाशन से हिन्दी नाटक के इतिहास का एक नया पृष्ठ खुलता है। हिन्दी साहित्य की कितनी प्रचुर एवं महत्वपूर्ण सामग्री अभी तक अन्धकार के गर्त में पड़ी हुई है, प्रस्तुत पुस्तक इस ज्वलन्त तथ्य का प्रमाण है।" नाट्य साहित्य के शीर्षस्थ अधिकारी विद्वान् डॉ० दशरथ ओझा ने लिखा था, "मेरा ऐसा मत है कि नाटकों के शोध में आपने एक नया अध्याय जोड़ा है। आपकी सारगर्भित भूमिका और इस नाटक में एक दूसरे से बढ़ चलने की होड़ लगी है। मैं समझता हूँ दोनों का समान महत्व है।" मध्यकाल की जो कृतियाँ भ्रमवश नाटक नाम से प्रसिद्ध हो गई थीं, उनके वास्तविक स्वरूप का विवेचन भी इस ग्रन्थ में किया गया है।

इस ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि अकेले नाट्य परंपरा के प्रवर्तन की दृष्टि से ही भारतेन्दु का उदय हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण घटना है। उन्होंने नाटक लिखने की नई परंपरा को जन्म दिया, नाटक खेलने की परिपाटी आरंभ की और स्वयं अभिनय करके लोगों के सामने एक आदर्श भी स्थापित किया। उनको नाटक रचना की प्रेरणा अपने समय और समाज से मिली थी। गोस्वामी तुलसीदास की तरह भारतेन्दु ने भी लोकहित साधना और साहित्य साधना को एक रूप कर दिया था। अंग्रेजों के साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ा हुआ हमारा मुमूर्षु देश ही भारतेन्दु के साहित्य का प्रेरणा-स्रोत है। वे एक ऐसे नाट्यादर्श की प्रतिष्ठा करना चाहते थे जिसमें प्राचीन और नवीन नाट्यधर्म का समन्वय हो और जो भाषा, साहित्य, समाज और राष्ट्र सबका बहुमुखी हित संपादित कर सके। भारतेन्दु जी की दृष्टि अपने समय के रंगमंच की सब परंपराओं पर गयी थी। उन्होंने प्रत्येक प्रकार के रंगमंच पर खेली जानेवाली नाटकीय रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत कर दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रुचि निर्माण करने का प्रयत्न किया था। भारतेन्दु युग के सभी नाटककार उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व से प्रेरित और प्रभावित थे। उन्होंने उनके लक्ष्य की सिद्धि में तन, मन, धन से सहयोग प्रदान किया था। भारतेन्दु काल में जितने नाटक हिन्दी में लिखे गये, उतने ही सीमित समय में फिर कभी नहीं लिखे गये। उस समय के पत्र-पत्रिकाओं की छानबीन करने तथा तत्संबंधी विविध उल्लेखों के अनुशीलन से ऐसा अनुमान होता है कि इस काल-खंड में कम से कम पचास नाटक लेखक तो अवश्य हुए। उन लोगों के द्वारा रचे हुए दो सौ से ऊपर नाटक मेरे देखने में आये हैं। इस ग्रन्थ में भारतेन्दु

काल में हिन्दीतर क्षेत्रों में हिन्दी के जो नाटक लिखे गये उनका विवरण भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। द्विवेदीयुग में प्रणीत नाट्य-साहित्य को मैंने भारतेन्दु युग का ही विस्तार माना है।

मैंने इस ग्रन्थ में हिन्दी नाट्यप्रयोग को लेकर फैली हुई बहुत सी भ्रान्त समीक्षात्मक दृष्टियों का निराकरण करते हुए उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। हमारे नाट्यचिन्तन के विषय में यह एक बद्धमूल-सी धारणा बनी हुई थी कि मुसलमानों के आक्रमण के फलस्वरूप राष्ट्र की नाट्यपरंपरा निःशेष हो गई थी। मैंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इस संकटकाल में लोकनाट्य एवं धार्मिक लीला-नाटकों के रूप में हिन्दी नाट्यपरंपरा का नव्योन्मेष हुआ जिससे हमारे साहित्य की तत्कालीन सभी धारायें समृद्ध एवं प्रभावशाली हुईं। इसी काल के आरंभ में 'गोविन्द हुलास' जैसा सर्वांगपूर्ण साहित्यिक नाटक लिखा गया। मैंने अपनी शक्ति भर भक्तिकाल के रंगान्दोलनों को विवेचित करने का प्रयत्न किया है। कारण, इनको समझे बिना भारतेन्दु की नाट्यसर्जना के मर्म को प्रामाणिक रूप से उद्घाटित नहीं किया जा सकता।

मैंने अपनी शक्ति भर पूर्व भारतेन्दु युग तथा उत्तर भारतेन्दु युग की अभिनय परंपरा के सूत्रों को भी सँजोने का प्रयत्न किया है। इसी उपक्रम के संदर्भ में मैंने तेलुगुभाषी हिन्दी नाटककार नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि और पं० माधव शुक्ल जैसे अभिनेताओं और नाट्यप्रयोक्ताओं के कृतित्व का विवेचन किया है।

मेरे इस ग्रन्थ से विद्वज्जनों को परितोष हो, इसी में मेरे श्रम की सार्थकता है।

कुँवर चन्द्रप्रकाश सिंह

शरद पूर्णिमा, सं० २०४७ वि०
२/२२ त्रिवेणीनगर, सीतापुर रोड,
लखनऊ—२२७०२०

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

विषय-क्रम

●

पूर्व पीठिका

(१)

संस्कृत नाटक मध्ययुग में ह्रास को प्राप्त हो रहा था। यह भारतीय इतिहास का वह समय था, जब शताब्दियों तक सुख-सम्पत्ति का अबाध उपभोग करते रहने के कारण तथा अन्य ऐतिहासिक कारणों से राष्ट्र के जीवन में रूढ़िप्रियता अंकुरित होने लगी थी। ऐसे ही समय मुसलमानों के आक्रमण होने भी प्रारम्भ हो गये, जिनके परिणामस्वरूप भारतीय संस्कृति को विदेशियों से अपनी रक्षा के लिए रूढ़िवाद का अस्त्र अधिक दृढ़ता से ग्रहण कर लेना पड़ा। इस परिस्थिति का प्रतिकूल प्रभाव सभी काव्य आदि कलाओं पर पड़ा और नाटक के सामने तो विशेष रूप से जीवन-मरण की समस्या ही उठ खड़ी हुई। कारण, नाटकों के लेखक और आचार्य, भरत द्वारा निर्धारित वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक अर्थात् सार्वजनिक बनाने के नाटक के प्रधान उद्देश्य को तो भूलने ही लगे, उनके द्वारा निर्दिष्ट नाट्यशैली के आधारभूत तत्व लोकप्रामाण्य को भी सर्वथा उपेक्षित कर बैठे। इसके परिणामस्वरूप जनसाधारण की भाषा और विद्वानों की भाषा का अन्तर भी बहुत बढ़ गया और दैनिक जीवन के व्यवहार की भाषा और नाटक की भाषा के बीच की खाई इतनी गहरी हो गई कि नाटकों की प्राकृतों में भी जन-भाषा को स्थान नहीं दिया गया और परम्परागत पुरानी प्राकृतें ही चलती रहीं।

इस ह्रासोन्मुख संस्कृत नाटक को मुसलमानी आक्रमणों के फलस्वरूप बहुत बड़ा धक्का लगा।[1] प्रसाद जी ने ठीक ही लिखा है कि मध्ययुगीन भारत में जिस आतंक और अस्थिरता का साम्राज्य था, उसने यहाँ की प्राचीन रंगशालाओं को तोड़फोड़ दिया।[2] यदि इस शासन का आगमन न हुआ होता, तो कम से कम वे असंख्य रंगशालाएँ जो देवमन्दिरों, तीर्थस्थानों, राजभवनों और यज्ञशालाओं से संलग्न थीं, नष्ट होने से बच जातीं और प्रान्तीय भाषाओं के नाटकों के विकास की साधक होतीं। किसी प्रकार की लीपापोती[3] से मुसलमानी आक्रमण और

---

१. तुलनीय डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य', पृष्ठ २२३-२२४।

२. 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ ७०-७१।

३. देखिये, डा० सोमनाथ कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ २०-२२ और डा० श्रीकृष्णलाल कृत 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', पृष्ठ १९३-१९४।

इस्लामी शासन-व्यवस्था के मत्थे से यह कलंक मिटाया नहीं जा सकता। आश्चर्य है, लीपापोती करने वाले विद्वान् सन् १६४३ ई० से १८७० ई० तक के मुगल-शासन-काल के ऐतिहासिक वातावरण का ही लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं,[1] उसके पूर्व भी प्रायः तीन शतियों के मुहम्मद गजनवी से लगाकर इब्राहीम लोदी तक के शासनकाल को भुला देते हैं, जिसमें धर्मान्ध शासकों और सैनिकों की पहुँच के भीतर के कला और शिल्प के प्रायः सब निदर्शन ध्वस्त कर दिये गये थे, नालन्दा आदि के पुस्तकालय अग्नि की भेंट हो चुके थे और जिसमें मुसलमानी राजधानियों के आसपास के प्रदेशों की हिन्दू जनता को मूकभाव पशु का जीवन बिताने को बाध्य होना पड़ा था। इस शासन के आतंक से बचकर सीताबेंगा और जोगीमारा की गुफाओं में छिपी हुई नाट्यशालाएँ स्पष्ट बता रही हैं कि उस शासन-काल में नाट्य-गृहों और नाट्यशालाओं की रक्षा ऐसे ही स्थानों में सम्भव थी जो देहली के लिए दूर या दुर्गम थे। यही कारण था कि इस काल में जो भी नाटक खेले या लिखे जाते थे, वे प्रायः मिथिला, उत्कल, बंगाल और विशेषतः दक्षिण भारत में ही प्राप्य हैं। इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि विध्वंस और विनाश की उल्लिखित तीन शक्तियों के पश्चात् आने वाले मुगलों के राज्य को कुछ लेखक हिन्दी साहित्य के लिए विशेषकर भारत के लिए सामान्यतया बड़ा उपकारी कहकर अत्युक्ति से तो काम लेते ही हैं, अपितु उससे उल्टे निष्कर्ष भी निकालते हैं। यदि इस काल में सूर और तुलसी आदि भक्त कवियों की कृतियों में हिन्दी काव्य अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा था तो उसका श्रेय अकबर और जहाँगीर के 'सुरुचिपूर्ण' होने को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। उसका श्रेय तो उस महान् भक्ति आन्दोलन को प्राप्त है जो मुसलमानों के भारत-प्रवेश के पूर्व ही दक्षिण भारत में प्रवर्तित होकर मुगलों के शासनकाल तक एक सिरे से दूसरे सिरे तक सारे देश को आप्लावित कर चुका था। देश के जिन सिरों को अकबर और जहाँगीर की 'सुरुचिपूर्णता' स्पर्शमात्र भी न कर सकी थी, वहाँ भी इस भक्ति-आन्दोलन के फलस्वरूप सन्त कवियों की मर्मवाणी साम्य, प्रेम, सेवा और सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और एकता का दिव्य संदेश सुना रही थी। भक्ति की यह भागीरथी जन-जन के मानस का मल धो रही थी। इसकी वेगवती धारा ने जाति, सम्प्रदाय, वर्ग और मजहब आदि मानवता के कृत्रिम बन्धनों को तोड़-फोड़ दिया था। चारों ओर सन्तों की अत्यन्त तल्लीनताकारी, परम प्रेममयी स्वर-लहरी पतितपावनता के विचित्र दृश्य उपस्थित करने लगी थी। इसलिए सत्य तो यह प्रतीत होता है कि जिन शक्तियों ने कबीर, रहीम, रसखान आदि के समान असंख्यों को राम और कृष्ण का भक्त

---

१. डा० सोमनाथ कृत हि० ना० सा० इ०, पृष्ठ २०।

बना दिया था, उन्हीं का अप्रत्यक्ष प्रभाव यह भी हुआ कि अकबर और जहाँगीर भी सुरुचिपूर्ण हो गये। इस स्वयंप्रकाश ऐतिहासिक सत्य की अवहेलना करके भक्तों के काव्योत्कर्ष में अकबर और जहाँगीर के शासन की छाया ग्रहण करने का प्रयत्न फालतू बुद्धि का व्यायाम ही कहा जा सकता है।

अस्तु, नाटक के उक्त ह्रास के प्रसंग पर विचार करते समय उसकी कुछ अन्य प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि उल्लिखित विपरीत परिस्थितियों में सबसे अधिक क्षतिग्रस्त होनेवाली हमारे नाटकों की वह समृद्ध नागर परम्परा है, जिसे भरत ने नाट्य-धर्मी कहा है। इस परम्परा का अन्तिम नाटक सम्भवतः श्री चैतन्य महाप्रभु के शिष्य और सहयोगी श्री रामानन्द राय का लिखा हुआ 'जगन्नाथ वल्लभ' है जो पुरी के शासक श्री प्रतापरुद्र के आदेश से जगन्नाथ जी के मन्दिर में अभिनीत हुआ था।[1] परन्तु मुसलमानों द्वारा विशेष आक्रांत हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों में इस प्रकार के किसी अभिनय का उल्लेख हमें इसके बहुत पहिले से ही नहीं मिलता। इस नाट्यधर्मी परम्परा के क्षतिग्रस्त और अन्ततः लुप्त हो जाने पर वह परम्परा फिर भी अक्षुण्ण बनी रही जिसको भरत के शब्दों में लोकधर्मी कह सकते हैं। इस परम्परा में रंगमंच पर कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग बहुत कम होता था। इसलिए तत्कालीन परिस्थितियों में सुकरता और सुग्राह्यता की दृष्टि से इसका अवशिष्ट रहना और लोकप्रिय होते जाना स्वाभाविक था। इस परम्परा के अनेक रूप देश के विभिन्न भागों में इस समय प्रचुरता से बिखरे हुए मिलते हैं, जिनको हम दो शाखाओं के अन्तर्गत ले सकते हैं—पहली धार्मिक और दूसरी लौकिक।

यह लोकधर्मी नाट्यपरम्परा प्रारम्भ में जन-साधारण तक ही सीमित रही और पण्डित-मण्डली तथा शिष्ट-जनों का समुदाय नाट्यधर्मी परम्परा के न रहने पर भी उसकी ओर विशेष आकृष्ट न हुआ। परन्तु विक्रम की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में जब भक्ति आन्दोलन ने राष्ट्र में नई चेतना भरी, तब जहाँ एक ओर श्रव्य-काव्य के मुक्तक और प्रबन्ध नाम के दोनों भेद खूब फले-फूले, तो दूसरी ओर दृश्यकाव्य भी उपेक्षित नहीं रहा। रंगमंचों के न रहने से पुरानी नाट्यधर्मी परम्परा के पनपने का अवकाश ही नहीं रह गया था, इसलिए भक्ति आन्दोलन के प्रमुख उन्नायकों ने लोकधर्मी-परम्परा के पुनरुत्थान की ओर ध्यान दिया। परिणामस्वरूप इस काल में हम समस्त भारत में लोकधर्मी नाट्यपरम्परा की धार्मिक शाखा को समुन्नत होकर विविध प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को प्रभावित करते हुए पाते हैं। बंगाल में चैतन्य महाप्रभु नाटक के नवोत्थान के

---

१. हेमेन्द्रनाथ कृत 'इण्डियन स्टेज', पृष्ठ ११०।

अजस्र प्रेरणा-स्रोत ही बन गये थे । चैतन्य भागवत के लेखक वृन्दावनदास ने लिखा है कि चैतन्य स्वयं श्रीकृष्णलीला करते थे, उनका अभिनय असाधारण रूप से सम्मोहक होता था । उन्हीं के कारण बंगाल में 'जात्रा' की लोकप्रियता बढ़ी और उसने समुन्नत होकर नाटक का स्थान ले लिया । चैतन्य की ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रेरणा से मिथिला में 'कीर्तनिया' और आसाम में 'अंकिया' नामक नाटकों का प्रचलन हुआ । सम्भवतः वैष्णवों की देखा देखी बंगाल में शैवों ने 'गम्भीरा' नामक विशिष्ट लोकनाटक की परम्परा चलाई । दक्षिण में भी मलावार में १६५७ में कालीकट के मानवेद राजा ने गीतगोविन्द को आधार बनाकर कृष्णनाट्टम् का प्रचलन किया और कुछ ही समय बाद राजा वीर केरल वर्मा ने 'रामनाट्टम्' का प्रवर्तन किया । इसी समय के आसपास पौराणिक आख्यानों के आधार पर कथाकली नाम के अभिनयात्मक नृत्य का प्रचार हुआ । महाराष्ट्र में सम्भवतः इन्हीं दिनों बहुत प्राचीनकाल से चले आने वाले 'ललित' ने 'हरिकथा' और 'दशावतार' आदि के रूप में अधिक विस्तार प्राप्त किया । ललित दशहरे के अवसर पर होता था, जिसमें भगवान् के चरित्रों का अभिनय होता था और अन्त में राम के द्वारा रावण का वध करवा दिया जाता था । ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात और आसाम में भी इन्हीं दिनों रामलीला की लोकप्रियता और प्रतिष्ठा अधिक बढ़ी । आसाम में तो बंगाल की जात्राओं का भी प्रचार बढ़ा । इन्हीं दिनों हिन्दी भाषा-भाषी प्रांतों में रामलीला और रास-लीला ने समुन्नत और लोकप्रिय होकर साहित्यिक नाटक की क्षतिपूर्ति की ।

लोकधर्मी नाट्यपरम्परा की धार्मिक शाखा के इस वासंतिक नव विकास ने, जैसा कि स्वाभाविक था, इसकी लौकिक शाखा के विकास में योग दिया जिसके परिणामस्वरूप हम देश के विभिन्न भागों में लौकिक आख्यानों के नाटकीय प्रयोगों का प्रचलन देखते हैं । इनमें महाराष्ट्र का तमाशा, गुजरात की भँवाई, मालवा और राजस्थान का माच तथा उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में स्वांग, सांग, भगति, तमाशा आदि के नामों से प्रचलित नौटंकी आदि हैं ।

नौटंकी

उत्तर प्रदेश और उसके आसपास काफी दूर तक लोकधर्मी नाट्यपरम्परा के जो लौकिक रूप प्रचलित हैं, उनमें नौटंकी का प्रचार सबसे अधिक व्यापक है । नौटंकी के आविर्भाव की कोई निश्चित तिथि अभी नहीं बताई जा सकती । प्रसाद जी ने लिखा है—'मध्यकालीन धर्मान्ध आक्रमणों ने जब भारतीय रंगमंच के शिल्प का विनाश कर दिया तो''''रंगमंच से विहीन कुछ अभिनय बच गये, जिन्हें हम पारसी स्टेजों के पहिले भी देखते रहे हैं । इनमें मुख्यतः नौटंकी

(नाटकी) और भाँड़ ही थे।'[1] इस प्रकार नौटंकी की प्राचीनता तो निर्विवाद ठहरती है। इसका एक पुराना उल्लेख हमें औरंगजेब के समकालीन मौलाना गनीमत की मनसबी 'नेरंगे इश्क' में मिलता है, जो १८८५ ई० के आस-पास लिखी गई थी। मौलाना ने फारसी में जो कुछ लिखा है, उसका आशय इस प्रकार है—

'आज शहर में अजब किस्म के लोग आये हैं, जो एक तर्जो-अंदाज के साथ नकलें करते हैं और नगमोंसाज के साथ शोबदे दिखाते हैं। नाच और नकल में वे उस्ताद हैं, खुश आवाज (मीठे स्वर वाले) हैं। हमारे इस्तलाह (भाषा) में इनको 'भंगतबाज' कहते हैं। कभी मर्द, कभी औरत और कभी बच्चे की नकल करते हैं, कभी परीशान बाल संन्यासी बन जाते हैं, कभी फिरंगी (अंग्रेज) बन जाते हैं। कभी दहकानी औरत और मर्द की नकल करते हैं, कभी दाढ़ी मुड़ाकर गिब्रकी की सूरत में नजर आते हैं। कभी मुगलों की नकल बना लेते हैं, कभी गुलाम बन जाते हैं, कभी जच्चा की हुलिया बना लेते हैं, जिसका बच्चा दाया की गोद में रोता है। कभी देव बन जाते हैं, कभी परी। गरज हर कौम का जलवा दिखाते हैं और हर तरह के इश्वा जमाने से काम लेते हैं।'[2]

कुछ लेखक समझते हैं कि मौलाना के उपर्युक्त उल्लेख में भगतबाजों की भाषा के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं है, इसलिए वे उनके फारसी भाषा में होने की सम्भावना की दूरारूढ़ और क्लिष्ट कल्पना भी करते हैं।[3] पर मौलाना ने तो उपर्युक्त उद्धरण में उल्लिखित नकलों के अभिनेताओं को भगतबाज कहकर अपनी ओर से यह नितान्त स्पष्ट कर दिया है कि नाट्य प्रयोगों की भाषा हिन्दी थी और अभिनेता भी हिन्दुस्तानी ही थे। 'भगत' (भक्ति या भक्त का अपभ्रंश) शब्द के हिन्दी में होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। आज भी इस परम्परा के नाट्य प्रयोगों को मथुरा और आगरा के आस-पास 'भगति' ही कहा जाता है। हाथरस और उसके पास इन्हीं के लिए 'स्वांग' नाम चलता है और उसके पूरब के प्रदेशों में प्रायः नौटंकी नाम चलता है। मारवाड़ी लोग इन्हें ही तमाशा कहते हैं, कहीं-कहीं स्वांग या संगीत नाम भी चलता है। पहले इसका एक नाम ख्याल भी था, पर अब वह प्रायः छूट गया है और उसका प्रयोग भी सीमित होकर ख्याल या लावनी नाम के छन्द की रचना-

---

१. काव्यकला तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ ७१।

२. डा० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास', पृ० १७-१८ से उद्धृत।

३. वही, पृ० १८।

प्रतियोगिताओं तक ही सीमित रह गया है। मौलाना गनीमत के समकालीन हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सबलसिंह चौहान के एक उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उन दिनों स्वांगों का बहुत प्रचार था। उन्होंने अपनी भाषा-महाभारत में स्वांग शब्द का प्रयोग किया है—

कहूँ नृत्यकारी नचि गावें।
कहूँ नाटकी स्वांग दिखावें ॥

जैसा कि मैं दिखा चुका हूँ, जब आज भी 'स्वांग' और 'भगत' आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं, तो मौलाना गनीमत के 'भगतवाज' और 'भगत' को क्रमशः सबलसिंह के 'नाटकी' और 'स्वांग' मान लेने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

इस अभिनय-परम्परा के लिए भक्ति और रीति काल में ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज, गोपीचन्द और पूरनभक्त आदि के चरित्रों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई थी, जिनमें अभिनेयता और साहित्यिकता दोनों का समन्वय था। नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' इसी परम्परा की एक प्रसिद्ध कृति है जिसमें कथावस्तु एवं संवादों की नाटकीयता, अभिनय-सुकरता और साहित्यिकता आदि सभी गुण मिलते हैं। इसकी सुयोजित कथा छोटी होते हुए भी, नाटकीय वस्तु-विकास की विविध अवस्थाओं से होती हुई, अभीष्ट रसनिष्पत्ति में पूर्ण सफल होती है। निश्चय ही यह रचना उस काल के लोकधर्मी रंगमंच के विधान को दृष्टि में रखकर लिखी हुई प्रतीत होती है। उसके संवादों के बीच में पड़ने वाले स्वयं कवि के कुछ कथन, जो कथानक को जोड़ते हैं, नौटंकी के 'रंगा' के कथन के समान ही शास्त्रीय नाटकों के चूलिका नामके अर्थोपक्षेपक के समकक्ष हैं। वस्तुतः कवि उसमें अपनी सूचनाओं द्वारा वही काम लेता है जो रेडियो पर प्रसारित होने वाली ध्वनि-नाटिकाओं में तथा अनेक आधुनिक पश्चिमी नाट्य-प्रयोगों में अनाउंसर करते हैं। अतएव इस प्रकार के चरित्रों की नाटकीयता में संदेह करने को अवकाश नहीं रह जाता। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना पड़ता है कि ये चरित्र लक्षोदय कृत 'पद्मिनी चरित्र' केशव कृत 'वीरसिंह देव चरित्र' आदि से भिन्न हैं, जो केवल पाठ्य या श्रव्य हैं, अभिनेय नहीं। इन्हीं श्रव्यकाव्यात्मक चरित्रों से भेद बताने के लिए ही सम्भवतः उक्त दृश्य काव्यात्मक चरित्रों को नाटकीय कहा जाता था, जो कालान्तर में 'नाटकी' होकर 'नौटंकी' कहलाने लगे। नौटंकी के आज के असाहित्यिक रूप को देखकर हम उसके प्राचीन समृद्ध स्वरूप की भी उपेक्षा करते हैं, और मध्यकाल में नाटकों के पूर्ण अभाव का रोना रोते हैं। आश्चर्य है, हमारे कुछ विद्वान् बनारसीदास कृत 'समय सार नाटक' जैसी विशुद्ध दार्शनिक एवं सर्वथा अनाटकीय कृति

के आगे नाटक नाम जुड़ा देखकर ही उसे नाटक मान लेते हैं, पर उपर्युक्त चरित्र-साहित्य की नाटकीयता की परीक्षा करने का भी कष्ट नहीं स्वीकार करते।

आगे चलकर नौटंकी का रूप विकारग्रस्त हो गया प्रतीत होता है। इसके विकृत होने का कारण सम्भवतः मुसलमानी प्रभावापन्न नगरों से इसका सम्पर्क था, जिसका आभास मौलाना गनीमत के उक्त हर्ष-विस्मयपूर्ण उद्गार से मिलता है। मुसलमानों के ऐसे ही सम्पर्क के कारण नाट्यशास्त्र की परम्परा की 'भाषा' भी भाँड़ों की अश्लील भँड़ैती में परिणत हो गई थी। मुसलमानी प्रभाव से नौटंकी में जो अश्लील स्त्रैणता आई, उसका सबसे उपयुक्त प्रमाण अमानत की 'इन्दर सभा' में मिलता है। खेद है डा० सोमनाथ गुप्त जैसे लेखकों ने इसे 'प्राप्य रंगमचीय नाटकों में सबसे पुरातन नाटक' माना है और इसके महत्व के प्रतिपादन में अनेक पन्नें रँगे हैं।[1] इस प्रकार के कथन अपनी नाट्य-परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रचलित अज्ञान का परिचय तो देते ही हैं, अपनी शब्दावली से भी अनेक प्रकार के भ्रमों की सृष्टि करते हैं। नाटक तत्वतः दृश्य काव्य होने के कारण सतत् रंगमंच-सापेक्ष्य अर्थात् रंगमंचीय हैं, अरंगमंचीय कृति नाटक नहीं स्वीकार की जा सकती। पुनश्च, रंगमंचीय नाटकों की परम्परा भी हिन्दी में लीलाओं के रूप में अविच्छिन्न रूप से शताब्दियों से चली आ रही है। उसी के समानान्तर नौटंकी की परम्परा भी अबाध-गति से चल रही है। इनके रहते अमानत की 'इन्दर सभा' को प्राप्त 'रंगमंचीय नाटकों' में भी सबसे पुरातन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'इंदरसभा' में ऐसे कोई विशिष्ट गुण नहीं जो नौटंकी और रासलीला की परम्परा में पहले से ही प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से वह ऐसी भ्रष्ट रचना है कि उसे हिन्दी-नाटकों की परम्परा में सम्मिलित करने का मोह ही विचित्र प्रतीत होता है। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने तो इसीलिए उसी समय उसे 'चौपट' विशेषण से विभूषित किया था और उन्हीं के समकालीन 'अकबर गोरक्षा न्याय' नाटक के लेखक जगतनारायण ने उसे देश को नाश करने वाला बताया था।[2] वस्तुतः इस युग में ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज आदि के प्राचीन आदर्श चरित्रों के कथानकों के स्थान पर बहराम, महबूब, मुहब्बत, इश्क-मुश्फिक़, आशिक-माशूक की भरमार हो गई। इसी बढ़ती

१. दे० डा० सोमनाथ गुप्त कृत हि० ना० सा० इ०, पृ० ९।

२. दे० प्रतापनारायण मिश्र कृत 'संगीत शाकुन्तल' की भूमिका और जगतनारायण कृत 'अकबर गोरक्षा-न्याय' की प्रस्तावना।

प्रतियोगिताओं तक ही सीमित रह गया है। मौलाना गनीमत के समकालीन हिन्दी के प्रसिद्ध कवि सबलसिंह चौहान के एक उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है कि उन दिनों स्वांगों का बहुत प्रचार था। उन्होंने अपनी भाषा-महाभारत में स्वांग शब्द का प्रयोग किया है—

कहूँ नृत्यकारी नचि गावें।
कहूँ नाटकी स्वांग दिखावें॥

जैसा कि मैं दिखा चुका हूँ, जब आज भी 'स्वांग' और 'भगत' आदि एक ही अर्थ में प्रयुक्त हो रहे हैं, तो मौलाना गनीमत के 'भगतबाज' और 'भगत' को क्रमशः सबलसिंह के 'नाटकी' और 'स्वांग' मान लेने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती।

इस अभिनय-परम्परा के लिए भक्ति और रीति काल में ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज, गोपीचन्द और पूरनभक्त आदि के चरित्रों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई थी, जिनमें अभिनेयता और साहित्यिकता दोनों का समन्वय था। नरोत्तमदास का 'सुदामा चरित्र' इसी परम्परा की एक प्रसिद्ध कृति है जिसमें कथावस्तु एवं संवादों की नाटकीयता, अभिनय-सुकरता और साहित्यिकता आदि सभी गुण मिलते हैं। इसकी सुयोजित कथा छोटी होते हुए भी, नाटकीय वस्तु-विकास की विविध अवस्थाओं से होती हुई, अभीष्ट रसनिष्पत्ति में पूर्ण सफल होती है। निश्चय ही यह रचना उस काल के लोकधर्मी रंगमंच के विधान को दृष्टि में रखकर लिखी हुई प्रतीत होती है। उसके संवादों के बीच में पड़ने वाले स्वयं कवि के कुछ कथन, जो कथानक को जोड़ते हैं, नौटंकी के 'रंगा' के कथन के समान ही शास्त्रीय नाटकों के चूलिका नामके अर्थोपक्षेपक के समकक्ष हैं। वस्तुतः कवि उसमें अपनी सूचनाओं द्वारा वही काम लेता है जो रेडियो पर प्रसारित होने वाली ध्वनि-नाटिकाओं में तथा अनेक आधुनिक पश्चिमी नाट्य-प्रयोगों में अनाउंसर करते हैं। अतएव इस प्रकार के चरित्रों की नाटकीयता में संदेह करने को अवकाश नहीं रह जाता। इस प्रसंग में हमें यह स्मरण रखना पड़ता है कि ये चरित्र लक्षोदय कृत 'पद्मिनी चरित्र' केशव कृत 'वीरसिंह देव चरित्र' आदि से भिन्न हैं, जो केवल पाठ्य या श्रव्य हैं, अभिनेय नहीं। इन्हीं श्रव्यकाव्यात्मक चरित्रों से भेद बताने के लिए ही सम्भवतः उक्त दृश्य काव्यात्मक चरित्रों को नाटकीय कहा जाता था, जो कालान्तर में 'नाटकी' होकर 'नौटंकी' कहलाने लगे। नौटंकी के आज के असाहित्यिक रूप को देखकर हम उसके प्राचीन समृद्ध स्वरूप की भी उपेक्षा करते हैं, और मध्यकाल में नाटकों के पूर्ण अभाव का रोना रोते हैं। आश्चर्य है, हमारे कुछ विद्वान् बनारसीदास कृत 'समय सार नाटक' जैसी विशुद्ध दार्शनिक एवं सर्वथा अनाटकीय कृति

के आगे नाटक नाम जुड़ा देखकर ही उसे नाटक मान लेते हैं, पर उपर्युक्त चरित्र-साहित्य की नाटकीयता की परीक्षा करने का भी कष्ट नहीं स्वीकार करते।

आगे चलकर नौटंकी का रूप विकारग्रस्त हो गया प्रतीत होता है। इसके विकृत होने का कारण सम्भवतः मुसलमानी प्रभावापन्न नगरों से इसका सम्पर्क था, जिसका आभास मौलाना गनीमत के उक्त हर्ष-विस्मयपूर्ण उद्गार से मिलता है। मुसलमानों के ऐसे ही सम्पर्क के कारण नाट्यशास्त्र की परम्परा की 'भाषा' भी भाँड़ों की अश्लील भँड़ैती में परिणत हो गई थी। मुसलमानी प्रभाव से नौटंकी में जो अश्लील स्त्रैणता आई, उसका सबसे उपयुक्त प्रमाण अमानत की 'इन्दर सभा' में मिलता है। खेद है डा० सोमनाथ गुप्त जैसे लेखकों ने इसे 'प्राप्य रंगमचीय नाटकों में सबसे पुरातन नाटक' माना है और इसके महत्व के प्रतिपादन में अनेक पन्नें रँगे हैं।[1] इस प्रकार के कथन अपनी नाट्य-परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रचलित अज्ञान का परिचय तो देते ही हैं, अपनी शब्दावली से भी अनेक प्रकार के भ्रमों की सृष्टि करते हैं। नाटक तत्वतः दृश्य काव्य होने के कारण सतत् रंगमंच-सापेक्ष्य अर्थात् रंगमंचीय हैं, अरंगमंचीय कृति नाटक नहीं स्वीकार की जा सकती। पुनश्च, रंगमंचीय नाटकों की परम्परा भी हिन्दी में लीलाओं के रूप में अविच्छिन्न रूप से शताब्दियों से चली आ रही है। उसी के समानान्तर नौटंकी की परम्परा भी अबाध-गति से चल रही है। इनके रहते अमानत की 'इन्दर सभा' को प्राप्त 'रंगमंचीय नाटकों' में भी सबसे पुरातन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

'इंदरसभा' में ऐसे कोई विशिष्ट गुण नहीं जो नौटंकी और रासलीला की परम्परा में पहले से ही प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से वह ऐसी भ्रष्ट रचना है कि उसे हिन्दी-नाटकों की परम्परा में सम्मिलित करने का मोह ही विचित्र प्रतीत होता है। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने तो इसीलिए उसी समय उसे 'चौपट' विशेषण से विभूषित किया था और उन्हीं के समकालीन 'अकबर गोरक्षा न्याय' नाटक के लेखक जगतनारायण ने उसे देश को नाश करने वाला बताया था।[2] वस्तुतः इस युग में ध्रुव, प्रह्लाद, मोरध्वज आदि के प्राचीन आदर्श चरित्रों के कथानकों के स्थान पर बहराम, महबूब, मुहब्बत, इश्क-मुश्फिक़, आशिक-माशूक की भरमार हो गई। इसी बढ़ती

---

१. दे० डा० सोमनाथ गुप्त कृत हि० ना० सा० इ०, पृ० ९।

२. दे० प्रतापनारायण मिश्र कृत 'संगीत शाकुन्तल' की भूमिका और जगतनारायण कृत 'अकबर गोरक्षा-न्याय' की प्रस्तावना।

हुई अश्लीलता के कारण नौटंकी को हमारे समाज में जो निन्दा और निरादर प्राप्त हुआ, इससे वह आज भी पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाई है ।

नौटंकी के परिष्कार के लिए जो प्रयत्न हुए, वे उल्लेखनीय हैं । ध्यान देने की बात है कि परिष्कार के ये प्रयत्न ग्रामों से ही आरम्भ हुए जहाँ आचरण की सभ्यता थोड़ी बहुत अवशिष्ट थी । इस नाट्य प्रकार के प्रमुख प्रवर्तक बुलंदशहर के उस्ताद इंदरमन छीपी थे । एक जनश्रुति के अनुसार यह प्रेरणा उन्हें अपने इष्टदेव से मिली हुई बताई जाती है । उनके शिष्य हाथरस के चिरंजीलाल छीपी ने अपने उस्ताद की परम्परा को आगे बढ़ाया । नौटंकी के इन दोनों आचार्यों ने धार्मिक लीलाओं का अपेक्षाकृत अधिक प्रचार किया । इन महानुभावों ने नौटंकी के रंगमंच और अभिनय-सम्बन्धी विधान को भी बहुत सरल रखा । उस्ताद चिरंजीलाल के शिष्य हाथरस के नत्थाराम शर्मा ने नौटंकी के सरल विधान में अनेक कृत्रिम उपकरणों का समावेश किया । उन्होंने अपने खेलों में बहुसंख्यक पात्रों की योजना आरम्भ की और आहार्य में भी जड़ाऊ और भड़कीले वस्त्रों तथा अलंकारों का सन्निवेश किया । रंगमंच भी उनकी प्रेरणा से अधिक सज्जित किया जाने लगा तथा अनेक प्रकार के वाद्ययंत्रों का भी प्रयोग होने लगा । नत्थाराम ने नौटंकी के विधान में जो परिवर्तन किए, वे सम्भवतः पारसी थियेटर के बढ़ते हुए प्रभाव से अभिभूत होकर ही । आज भी नौटंकी पर सिनेमा का प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है और एक बार फिर उसका मूलरूप संकटापन्न दिखाई देता है ।

नौटंकी के मूल साहित्यिक रूप के उद्धार का प्रयत्न भारतेन्दु जी ने किया । उनकी दृष्टि अपने रंगमंच के सब परम्पराओं पर गई थी । भारतेन्दु जी को अपने समय में चार प्रकार का रंगमंच मिला था—एक रामलीला का, दूसरा रासलीला का, तीसरा नौटंकी का और चौथा पारसी कम्पनियों का ।

धार्मिक प्रवृत्ति के लोग रामलीला और रासलीला के प्रेमी थे, लौकिक विषयों में रुचि रखने वाले विशेषतः अशिक्षित और ग्रामीण लोग नौटंकी के अनुरागी थे । पारसी कम्पनियों का उदय अंग्रेजी-शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ नगरों में हुआ था, अतः वहाँ की अधिकांश जनता पारसी रंगमंच द्वारा चमत्कृत थी । भारतेन्दु ने प्रत्येक प्रकार के रंगमंच पर खेली जाने वाली रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत कर दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रुचि निर्माण करने का प्रयत्न किया ।[1] रासलीला को भी उन्होंने साहित्यशास्त्र-विहित नाट्यकला के सब तत्वों से विभूषित कर 'चन्द्रावली' नाटिका के रूप में उपस्थित

१. दे० भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ७७० ।

किया। नौटंकी का समुन्नत रूप भी 'नीलदेवी' नाटिका में दिखाई पड़ा जिसे भारतेन्दु जी ने गीति-रूपक कहा है। नौटंकी को साहित्यिक रूप देने का इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण प्रयोग प्रतापनारायण मिश्र कृत 'संगीत शाकुन्तल' है। इसमें खड़ी बोली, अवधी और ब्रजभाषा तीनों का प्रयोग है। उच्चवर्ग के लोग खड़ीबोली का व्यवहार करते हैं, मध्यम अथवा निर्धन वर्ग के पात्र अवधी बोलते हैं और गीत ब्रजभाषा में है। इस नाटक की भाषा बड़ी चुस्त मुहावरेदार और प्रतिदिन के व्यवहार की बोली के निकट है। इस काल के कुछ अन्य लेखकों ने भी भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र का अनुसरण किया। हमारे आधुनिक नाटक-लेखकों ने इब्सन और मैटरलिंक आदि को हिन्दी में लाने की साधना तो की, पर भारतेन्दु युग के लेखकों के समान अपनी प्राचीन नाट्यपरम्परा की अन्तर्निहित शक्ति को परखने का कष्ट कभी स्वीकार नहीं किया।

वाद या चर्चा

सम्भवतः उपर्युक्त नाट्य-परम्परा से ही विनिर्मित पद्यात्मक नाटकीय संवादों की एक परम्परा भी मध्यकाल में बराबर चलती रही। नरहरि नाम के कवि ने नाटकीय संवादात्मक अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे, जैसे--'धन और विद्या कौ वाद' आदि। दुलारे कवि का लिखा हुआ 'सोने लोहे को झगरो' अथवा 'सोने लोहे की चरचा' नाम का ग्रन्थ भी मिलता है। इन 'वादों' या 'चरचाओं का वाग्-वैदग्ध तो सराहनीय है ही, कहीं-कहीं नाटकीय परिस्थितियों का उस समय की जनता की दृष्टि से बड़ा प्रभावशाली समावेश भी इनमें मिलता है। 'सोने-लोहे की चरचा' के अन्तर्गत सोने और लोहे का विवाद बड़ी कटुता के साथ आरम्भ होता है। सोना लोहे को अपना दास और हत्यारा कहता है, तो लोहा उसे स्त्रैण कहकर अपनी बहादुरी की डींग मारता है--'तुझे पहनकर लोग प्रेयसी के सेज पर जाते हैं और मैं खड्गवाही शूर-वीरों का आभरण हूँ।' सोने-लोहे का यह विवाद वर्षों तक चलता है। अन्त में स्वयं भगवान् विष्णु को गरुड़ पर चढ़कर मध्यस्थता के लिए आना पड़ता है। इस 'चरचा' के कुछ अंश नीचे दिए जा रहे हैं--

लिखी दुलारे की। अथ सौने लौह की चरचा—

चरचा सौने लौह को अरवी बड़ो चवाव।
नौका नौकी[1] दुहुँन की सो कवि बरनि बताव।

रेखता। जुवाब सौने कौ—

सौनौ जब कहै लौह चाकर मेरा।
मो सौ पर पार लगौ कुटम घनेरा।

× × ×

---

१. नोक-झोंक।

चाहे जो गम करे हमरे जोती ।
तेरी सुन लोह लागत केती ।

जुवाब लोहा कौ—

बोला जब लोह बात सुन लै सोनो ।
मोहिं देखि फेर लोह गाड़त कौने ।
तोह पहिर पावौं धरे सेज कौ ।
मोंह पहर सूर बीर करै तेग कौ ।
तुमसे हमने छुड़ाअ बहुतक लीन्हे ।
अपनै कर छोड़ बगस वो रन दीन्है ।
सूवा उमराव बांध लीन्हे ढेरी ।
सौनै तू करन चहै समसरि मेरी ।।

जुवाब सोने कौ—

सौने जब कोप बात लोह सो कहै ।
काकै तै हाथ सीस कौन के रहैं ।
हमही देख विसनु माल कंठ लसै हौं ।
छाति छाति कमला के हिवे बसै हौ ।
हमरौ पुनि सीस पैंच इन्द्र धरे है ।

जुवाब लोहे कौ—

संकर त्रिसूल इन्द्र वज्र सम्हारे ।
सनमुख संग्राम मार सहै हमारी ।
ताकौ ताजीम देत कृष्ण मुरारी ।

जुवाब सौने कौ—

षुरपी षुरपा कुदार कार काम के ।
आकुस गजनाल छुरी हौं लगाम के ।
जमघर तलवार तीर तुबक बनावे ।
मारे बन म्रगजीव घात लगावे ।

× × ×

ऐस संवाद कतिक बरसै बीती ।
मानै न फिर कोउ हारा जीती ।

उक्त पुस्तक की प्रति मैंने नागरी प्रचारिणी सभा में देखी थी । यह प्रति खण्डित है और लिपि भी बहुत अशुद्ध है । उसके अन्त में लिखा है—'ये ते श्री सौने लोहे की पोथी समपूरन समापात । मिति जेठ सुदी ।११। सं० (स्पष्ट नहीं)

१८०० या १९०० मुकाम दवारे ।।लेषी दुलारे।। की के जो कोउ बांचे सुने ताको राम राम। सीताराम राम महंत ।। कौ ब्रह्मन कौ दंडौत।

इन्हीं पद्यात्मक संवादों को भारतेन्दु जी ने गद्यरूप में पुनः प्रवर्तित किया था। इसी प्रकार के उनके दो नाटकीय संवाद 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में प्रकाशित हुए थे। एक था 'दो मित्रों का वार्तालाप' (कुलपालक और विश्वबंधु दो मित्रों का समागम)[1] जिसमें उर्दू लिपि की अस्वाभाविकता पर व्यंग्य था। दूसरा 'सबै जात गोपाल की'[2] जिसमें दक्षिणा प्राप्त करने के लिए शास्त्रों का अर्थ बिगाड़नेवाले पण्डितों का उपहास किया गया था।

सँपेरा

नौटंकी की ही श्रेणी का सँपेरा (अवध में सँफेड़ा) नामक लोक नाटक भी है जो अवध के ग्रामों में बहुत अधिक लोकप्रिय है—कदाचित् नौटंकी से भी अधिक। यह भी नौटंकी की ही तरह का एक गीतिरूप है, इसकी अभिनय व्यवस्था उसकी अपेक्षा अधिक सुकर है। यह प्रायः चारों ओर खुले हुए स्थानों में फर्श पर ही अभिनीत होता है। मंच बनाने के लिए किसी प्रकार के तख्त इत्यादि सामान्य आडम्बर भी अपेक्षित नहीं होते। कुल मिलाकर पाँच अभिनेता (अधिक से अधिक सात) ही, एक मण्डली बना लेते हैं, ये लोग 'सँपेरे' या 'सँफेड़े' कहलाते हैं। लखनऊ के निकटवर्ती जनपदों में 'सँपेरे' अधिकतर मुसलमान होते हैं। ढोलक सँपेरा का मुख्य वाद्य है, चिकारे और मँजीरे उसका साथ देते हैं। नए 'सँफेड़े' चिकारे के स्थान पर हारमोनियम का भी प्रयोग करने लगे हैं। ढोलक की थाप और चिकारों की मीड़ों के साथ अभिनेताओं के संगीतात्मक संवाद सुनकर ग्राम-प्रेक्षक झूम-झूम उठते हैं। सँपरे की संगीत शैली वही है जो नौटंकी की, छंद विधान भी लगभग वैसा ही है। नौटंकी और सँपेरा दोनों ही संगीत-प्रधान रचनाएँ हैं, दोनों के कथोपकथन गीत-प्रधान होते हैं और दोनों में ही नृत्य का प्रयोग संवादों के पूरक के रूप में होता है।

यद्यपि नौटंकी और सँपेरे में रूपसाम्य है, तथापि वस्तु-विधान की दृष्टि से दोनों में बहुत अन्तर है। नौटंकी की कथावस्तु में बड़ी विविधता होती है, उसके कथानक पौराणिक, प्रेमकथानक, ऐतिहासिक, लोककथात्मक एवं सामयिक सभी प्रकार के होते हैं। किन्तु सँपेरा की एक ही सुनिश्चित कथावस्तु है, सब सँपेरे या सँफेड़े उसका अभिनय करते हैं। इसका कथानक आदिम मानव जाति के अति प्राचीन विश्वासों और मान्यताओं के आधार पर संगठित हुआ है। यद्यपि सँपेरा

१. हरिश्चन्द्र मैगजीन, १५ अक्टूबर १८७३ ई०।

२. वही, १५ नवम्बर १८७३ ई०।

में कथा-विस्तार का अभाव है, किन्तु उसके छोटे से कथानक में आश्चर्य-प्रयोग एवं संघर्ष के अनेक हृदयाकर्षक तत्व मिलते हैं। प्रचुर संगीत और नृत्य के साथ इसका अभिनय अर्धरात्रि से सूर्योदय के बाद तक चलता रहता है। सँपेरे का कथानक छोटा ही है। कामरूप देश जादू टोने की प्रसिद्ध राजधानी है। वहाँ नागर नाम का एक बड़ा सँपेरा रहता है, जो बड़े-बड़े विषधर सर्पों को वशीभूत करने की शक्ति रखता है। एक सौदागर उसे 'मंतरगढ़' (बंगाल) में रहनेवाली मोती नामक जादू-टोने में निष्णात आजानुविलम्बित केशोंवाली सुन्दरी का पता बताता है—

बंगाल से दूर है मंतरगढ़ इक देश।
मोती है ताही नगर जाके लंबे केश॥

मोती के सौन्दर्य का वृत्त सुनकर नागर के हृदय में श्रवणजन्य पूर्वराग का समुद्र लहराने लगता है। वह योगी का वेश धारण कर मोती को प्राप्त करने के लिए मंतरगढ़ के किए अभियान करता है। नागर की पतिव्रता पत्नी सुन्दर उसे बहुत रोकती है, पर उसका अनुनय-विनय एवं अनुरोध सब कुछ व्यर्थ हो जाता है—

आँखों से अपने तुम्हें नहिं करता हूँ दूर।
दिल वश में मेरे नहीं इससे हूँ मजबूर॥
हूँ इससे मजबूर करूँ जो दिल वश में नहिं पाता।
लाख चैन से छोड़ के तुमको बंगाले नहिं जाता॥
जाता हूँ मोती को लेने देवनदी के पारा।
गुरुगोविन्द तुही है मेरा पार लगावनहारा॥

नागर मंतरगढ़ पहुँच कर जादू-टोने की रानी मोती के प्रासाद में प्रविष्ट होता है। पहले मोती से उसका वाग्युद्ध होता है, फिर दोनों में जादू की लड़ाई ठनती है। मोती नागर पर विषधर सर्प छोड़ती है, नागर उसे मंत्र के बल से वशीभूत कर लेता है, किन्तु अन्त में नागर की पराजय होती है और मोती अपने मंत्र बल से उसे मारकर धरती पर सुला देती है। नागर पर आये हुए मृत्यु संकट का आभास उसकी पतिव्रता पत्नी सुन्दर को स्वप्न में मिलता है। जादू-टोने और अभिचार के ज्ञान में सुन्दर किसी से कम नहीं है। वस्तुतः वह जादू की महासाम्राज्ञी है, वह सूखी नदियों में नाव चला सकती है, आसमान के तारे तोड़कर ला सकती है, मनुष्यों को पशु-पक्षी बनाने की सामर्थ्य रखती है एवं मुर्दों को जिला देना उसके लिए बाएँ हाथ का खेल है—

सुन्दर मेरा नाम है कहते लोग जहान।
देश कामरू में रहूँ जहँ जादू की खान॥

जहँ जादू की खान नदी में सूखी नाव चलाऊँ।
जादू बल से तारे उड़ाकर आसमान से लाऊँ।।
और गुरु गोविंद की दाया से मुर्दा को भी जिलाऊँ।
आदम को चिड़िया कर डालूँ चाहे जौन बनाऊँ।।

अतएव पतिप्राणा सुन्दर नागर को खोजती हुई मंतरगढ़ पहुँचती है और अपनी मंत्र-शक्ति से पतिहंत्री मोती को मार गिराती है। तत्पश्चात् वह अपने पातिव्रत एवं जादू-टोने की सम्मिलित शक्ति से मृत नागर को जिला देती है। नागर के आग्रह से उसे मोती को भी जिला देना पड़ता है। सुन्दर की अनुमति से नागर मोती को अपनी पत्नी बना लेता है और दोनों के साथ सुख से कामरूप में निवास करता है। इस प्रकार दुःख, कष्ट और मृत्यु की यह दारुण कथा सुखपर्यवसायी बन जाती है।

यह कथानक इस देश की किन्हीं वन्य जातियों की आदिम प्रवृत्तियों के संदर्भ की कथा पर आधारित प्रतीत होता है। लोक-नाट्य के रूप में भी यह बहुत प्राचीन प्रतीत होता है। सम्भव है, जादू-टोने में विश्वास रखने वाली सर्प-पूजक आदिम जाति के किसी प्राचीन नृत्त-रूप से उसका उद्‌भव हुआ हो। इसमें नृत्त के मसृण और उद्धत दोनों रूपों के अवशेष मिले-जुले पाये जाते हैं। विद्वानों[1] का अनुमान है कि नाट्य के विकास की पहली अवस्था में उसमें केवल एक अंक और एक ही अभिनेता था। उसके विकास की दूसरी अवस्था में अभिनेता अनेक हो गए, पर अंक एक ही रहा। इसीलिए श्री डी० आर० माकड़ 'भाणी' को प्राचीनतम नाट्य रूप मानते हैं। उनका कहना है कि सब प्रकार के रूपक 'भाण' से आविर्भूत हुए और सब उपरूपक 'भाणी' से। सँपेरा भी 'भाणी' का कोई एक विकसित रूप हो सकता है। सम्भव है प्रारम्भ में इसमें एक ही पात्र हो, जो आकाशभाषित शैली में अपना वृत्त प्रस्तुत करता हो। कालांतर में उसमें अन्य पात्रों का भी समावेश हो गया होगा। समय-समय पर उसके बाह्य रूप में अवश्य परिवर्तन होते रहे होंगे, पर इसका जादू-टोने वाला मूल आभ्यंतर तत्व अब तक सुरक्षित है। सँपेरा का नवीन रूप 'नागर-सभा' कहलाता है। मेरा अनुमान है अमानत के 'इंदर सभा' के प्रभाव से यह रूपान्तर घटित हुआ है। प्राचीन नृत्त-रूपों का ही एक अवशेष अवध का 'लिल्ली घोड़ी' का नाच है। जनश्रुति है कि अवध के बादशाहों को यह बहुत प्रिय था।

बहुरूपिया

इसी प्रसंग में बहुरूपिया का उल्लेख भी आवश्यक है। नाम से ही प्रकट है

१. दे० डी० आर० माकड़ कृत 'टाइम्स आफ संस्कृत ड्रामा', पृ० १६४-१६५।

कि बहुरूपिया वह अभिनेता है जो अकेले ही अपने ऊपर अनेक पात्रों का आरोप करता है और इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लोगों का मनोरंजन करता है। मध्यकाल में बहुरूपियों का व्यवसाय बड़ा समृद्ध था, जनता में भी वे लोकप्रिय थे और शाही दरबारों में भी उनकी कला को संरक्षण प्राप्त था। बरकतउल्ला ने १७वीं शती में लिखित अपने 'प्रेम प्रकाश' नामक ग्रन्थ में बहुरूपियों की कला का विवरण दिया है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिए कि बहुरूपियों की कला का विकास मध्ययुग में ही हुआ। वस्तुतः यह हमारे देश की अति प्राचीन कला है। एक ही मनुष्य के अनेक रूप धारण करने की कला से ही विभिन्न नाट्य-रूपों का विकास हुआ होगा, यह विश्वास धीरे-धीरे मान्य होता जा रहा है।

इस तर्क-सरणि का अवलम्बन कर 'भाण' तथा 'भाणी' को प्राचीनतम नाट्यरूप माना गया है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय के चतुर्थ अनुवाक् में 'विश्वरूप' शब्द आया है—'विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्चवो नमो नमो–रथिभ्यो रथेभ्यश्चवो नमो नमो नमस्तसभ्यो रथकारेभ्यश्चवो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारभ्यश्चवो नमोनमः पुंजिष्टभ्यो निषादभ्यश्चवो नमोनमः।' इस अनुवाक् में जितने शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे सबके सब सामान्य नामबोधक हैं, इसलिए 'विश्वरूप' शब्द भी सामान्य नामवाचक ही होना चाहिए। इसलिए कुछ विद्वानों का अनुमान है कि आज का बहुरूपिया ही वैदिक काल में कदाचित् विश्वरूप कहा जाता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी पुरुषमेध-प्रसंग में 'शैलूष' और 'वंशनर्ती' शब्द साथ-साथ आए हैं। 'वंशनर्ती' का अर्थ है कुलपरम्परागत नर्तक। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक वाङ्मय में 'शैलूष' का अर्थ है नट अथवा अभिनेता। बहुत सम्भव है तैत्तिरीय ब्राह्मण के शैलूष और यजुर्वेद संहिता के विश्वरूप दोनों का प्रयोग एक ही अर्थ में होता रहा हो।[1]

मध्यकाल की हमारी नाट्यपरम्परा दरबारों के प्रभाव से सर्वथा असंपृक्त और मुक्त रहकर फली-फूली थी। वह सर्वसाधारण जनता की अपनी वस्तु थी। दरबारों से सम्बन्ध रखने वाले उच्च वर्ग के नागरिक उससे मनोरंजन प्राप्त करने में अपनी हेठी समझते होंगे। वे ऐसे लोक नाटकों की रंजकता की कमी की पूर्ति साहित्यिक गोष्ठियों और सम्मेलनों द्वारा करते थे। राज-दरबारों में इस तरह के सम्मेलन कभी-कभी हुआ करते थे। आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने नवम्बर १९४३ की 'सरस्वती' में अपने सूरति मिश्र नामक निबंध में लिखा था कि—'संवत् १८७४ के एकाध वर्ष इधर-उधर आगरे में कवि-समाज एकत्र

---

१. दे० कु० गोदावरी वासुदेव केतकर कृत मराठी प्रबन्ध 'भारतीय नाट्यशास्त्र', पृ० २२४।

हुआ था। उसमें साहित्य के कई मर्मज्ञों ने योग दिया था।' मुहम्मदशाह के समय में जब सूरति मिश्र और प्रवीन कवि थे, तब ऐसा सम्मेलन हुआ था। ऐसे समाज राजधानियों में होते ही रहते होंगे, यह अनुमान किया जा सकता है। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखने की है कि इस काल में ऐसा साहित्य भी प्रचुरता से लिखा गया, जिसका बहिरंग तो प्रबंध-काव्य अथवा मुक्तक का है, पर जिसमें दृश्यकाव्य के अनेक आभ्यंतर तत्व उपलब्ध होते हैं। केशव की 'रामचंद्रिका' के संवाद इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। लोकधर्मी नाट्यपरम्परा से दूर रहने वाले लोग इनसे भी नाटकों की रंजकता के अभाव की पूर्ति करते थे।

लोकधर्मी नाट्य-परम्परा की जिस धार्मिक शाखा का उल्लेख किया गया है, उसमें होने वाले नाट्यप्रयोग लीला नाम से अभिहित हुए हैं। यद्यपि लीला और नाटक दोनों ही दृश्य काव्य हैं, पर उनमें कुछ तात्विक अन्तर भी है। लीला केवल भगवत् सम्बन्धी ही होती है और नाटक का सम्बन्ध जीवन के लौकिक पक्ष से होता है। लीला का उद्देश्य है तात्कालिक आनन्द के साथ-साथ दूसरे समय में भी वैसा ही चिन्तन करके भगवत्स्वरूप में तन्मय होना और नाटक का उद्देश्य है मनोरंजन के साथ-साथ लोक-संग्रह। तात्पर्य यह है कि लीला दर्शन, ध्यान और चिन्तन की वस्तु है और नाटक प्रेक्षण तथा ग्रहण की। लीला अन्तःकरण को भगवदाकार बनाती है और नाटक व्यक्ति का चरित्र-निर्माण कर सकते हैं तथा समाज को एक निश्चित दिशा में ले जा सकते हैं। लीला भक्तियोग की सहायक है, वह एक प्रकार का भावयोग है और नाटक कर्मयोग का एक साधन है। लीला स्वान्तः सुखाय होती है और नाटक के मूल में सामाजिक उपयोगिता की भावना रहती है।

इस प्रकार की लीलाओं को राम और कृष्ण के भेद से रामलीला और रासलीला कहा जाता है जिनमें से रासलीला के विषय में आगे कहा जायेगा। वस्तुतः रास लीला भक्तजनों की आध्यात्मिक पिपासा शान्त करने के लिए ब्रह्मानन्द-रूप रस प्रदान करती है। यह अत्यन्त संसारपरायण व्यक्ति की वृत्तियों को भी अन्तर्मुखी[1] बना सकती है। ब्रज के सुप्रसिद्ध रासधारी श्री बिहारीलाल के पुत्र राधाकृष्ण लिखित 'रास-सर्वस्व' ग्रन्थ के अनुसार घमंड-देव जी ने रास के प्रयोजन का निरूपण इस प्रकार किया है—

१. विषयविदूषितचित्तानामनेकोद्योगबुद्धीनामन्तः करणानि भगवद्विषयकानुकरणदर्शनेन शुद्धानि भवन्तीति प्रथमं प्रयोजनम्।

---

१. तु० क०—'अतिविषयिणाः श्रृङ्गाररसाक्रष्णानामपि स्वाभिमुखीकर्तुं तादृशी लीलाश्चकार।'

२. स्त्रीशूद्राणाप्यनायासेन पुरुषार्थचतुष्टयं भवत्विति द्वितीयं प्रयोजनम् ।
३. अनेकसाधनैर्योगादिभिर्भगवद्दर्शनार्थयतमानानापि दुर्लभं सुखं सुलभंभवत्विति सुलभंभवत्विति तृतीयं प्रयोजनम् ।
४. युगहेतुकविपरीतकालेनजातानां रासतासमबुद्धीनां सात्विकबुद्धिजननं चतुर्थ प्रयोजनम् ।
५. स्वतः शुद्धैरपि व्रजवासिभिरेव स्वभरणं त्रैलोक्यपवित्रंचैतद्वारेणसंपादनीयमिति पंचमं प्रयोजनम् ।

अर्थात् इसका पहला प्रयोजन यह है कि जिन लोगों के चित्त विषयों से दूषित हो गये हैं और जिनकी बुद्धि अनेक उद्योगों में फँसी हुई है, उनके अन्तःकरण भगवद्विषयक अनुकरण के दर्शन द्वारा शुद्ध हो जाते हैं ।

इसका दूसरा प्रयोजन यह है कि स्त्रियों और शूद्रों को भी अनायास ही चारों पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं ।

तीसरा प्रयोजन यह है कि जो लोग योग आदि अनेक साधनों द्वारा भगवद्दर्शन के लिए प्रयत्न करते हैं, उनके लिए भी दुर्लभ सुख सुलभ हो जाता है ।

चौथा प्रयोजन यह है कि कलियुग के परिणामस्वरूप विपरीत परिस्थिति में उत्पन्न होने वाले तथा राजस-तामस बुद्धि वाले जनों में सात्विक बुद्धि उत्पन्न हो जाती है ।

पाँचवाँ प्रयोजन यह है कि व्रजवासी लोग स्वयं शुद्ध होने पर भी इसके त्रैलोक्य पवित्र स्वभरण-जीवन या आजीविका प्राप्त करते हैं ।

रासलीला के ये परम उदात्त और उच्च प्रयोजन जिस सौकार्य के साथ सिद्ध होते हैं, उसका श्रेय इसके रंगमंच और अभिनय की उस व्यवस्था को है जिसमें कृत्रिम उपकरणों पर निर्भर रहने की आवश्यकता बिलकुल नहीं होती । रासलीला का रंगमंच जटिलता से रहित और सादा होता है और बहुत थोड़े पात्रों से सब काम निकाल लिया जाता है । रास के उद्भव और विकास का श्रेय ब्रजभूमि विशेषतया वृन्दावन को दिया जाता है और वहाँ रास देवमन्दिरों में होता है, वास्तव में वे ही उसके लिए उपयुक्त स्थान हैं । वैसे वह अन्य सार्वजनिक स्थानों और भावुकजनों के घरों में भी होता है । मन्दिर के प्रांगण में अथवा रास के लिए निर्धारित स्थान में प्रायः बीस-बाईस फीट लम्बी और अठारह-बीस फीट चौड़ी जगह रास के लिए छोड़ दी जाती है जिसके तीनों ओर दर्शकों के बैठने के लिए स्थान रहता है, इसे रासमण्डल कहते हैं । उसी के एक सिरे या बीच में एक चौकी रखकर उस पर सिंहासन स्थापित किया जाता है । सिंहासन के आगे एक नीले, हरे अथवा अन्य किसी रंग का पर्दा डाल दिया जाता है जो

छल्लों के सहारे एक रस्सी से बँधा रहता है, जिससे वह यथावसर सरकाया जा सके। कभी-कभी ऐसा नहीं भी होता और उसके स्थान पर दो व्यक्ति एक चादर तानकर खड़े हो जाते हैं। सिंहासन के ठीक सामने रासमण्डल के दूसरे छोर पर समाजी बैठते हैं। सबसे पहले 'समाजी' मंगलाचरण प्रारम्भ कराते हैं। मंगलाचरण में सूर का 'चरण कमल बन्दौं हरि राई' और इसी प्रकार के सन्तों के अन्य पद तथा श्रीमद्भागवत आदि के मनोहर श्लोकों का गायन होता है। शास्त्र की आज्ञा तो यह है कि रासलीला का आरम्भ होने के प्रथम अनुष्ठान की एक निश्चित विधि का पालन किया जाय। यह विधि वृहत् गोमती तन्त्र, रासोल्लास तंत्र, राधा तंत्र तथा रहस्य पुराण आदि ग्रन्थों में दी गई है। निर्धारित मन्त्रों से आचमन, प्राणायाम विनियोग, न्यास और ध्यान के बाद वृन्दा देवी, यमुना, चन्द्रमा आदि का रास के लिए आवाहन किया जाय, फिर राधाकृष्ण के स्वरूपों की रास-स्थल में प्रतिष्ठा की जाय और उनका अनेक उपचारों से पूजन हो।[१] यह कर्मकाण्ड साहित्यिक नाटकों के महेन्द्रध्वज-स्थापन और नान्दी आदि से मिलता है। पर जिस प्रकार आजकल नाटकों में उसके पूर्व-रंग का लोप हो गया है, उसी प्रकार रासलीला में भी इस विधि का पालन होना, प्रायः कहीं नहीं दिखाई देता है। कोई-कोई रासधारी, सब नहीं, घट-स्थापन तो कर लेते हैं, पर तुरन्त ही मंगलाचरण प्रारम्भ हो जाता है और उक्त कर्मकाण्ड छोड़ दिया जाता है।

इधर मंगलाचरण चलता रहता है और परदे के पीछे सखीस्वरूप[२]-गोपवधुएँ, आकर सिंहासन के नीचे चौकी पर अपना स्थान ग्रहण कर लेते हैं। पश्चात् राधा और कृष्ण पधारते हैं और सिंहासन पर समासीन होते हैं। सखी-स्वरूप राधा और कृष्ण के पधारने की सूचना 'जय हो' 'बलिहार' आदि घोषों से देते हैं। परदा हटा दिया जाता है और वंशी बजाते हुए कृष्ण तथा राधा की संयुक्त छवि की एक मनोहर झाँकी दर्शकों को मिलती है। फिर आरती होती है, सखियों में से ही एक आरती करती है और अन्य आरती कुंज-बिहारी श्री····आदि पद गाती हुई नृत्य करती हैं। आरती के बाद परदा फिर डाल दिया जाता है। सखियाँ परदे के पीछे कृष्ण के पास जाती हैं और ताम्बूल आदि से सत्कृत होकर लौट आती हैं। परदा फिर हटा लिया जाता है, पुनः एकासन समासीन राधाकृष्ण की

---

१. दे० 'रास-सर्वस्व' ग्रन्थ की पंचम निधि।

२. रास में अभिनेताओं के लिए बड़े आदरपूर्वक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, सखियों के लिए 'सखी-स्वरूप' और श्रीराधा के लिए 'स्वामिनी स्वरूप' शब्द का प्रयोग होता है।

झाँकी दिखाई देती है। अब सब सखियाँ उन्हें नृत्य और गीत के अनेक प्रकार के उपक्रमों द्वारा प्रसन्न करने का प्रयास करती हैं। अपना नृत्य-गीत समाप्त करके वे यथास्थान रास-मण्डल में बैठ जाती हैं। तब उनमें से एक उठकर कृष्ण से ऋतु की मनोहरता, शरद-रात्रि की स्निग्ध-शीतलता तथा यमुना-तट और निकटस्थ कुंजों की शोभा का प्रभावशाली वर्णन करती हुई एक संस्कृत के श्लोक में उनसे रासोत्सव में पधारने की प्रार्थना करती है। उस श्लोक का अन्तिम चरण रहता है—'रासोत्सवे गम्यताम्' जिसे अन्य सब 'सखी-स्वरूप' भी एक स्वर से दुहराते हैं। 'प्रार्थिनी सखी' इसका आशय ब्रजभाषा गद्य में भी निवेदन करती है। यह प्रार्थना सुनकर श्रीकृष्ण श्रीराधा से रासोत्सव में पधारने का सविनय अनुरोध करते हैं। राधा की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर युगल स्वरूप रास-मण्डल में उतरते हैं। श्रीकृष्ण वंशी के कुछ स्वर छेड़कर रास के आरम्भ का संकेत करते हैं।

यह नित्य रास कहा जाता है। पहले यह रास हो लेता है, तब कोई अन्य लीला होती है। रास और लीला का यह संयोग 'रासलीला' का अनुल्लंघनीय विधान है और सम्भवतः वही इसके नामकरण का भी कारण है। कभी-कभी महारास भी होता है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवत् की रासपंचाध्यायी में है और जो शरद् पूर्णिमा को यमुना, पुलिन पर सम्पन्न हुआ माना जाता है। इस महा-रास के आरम्भ के पूर्व 'समाजी', सूर और नन्ददास आदि के इस प्रसंग के प्रास्ताविक एवं अवसरोपयुक्त पद गा-गाकर शरद् के पूर्ण चन्द्र की पीयूषस्निग्ध ज्योत्स्ना में यमुना-तटवर्ती कदम्बकुंज में वंशीवादन-निरत कृष्ण की कल्पना प्रेक्षकों के मन में जगा देते हैं। उसी समय मधुर स्वर से वंशीवादन करते हुए कृष्ण रंगभूमि (रास-मण्डल) में पधारते हैं। उनकी वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ अपने घरों को छोड़, पिता, पुत्र, पति सबकी अवहेलना कर श्रीकृष्ण से मिलने के लिए दौड़ पड़ती हैं। पर श्रीकृष्ण अर्द्धरात्रि में इस प्रकार समाज और धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने के लिए उनकी तीव्र भर्त्सना करते हैं। कृष्ण के कठोर वचन उन्हें मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाते हैं और फिर उनका तथा गोपियों का बड़ा विदग्ध प्रश्नोत्तर चलता है। कृष्ण उन्हें सामाजिक सदाचार का आदर्श बतलाते हैं और उस पर दृढ़ रहने की शिक्षा देते हैं, पर गोपियाँ प्रेम और भक्ति में सर्वस्व समर्पण को ही सदाचरण की चरम परिणति मानती हैं और कृष्ण को निरुत्तर कर देती हैं। उनके अनन्य निष्काम प्रेम को देखकर अन्ततः श्रीकृष्ण उनके साथ महारास में प्रवृत्त होते हैं। पूर्व-वर्णित नृत्य गीतादि के विविध प्रयोग इस अवसर पर अत्यधिक तीव्रता, व्यापकता और उत्कर्ष प्राप्त करते हैं। कृष्ण अपनी योगमाया के बल से अनेक रूप धारण करते हैं और मण्डल नृत्य प्रारम्भ

होता है जिससे दो-दो गोपियों के बीच में कृष्ण रहते हैं।[1] नृत्य के साथ-साथ समाजियों के द्वारा गाये जाने वाले नन्ददास और सूर आदि के रास-लीला के पदों की शक्ति से, हम यह अनुभव करते चलते हैं कि इस समय देवता यह लोकोत्तर दृश्य देखने के लिए अपने विमानों पर आकाश में विराजमान हैं, जिनमें ब्रह्मा और शिव भी हैं। वे हर्षित होकर पुनः पुनः पुष्पवर्षण कर रहे हैं। दर्शक प्रसन्न हो पुष्पवर्षा करते भी हैं। स्वर और ताल, संगीत एवं नृत्य के इस सामंजस्य में चरों को अचर और अचरों को चर बना दिया है, यमुना का प्रवाह रुक गया है, पवन स्तम्भित है, चन्द्रमा और नक्षत्रों की गति मारी गई है। इसी बीच अपने रूप का अभिमानी काम रास-मण्डल में आता है, परन्तु श्रीकृष्ण के रूप को देखकर मूच्छित हो जाता है और रति उसे उसी अवस्था में उठा ले जाती है। यह प्रसंग—'मन्मथ-मथन-लीला' के नाम से प्रसिद्ध है।

कुछ समय तक रास चलने के उपरान्त भक्तवत्सल श्रीकृष्ण द्वारा अनेक प्रकार की सेवायें और परिचर्या प्राप्त कर गोपियों को गर्व हो जाता है। कृष्ण यह जानकर तत्काल राधा के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। इधर गोपियाँ उनके विरह में विलाप करती रह जाती हैं और उधर कृष्ण राधा के साथ एकान्त वन-विहार करते हैं। राधा के मन में अहंकार प्रवेश करता है और वे अत्यधिक श्रान्ति-क्लान्ति के कारण चलने में असमर्थता प्रकट करती हुई, कृष्ण के कन्धों पर आरूढ़ होने का आग्रह करती हैं। श्रीकृष्ण प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु ज्योंही श्रीराधा उनके कन्धों पर बैठने का उपक्रम करती हैं, वैसे ही वे 'आओ', कन्धों पर बैठ जाओ' कहते हुए एक मंद स्मिति का आलोक बिखेर कर अन्तर्धान

---

१. इस अवसर पर समाजी प्रायः अधोलिखित तथा ऐसे ही अन्य पद गा-गाकर दृश्य की अनुभूति तीव्र करते रहते हैं—

राधयो राधयोर्मध्यतो माधवो माधवो माधवो मण्डले मण्डले।
हेम कल्पलता गोपी बाहुभिः कण्ठमालया।
तमालश्यामलः कृष्णो घूर्णिते रासलीलया॥

× × ×

अंगना मंगना मंतरे माधवो माधवं माधवं चान्तरणागंना।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगः संजगौ वेणुना देवकीनन्दनः॥

× × ×

मानों माई घन घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनि दामिनि घन-अन्तर सरद सुहाई जामिनि॥

हो जाते हैं[1] और श्रीराधा रोती हुई अकेली विलाप करती रह जाती हैं। इसी समय श्रीराधा और श्रीकृष्ण को खोजता और विलाप करता हुआ गोपियों का समूह भी वहाँ पहुँचता है। दुःखिनी राधा को लेकर तरु, तृण, लता-गुल्म तक से कृष्ण का पता पूछती हुई गोपियाँ यमुना तट पर आती हैं। वहाँ से श्रीकृष्ण के नामरूप का स्मरण और चिन्तन करती हैं तथा उनकी लीलाओं का अभिनय करके अपनी व्यथा शान्त करने का प्रयत्न करती हैं। फिर भी श्रीकृष्ण नहीं आते, तो वे मूर्च्छित होकर गिर जाती हैं। अब कृष्ण लौटते हैं तो गोपियों की भी संज्ञा लौटती है। श्रीकृष्ण गोपियों के प्रति उनके अनन्य प्रेम के लिए आभार प्रकट करते हैं और उनके साथ पुनः रास में प्रवृत्त होते हैं। पूर्ववत् मंडल नृत्य होता है, पर इस महारास का अनुष्ठान श्रीकृष्ण और गोपियों के अनेकानेक स्वरूप मिलकर पूर्ण करते हैं। अतएव इसका आयोजन कई-कई रासमण्डलियाँ मिलकर करती हैं और तभी कृष्ण के अनेक स्वरूपों और बहुसंख्यक गोपियों की आवश्यकता की पूर्ति हो पाती है। जिस दिन रास होता है, उस दिन अन्य कोई लीला नहीं होती, पर नित्यरास के बाद कोई न कोई लीला अवश्य होती है।

लीला में भगवान् कृष्ण के जीवन का कोई एक प्रसंग लेकर उसका अभिनय किया जाता है। प्रायः विशुद्ध ब्रजलीलाओं का ही अभिनय होता है। ब्रजलीलाओं से तात्पर्य है, कृष्ण के जन्म से लगाकर मथुरा प्रवास तक की लीलायें। कट्टर सिद्धान्तानुयायी वृन्दावन के रासाधारी मथुरा की लीलाएँ अभिनीत नहीं करते। मथुरा प्रवास सम्बन्धी केवल एक उद्धव लीला ही प्रायः होती है। कुछ रासधारी मथुरा-प्रवास की 'कंस वध' आदि लीलाओं का अभिनय भी आदेश पाने पर कर देते हैं, पर उनमें रास-रसिकों तथा अच्छे रासधारियों की रुचि भी प्रायः कम ही पाई जाती है। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि जिन सन्तों और महात्माओं द्वारा लीलाभिनय के इस स्वरूप का विकास हुआ, उनकी दृष्टि विशुद्ध आध्यात्मिक थी और वे इसे अपनी भक्ति-साधना का एक अनिवार्य अंग मानते थे। अतः इस परम्परा में कृष्ण के ब्रज-जीवन से सम्बन्धित माधुर्य भाव की लीलाएँ ही अधिक ग्रहण की गईं। इन लीलाओं का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही

---

१. प्रायः इस अवसर पर 'समाजी' समवेत स्वर से श्रीमद्भागवत के अधोलिखित श्लोक का पाठ करते हैं—

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति।
ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत॥

—श्रीमद्भागवत १० स्कन्ध

है, पर अभिनय में सूर और नन्ददास जैसे कवियों की वाणी का ही व्यापक उपयोग होता रहा है। आगे चलकर इसके लीलाभिनय से प्रेरणा ग्रहण कर एक विशेष प्रकार के लीला-साहित्य का निर्माण हुआ, उपरूपकों में से कुछ के लक्षण उसमें अनेक रूपों में विद्यमान हैं।

लीला कोई हो, उसके अभिनय में लगभग तीन घण्टे का समय लगता है और अधिक से अधिक छः सात अभिनेताओं से ही सब काम निकाल लिया जाता है। प्रायः चार 'सखी-स्वरूप' रहते हैं (कुछ रास मण्डलियों में तो मुझे तीन ही मिले) और 'स्वामिनी-स्वरूप' (राधा) तथा 'प्रभु-स्वरूप' (कृष्ण) के लिए दो अन्य अभिनेता अपेक्षित होते हैं। इसी प्रकार एक दो 'सखा स्वरूपों' की भी आवश्यकता पड़ती है। प्रायः देखा गया है कि यदि किसी लीला में अधिक पात्रों की आवश्यकता होती है तो सखियों का अभिनय करने वाले ही यथावकाश दुहरी-तिहरी भूमिका सम्हाल लेते हैं। यदि नन्द-यशोदा जैसे कुछ वयोवृद्ध 'स्वरूपों' की आवश्यकता हुई तो समाजियों में से कुछ लोग वह काम चला लेते हैं।

अलग-अलग पात्रों के अलग-अलग वेष होते हैं। कृष्ण कई रंग वाला एक लम्बा वस्त्र पहनते हैं, जिसे कटि-काछनी कहा जाता है और उस पर पटुका बँधा रहता है। पीठ पर लम्बी कृत्रिम चोटी लहराती रहती है। गोपियों का वेष सामान्यतः राधा के समान ही रहता है, केवल उनके मस्तक पर चन्द्रिका और वन्दनी नहीं रहती, उसके स्थान पर भृकुटि रहती है। नन्द एक वृद्ध के वेश में रहते हैं।

नितान्त सादे और छोटे रंगमंच पर कम से कम पात्रों से बिना उपयुक्त आहार्य और दृश्य-दृश्यान्तर-विधान की सुविधा के चरम आध्यात्मिक रस-निष्पत्ति का यह प्रयास सफलतापूर्वक सम्पन्न होता है।[1] लेखक ने स्वयं उद्धव-लीला के अवसर पर हजारों दर्शकों को जिनमें अच्छे विद्वान् और ऊँची अवस्था के सन्त थे, करुणाविगलित होकर निरन्तर अश्रुपात करते देखा है।[2] इस सफलता का मूल कारण लीलाओं की सरस कथावस्तु और उसका सरसतर नाटकीय विन्यास है। यद्यपि इनका कथानक छोटा होता है, पर इनमें कार्य की अवस्थाएँ–प्रारम्भ, प्राप्त्याशा और फलागम में नियताप्ति का समावेश रहता है। इनमें मुख और निर्वहण सन्धि की योजना विशेष रूप से बड़ी रमणीय और विचित्र होती है,

---

१. तु० क० दिनेशचन्द्र लिखित 'हिस्ट्री ऑफ बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर', पृ० ७३३।

२. तु० क० वैशाख कृष्ण मंगलवार को कलकत्ता के लोकमान्य में रास के सम्बन्ध में रमेशचन्द्र त्रिपाठी का लेख, कल्याण का वेदान्तांक, भाग ११, १९९३ वि०, दिव्यमूर्तियों का साक्षात्कार।

इसलिए आरम्भ और उपसंहार दोनों बड़े चमत्कारी होते हैं। बीच-बीच में कितने ही सुन्दर संध्यंगों का स्फुरण स्वतः होता चलता है। कैशिकी की तो ये लीलायें कोष ही हैं और नर्म आदि विविध अंगों का ऐसा उन्मेष तो अनेक प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों में भी उपलब्ध नहीं होता।

इन लीलाओं के कथानकों की सरलता बहुत कुछ इनके कथोपकथनों पर अवलंबित है, जो गद्यात्मक और पद्यात्मक दोनों प्रकार के होते हैं। इन कथोपकथनों में श्रीमद्भागवत के श्लोकों तथा भक्त कवियों के पदों का भी प्रयोग होता है, पर पात्र प्रायः उनका आशय ब्रजभाषा में समझा देते हैं। श्लोकों और पद्यों के अतिरिक्त वार्तालाप में विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग होता है। जिसे ब्रजभाषा की विश्वविश्रुत नैसर्गिक माधुरी का आस्वादन करना हो, उसे रासलीला अवश्य देखनी चाहिए। कभी-कभी लीला के उपोद्घात अथवा उपसंहार में किसी व्याज से लीला का आध्यात्मिक रहस्य एवं कृष्ण भक्ति का महत्व तथा तत्व भी कोई न कोई पात्र अवश्य समझा देता है। लीला कभी दुःखान्त नहीं होती और न ही अन्त में कोई जवनिका ही गिरती है। अत्यन्त करुण एवं साद्यन्त वियोग-प्रधान उद्धव-लीला (भ्रमरगीत-प्रसंग) भी अन्त में संयोगात्मक ही दिखाई जाती है। जब गोपियों को समझाते-समझाते उद्धव के ज्ञान का गर्व-खर्व हो जाता है और राधा देवी की परम प्रेममयी मूर्ति देखकर वे संकोच में पड़ जाते हैं, तभी उनके अज्ञान और भ्रम को दूर करने वाली एक बड़ी विचित्र घटना घटित होती है। प्रवाल से भी अधिक सुकुमार चित्त वाले मोहन गो-चारण करके वन के अन्तराल से आते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनके केशपाश गोरज के कारण कर्बुर हो गये हैं और वे अपने मुख की अशेष मृदुता और शोभा को वंशी-ध्वनि में ढालते हुए से 'नटनायक' की विकट लटक और गति से उस स्थान पर आते हैं, जहाँ अवनतवदना अश्रुमुखी राधादेवी गोपियों से घिरी हुई उद्धव का ज्ञान और योग का सन्देश सुन रही हैं। वे बड़ी आतुरता और आकुलता से दौड कर बड़ी मनुहार के साथ राधा देवी का कुम्हलाया हुआ मुख-कमल छूते और उनके आँसू पोंछते हैं। इस प्रकार उद्धव को इस लीला के अन्त में राधा-कृष्ण के एकत्र दर्शन हो जाते हैं। उद्धव को यह ज्ञात हो जाता है कि ब्रज भगवान के 'नित्य-विहार' की स्थली है और राधा देवी भगवान् पुरुषोत्तम कृष्ण की अंतरंगा, अभिन्न, स्वरूप-आह्लादिनी शक्ति हैं। गोपियाँ राधा देवी की काय-व्यूह हैं, इसलिए वे भी वही सुख प्राप्त करती हैं, जिसकी अधिकारिणी राधा देवी हैं। ब्रज[1]

१. ....'शृणुतं दत्तचित्तौ मे रहस्यं ब्रजभूमिजं। ब्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् ब्रज उच्चते। गुणातीतं परं ब्रह्म व्यापकं ब्रज उच्चते। सदानंदं परं ज्योतिर्भक्तानां पदमव्ययम्। —श्रीमद्भागवत माहात्म्य अ० १।१९-२०

के इसी उच्चातिउच्च लीला-रहस्य को सूरदास जी ने अपने भ्रमरगीत-प्रसंग के एक पद में समझाया है—

ऊधौ कहियौ यह संदेस ।
लोक कहत कुबिजा की प्रभुता, तुम सकुचहु जनि लेस ।
कबहुँक इत पग धारि सिधारहु, हरि उहि सुखद सुबेस ।।
हमरे मन रंजन कीन्है तै ह्वै हौ भुवन नरेस।
तब तुम इत ठहराइ रहोगे, देखौगे सब देस ।।
नहि बैकुंठ अखिलब्रह्माण्डहु, ब्रज बिनु सब कृत-कलेस ।
वह किहि मंत्र दियौ नंदनंदन, ब्रज तजि भ्रमत विदेस ।।
जसुमति जननी प्रिया राधिका, देखे औरहुँ देस ।
इतनी कहत कहत श्यामा पै, कछु न रह्यो अवसेस ।।
मोहनलाल प्रबाल मृदुल-मन, तच्छन करी सुहेस ।
को ऊधौ को दुसह बिरह-ज्वर को नृप नगर सुरेस ।।
कैसौ ज्ञान कह्यौ कहि कासौ, किहि पठयो उपदेस ।
मुख मृदु छबि मुरली रव पूरित, गोरज करबुरकेस ।।
नटनायक गति विकट लटक तव, वन तै कियौ प्रवेस ।
अति आकुल अकुलाइ धाइ पिय पौछत नयन कुसेस ।।
कुम्हिलानौ मुख पदुम परस करि, देखत छबिहिं बिसेस ।
सूर सोम सनकादि इन्द्र, अज, सारद निगम महेस ।
नित्य बिहार सकल सुर भ्रम गति, कह गावै मुख सेस ।।[1]

अखिल ब्रह्माण्ड में ब्रज के समान कुछ नहीं; बैकुंठ भी उसकी समता नहीं कर सकता । भागवती भक्ति की पराकाष्ठा का ही दूसरा नाम ब्रज है, इसलिए प्रत्येक ब्रजलीला के अन्त में राधा और कृष्ण की एकासन समासीन झाँकी अवश्य दिखाई जाती है । प्रत्येक लीला इस परमोच्च दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अधिष्ठान को दृढ़ता से पकड़े रहती है । लोकदृष्टि से इन रासलीलाओं का सबसे बड़ा प्रकर्ष यह है कि इन्होंने ऊँची से ऊँची और सूक्ष्म से सूक्ष्म मानवीय अनुभूतियों को जीवन का अभिन्न अंग बना दिया है । आचार्य श्री नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने रासलीला के महत्त्व का निरूपण करते हुए लिखा है कि 'कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई प्रसंग नहीं, कोई पद नहीं, कोई शब्द नहीं जो श्री कृष्ण की महिमा में अन्तर्लीन न हो । सब ओर से सर्वस्व समर्पण हो जाने के पश्चात् श्रीकृष्ण की

---

१. सूरसागर, द्वितीय खण्ड, दशम स्कन्ध ४०७८ ।।४६९६।।

अखंड सत्ता ही दृष्टिगत होती है। रासलीला इसका सांकेतिक निदर्शन है।[1]

विश्लेषण करने पर रासलीलाएँ तीन प्रकार की दिखाई पड़ती हैं—(१) नन्द-भवन की लीलाएँ, जिनमें कृष्ण का वात्सल्य दिखलाया जाता है, (२) गोष्ठ की लीलायें, जिनमें सखाओं के साथ कृष्ण के वन-विहार और गोचारण आदि के प्रसंग रहते हैं और (३) निकुंज-लीलायें जिनमें श्रीकृष्ण, राधा तथा गोपियों के प्रेम की प्रगाढ़ता तथा गुह्यता अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। नन्द-भवन और गोष्ठ की लीलाओं के अन्तर्गत कृष्ण-जन्म, पूतनावध, शकटासुर-वध, शिव का योगी वेष-धारण, कालीय-दमन, गोवर्धन-धारण, ब्रह्मा-व्यामोह, स्वप्नाध्याय-लीला और दान-लीला जैसी सैकड़ों लीलाएँ आती हैं, जिनका अभिनय बहुत प्रचलित और लोकप्रिय है। ये लीलायें वात्सल्यरसाश्रित हैं और इनका आधार प्रमुखतः अष्टछाप के कवियों की रचनाएँ हैं, जो सब महाप्रभु वल्लभाचार्य अथवा गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। अनेक अन्य ग्रन्थों के आधार पर भी आजकल इन लीलाओं का अभिनय होता है, जिनमें 'ब्रजविलास', 'ब्रज-विहार' और 'लाड़सागर' आदि प्रमुख हैं। निकुञ्ज लीलाएँ भी हमें दो प्रकार की मिलती हैं। इनमें से एक प्रकार की वे हैं जिनमें श्रीराधा और श्रीकृष्ण के प्रणय-सम्बन्ध को व्यंजित करने वाली विविध घटनाओं को नाटकीय रूप देकर उनका अभिनय किया जाता है और जिनके अन्तर्गत छद्मलीलाओं का स्थान मुख्य है। दूसरे प्रकार की निकुंज-लीलायें वे हैं, जिनमें उनके प्रणयजन्य विविध अदृश्य और अमूर्त आवेगों अथवा अनुभूतियों में से किसी एक को चुनकर अभिनय द्वारा उसे मूर्त और दृश्य बना दिया जाता है। पहले प्रकार की निकुंज-लीलाओं के अन्तर्गत चीर हरण लीला, वंशीलीला, राजदान-लीला, नौका-लीला, गौनेंवारी लीला, बीनावारी लीला और जोगी लीला आदि अनेक प्रकार के प्रणय-प्रसंग आते हैं, जो आजकल ब्रज के रासधारियों में बहुत प्रचलित है। इन लीलाओं के दूसरे वर्ग में भौंरा-लीला सर्वाधिक लोकप्रिय है।

(देखिए परिशिष्ट)

× × ×

वैष्णव भक्त और आचार्य रासलीला को रस-स्वरूप परात्पर ब्रह्म से जीव का मिलन करानेवाली साधना मानते हैं। उनके अनुसार लीला शब्द में 'ली' का अर्थ है मिलन और 'ला' का अर्थ है प्राप्त करना।[2] इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि रसस्वरूप ब्रह्म से जो जीव का मिलन प्राप्त करावे उसी का नाम है—'रासलीला'। वस्तुतः रासलीला उस आध्यात्मिक प्रगति का प्रतीक है जिसके

---

१. महाकवि सूरदास, पृ० ११०।

२. लियं लाति इति लीला। ली-मिलन, ला-प्राप्त करना।

द्वारा भक्त अपने को भगवच्चरणों में समर्पित करता है। सम्भवतः वे दोनों प्रकार की लीला से स्वकीय एवं परकीय भाव की आराधना को प्रतीक हैं। राधा महाभाव की प्रतीक है—राधनोति इति राधा। श्रीकृष्ण समस्त आराधना के आकर्षण के केन्द्र हैं—'कर्षतीति इति कृष्णः'।[1] इस प्रकार प्रकट है कि ब्रज का रासलीलानुकरण एक परमोच्च आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रवर्तित हुआ।

(२)

उपर्युक्त सभी प्रकार की लीलाओं का एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार है। निम्नलिखित सूत्रों में इसका निरूपण किया गया है, ये सूत्र शांडिल्य प्रणीत[2] कहे जाते हैं—

अथातो रसो ब्रह्म ।१। सैवानन्दस्वरूपो कृष्णः ।२। तस्यानुकरणान्तरात्मिका भक्तिः ।३। सा नवधा ।४। तेषामन्योन्याश्रयत्वम् ।५। तस्मात्रासोत्पद्यते ।६। सोऽपि क्रियाभेदेनद्विधा ।७। गोलोक स्थानमेव ।८। ललितादेव्यो पोषणीयत्वेन लभ्यते ।९। प्रेमदेवता च ।१०। महात्संगात् भविष्यति ।११। परंपरैव ग्राह्यम ।१२। निष्कामेन कर्तव्यम् ।१३। प्रयासंविनैव फलसिद्धिः ।१४। नियमेन कर्तव्यम् ।१५। ।

अर्थात् रस ही ब्रह्म है ।१। वही आनन्द स्वरूप कृष्ण हैं ।२। उसकी भक्ति अनुकरणात्मिका होती है ।३। वह नौ प्रकार की होती है ।४। उन सबका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है ।५। उससे रास उत्पन्न होता है ।६। वह भी क्रियाभेद से दो प्रकार का होता है ।७। गोलोक ही उसका स्थान है ।८। वह ललिता देवी के पोष्यत्व द्वारा प्राप्त होता है ।९। इसका देवता प्रेम है ।१०। वह महत् संग से होगा ।११। परम्परा से ही वह ग्रहण किया जा सकता है ।१२। निष्कामभाव से ही करना चाहिए ।१३। बिना प्रयास के ही फलसिद्धि हो जाती है ।१४। नियमपूर्वक करना चाहिए ।१५। ।

ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है कि ब्रह्म रस स्वरूप हैं—'रसो वै सः'। आनन्दस्वरूप कृष्ण ही वह ब्रह्म है—'कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्।' उन्हीं कृष्ण की अनुकरणात्मिका भक्ति से रास की उत्पति हुई है, जिसका स्थान गोलोक है। इस चिन्तन का परिपुष्ट रूप हमें वैष्णव-दर्शन में मिलता है। उसके अनुसार रस-स्वरूप परमातमा ही आस्वाद्य-आस्वादक का रूप ग्रहण करके राधा और

---

१. तुलना करिए—कृषति विदारयति संसाराटवीर्भिते कृष्णः, कर्षति आत्मसात्करोति ज्ञानिनामिति कृष्णः परमात्मेति वदन्ति।

—नारायण भट्ट कृत—'भक्तिविवेक'।

२. दे० वि० ला० कृत—'रास-सर्वस्व' में 'रासोपदेशनिरूपण।'

कृष्ण के रूप में प्रकट होता है—'एकं ज्योतिरभूतद्वैधा राधामाधवरूपकां।'[१] राधाकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं—

एक स्वरूप सदा द्वै नाम,
आनंद की आह्लादिनि स्यामा, आह्लादिनि के आनंद स्याम।

वैष्णव ब्रह्म की तीन शक्तियाँ मानते हैं[२]--अन्तरंगा, (२) बहिरंगा और (३) तटस्था। बहिरंगा माया शक्ति है, तटस्था जीव शक्ति है और अन्तरंगा शक्ति वह है जो ब्रह्म के स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखती है। इस स्वरूपा शक्ति के भी तीन भेद हैं--(१) सत् की संधिनी, (२) चित् की संवित् और (३) आनन्द की आह्लादिनी। आह्लादिनी शक्ति का ही मूर्तरूप श्री राधिका हैं—

प्रिया शक्ति आह्लादिनी, प्रिय आह्लाद स्वरूप।
तनुर्वंदावन जगमगे, इच्छा सखी अनूप॥[3]

यह आह्लादिनी शक्ति ब्रह्मकृष्ण के अन्दर रहती हुई भी उनसे भिन्न रह सकती है। गोपियाँ उनकी कायव्यूह मानी गई हैं। राधा की तीन मूर्तियाँ हैं--स्वयंमूर्ति, परिणाम मूर्ति (प्रकाशमूर्ति) और छाया। उनकी स्वयंमूर्ति ही गोलोक में कृष्ण के साथ निज-निकुञ्ज में नित्य-संयुक्त रूप में रहती है। उनकी परिणाम-मूर्ति कृष्णावतारकाल में व्रज में अवतरित होती है। इसलिए वैष्णव ब्रज में ही रस की स्थिति मानते हैं, क्योंकि वह राधा की परिणाममूर्ति हैं। ब्रजेतर रस की स्थिति ही सम्भव नहीं, क्योंकि सृष्टि में रस हो नहीं सकता। इसीलिए वास्तविक रस उस ब्रज में नित्य गोलोक धाम में ही होता है। उसके रस के समूह को ही रास कहा गया है[४] अथवा जिससे रस उत्पन्न होता है, उसे रास कहते हैं।[५] इसलिए रास की नित्य स्थिति भी ब्रज में ही मानी गई है।

इसी से रास के तीन भेद हो जाते हैं--पहला अलौकिक अथवा नित्य रास, दूसरा नैमित्तिक रास और तीसरा लौकिक रास जिसे लीलानुकरण कहते हैं। अलौकिक अथवा नित्यरास को योगपीठ की लीला भी कहते हैं। यह भगवान् की अप्रकट लीला है।[६] यह रास गोलोक के हृदय में स्थित नित्य वृन्दावन-धाम

---

१. कृष्णोपनिषद् १२।
२. दे० जीव गोस्वामी कृत 'भागवत-सन्दर्भ।'
३. महावाणी हरिव्यास प्रिया जी।
४. 'रसानां समूहो रासः'।
५. 'रसोत्पद्यते यस्मात् स रासः।'
६. कालिन्दी जहं नदी नील निर्मलजल भ्राजै।
परम तत्व वेदान्त वैद्य इव रूप विराजै॥
× × ×

में होता है और परम रहस्य वस्तु कहा गया है। इस लीला में सुर, असुर, जीव किसी का भी प्रवेश नहीं, केवल नित्यसिद्ध परिकर ही उसके अधिकारी हैं। इसकी भी तीन अवस्थायें हैं––पहली अवस्था वह है जहाँ सविशेष सगुण ब्रह्म निज-निकुञ्ज में नित्यसंयुक्त रूप में रहते हैं, जहाँ मान, विरह और भ्रम कुछ नहीं होता, निर्विकार शान्त शृंगार की अखिल अबाध धारा प्रवाहित रहती है। दूसरी अवस्था वह है जिसमें प्रकाश रूप से युगलमूर्ति अपनी सखियों-नित्यसिद्ध परिकरों—को सुख देने के लिए निज-निकुञ्ज से बाहर निकलते हैं और उनके साथ रास करते हैं। यहाँ विरह नहीं होता, पर मान और भ्रम होता है। उल्लिखित भौंरा-लीला तथा मान-लीला यहीं होती है। नन्दभवन की लीला जन्मरहित वात्सल्य-लीला मानी जाती है। यहाँ यह अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है कि ये सब लीलायें नित्य हैं और इनका श्रीमद्‌भागवत् आदि में वर्णित अवतार लीलाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। अवतार लीलाएँ नैमित्तिक रास के अन्तर्गत हैं, जो अवतार-काल में होता है। इन्हीं का वर्णन पुराणादि ग्रंथों में है और भगवान् की प्रकट लीला के अन्तर्गत हैं। आजकल जो रास होता है, वह लीलानुकरणमात्र है। नित्यलीला रास-हृद स्वरूप है। नैमित्तिक इसका प्रवाह है और लीलानुकरण प्रतिमा-स्वरूप है जो साधना-आराधना और उपासना की वस्तु है और जिसके उद्‌देश्य तथा आदर्श का निरूपण किया जा चुका है। ऊपर यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि अनुकरण नित्य और नैमित्तिक दोनों ही प्रकार की लीलाओं का होता है। हितहरिवंश, हरिदास तथा हरिव्यास आदि निम्बार्क मतानुयायी महात्मा नित्य-निकुञ्ज के नित्य रास के उपासक थे, उनके सम्प्रदायों में आज भी अप्रकट नित्य-निकुञ्ज रस की उपासना चली आ रही है, गौड़ीय सम्प्रदाय में प्रकट ब्रजरस की उपासना होती है।

यदि हम राधा-कृष्ण के पारस्परिक आस्वाद्य-आस्वादक सम्बन्ध पर दृष्टि डालें, जिसका संकेत ऊपर किया जा चुका है तो यह सम्प्रदाय-भेद अधिक स्पष्ट हो जाता है। निम्बार्की और राधावल्लभी मानते हैं कि आस्वाद्य श्री राधा और आस्वादक श्रीकृष्ण हैं, इसीलिए कृष्ण अनेक छद्‌म धारण करते तथा राधा के लिए अभिसार करते हैं। चाचा हितवृन्दावनदास लिखित 'रास छद्‌म विनोद'

ता मंडप महं योगपीठ पंकज रुचि लागी।
ताके मन में उदित होत जो कोऊ बड़भागी॥
श्री वृन्दावन योगपीठ गोविन्द निवासा।
तहां गदाधर चरन सरन सेवा की आसा॥
––गदाधर भट्‌ट की वाणी, पृ० १।१६१।

और 'बयालीस लीला' आदि ग्रंथों का उल्लेख हो चुका है जिनमें कृष्ण का राधा के लिए विविध छद्म धारण करने का वर्णन है। इन छद्म लीलाओं के अन्तर्गत 'नौका लीला' जैसी कुछ रहस्यमयी लीलायें भी हैं जिनका दार्शनिक आधार जितना पुष्ट और स्पष्ट है, उनका अभिनय भी उतना ही हृदयहारी और विचित्र होता है। इसके विपरीत बल्लभ और गौड़ीय सम्प्रदायों के अनुसार आस्वाद्य कृष्ण और आस्वादक राधा रानी हैं। इसलिए श्रीराधा श्रीकृष्ण के मिलने के लिए अनेक छद्म वेश धारण करती तथा अभिसार करती हैं। विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अभिनीत रासलीलाओं में अनेक रूपों में यह भेद लक्षित होता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में निकुञ्जलीलायें, विशेषतः छद्म अधिक प्रचलित हैं और वल्लभ सम्प्रदाय में वात्सल्य तथा सख्यभाव की लीलाओं पर अधिक अनुराग है। निम्बार्क सम्प्रदाय के रास में कृष्ण का मुकुट बाईं ओर झुका रहता है जो राधा की प्रधानता का सूचक है। वल्लभ सम्प्रदाय के रास में कृष्ण के मुकुट की दाहिनी लटक रहती है जिससे कृष्ण की प्रधानता प्रकट होती है।

कृष्ण और राधा के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों की निष्ठा पर विचार करने से एक और तथ्य प्रकाश में आता है, वह यह कि अधिकारी एवं रुचि के भेद से कृष्ण में नायक के सब भावों का आरोप किया गया है। जब उनका राधा पर एकान्त अनुराग है, तब वह दक्षिण नायक है। राधा के साथ ही साथ जब अन्य गोपियों पर उनका समान अनुराग होता है, तब वह अनुकूल नायक है। उनमें शठ और धृष्ठ नायक के भी सब गुण है, जिनके बहुसंख्यक उदाहरण कृष्ण-साहित्य से दिये जा सकते हैं। उसी प्रकार राधा में भी नायिका के स्वकीय और परकीय दोनों भावों का आरोप किया गया है।[1] निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुसार कृष्ण का विवाह राधा से होता है और उनमें स्वकीयत्व की सभी दशाओं और अवस्थाओं की स्थापना की गई है। राधा वल्लभ सम्प्रदाय में भी ऐसा माना गया है। गौड़ीय सम्प्रदाय में राधा एक अन्य गोप की पत्नी बताई गई हैं जो कृष्ण के प्रेम में परम विरक्त, गृह त्यागी संन्यासी की तरह कुल की लाज और लोक की मर्यादा छोड़कर सर्वस्व समर्पण कर देती हैं। इस निष्ठा-भेद से अपार भाव-भेद तथा रस-भेद की सृष्टि हुई है और लीलानुकरण का कलापक्ष अधिक प्रौढ़ बना है। एक ओर तो रासलीला के छोटे-छोटे कथानकों में व्यापकता और विविधता का सन्निवेश हुआ है और दूसरी ओर एक ही शृंगार रस के परिमित क्षेत्र में वैचित्र्य के समावेश का अनन्त अवकाश निकल सका है।

---

१. अशेष नायिकावस्थाप्राकट्याद्भुतचेष्टिते।

—स्तवमाला, रूपगोस्वामी।

यहाँ यह न भूल जाना चाहिए कि रास कामगन्ध-शून्य प्रेमलीला है जिसके मूल में उपनिषदों का सर्वात्मवाद है। अतः राधा का स्वकीयत्व और परकीयत्व नैतिकता की पार्थिव दृष्टि से नहीं समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राधा ब्रह्म की शक्ति हैं जिसके साथ ब्रह्म पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में समान रूप से लीला-विलास करता है। इस लीला-विलास की अनुभूति सन्तजन अपने भीतर करते हैं जिसका सुन्दर चित्रण देव के इस छन्द में मिलता है—

हौं ही ब्रज वृन्दावन मोही मैं बसत सदा,
जमुना तरंग श्याम रंग अवलीन की।
वंशीवट तट नटनागर नटत मो मै,
रास के विलास की, मधुर धुनि बीन को।
चहूँ ओर सुन्दर सघन बन देखियत,
कुन्जन में सुनियत गुन्जनि अलीन की।
भरि रही भनक बनक तान तालन की,
तनक तनक तामैं खनक चुरीन की ॥[1]

---

१. अतः स्वकीयत्व और परकीयत्व दोनों साधना और अनुभूतिसापेक्ष भाव है। स्वकीयत्व आत्मा और परमात्मा की सहज अभिन्नता की उस तीव्र अनुभूति का प्रतीक है जिसकी अभिव्यक्ति कबीर जैसे महान् संतों ने अपने को 'राम की बहुरिया' कह कर की है। यह परकीयत्व आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर अभिसार की उस स्थिति का सूचक है जब एक महत्तर दैवी जीवन की सीमा में प्रवेश करते ही पार्थित्रता के नैतिक-अनैतिक सभी बन्धन स्वतः छूट-टूट जाते हैं। महामनीषी डॉ० आनन्द कुमार स्वामी ने लिखा है—

This Krishna is Constantly represented as betraying the milk-maids of Braj—the scud of men-from their lawful allegiance....However deeply men may believe in morality. there must ultimately come a day for each when it will be realized there are but a game and its rules which the greater life transcends, it is then that reputation becomes of no significance and the soul is made Parakiya (राजपूत पेंटिंग्स, अध्याय ६)

लीलानुकरण में भी उसकी आध्यात्मिकता अक्षुण्ण रखने के लिए अभिनय सम्बन्धी कठोर नियम बनाये गये हैं। ब्रज के ब्राह्मण बालक ही, जिनके यज्ञोपवीतादि संस्कार हो गये हैं, राधा-कृष्ण और गोपियों का स्वरूप धारण कर सकते हैं। रासविहारी को आवेशावतार माना जाता है और प्रत्येक प्रेक्षक से यह आशा की जाती है कि वह लीलानुकरण करने वाले स्वरूपों में भगवद्बुद्धि रखे। स्वरूपों के सामने कोई उच्चासन पर अथवा अविनीत मुद्रा में नहीं बैठ सकता। लीला के समय रासमण्डल के बीच से निकलना तक अनुचित माना गया है। सर्वसाधारण के सामने अन्तरंग रहस्यमयी निकुन्जलीला का अभिनय वर्जित है और रात्रि में बारह बजे के पश्चात् लीला होना मर्यादा-विरुद्ध है। सब तो नहीं, पर कुछ रास-मण्डलियाँ आज तक इन नियमों का निष्ठा से पालन करती चली आ रही थीं।

(३)

ऊपर रासलीला के जिस स्वरूप का विवेचन किया गया है, उसका उद्भव और विकास ब्रज में ही माना जाता है, परन्तु रासलीला किसी न किसी रूप में देश के प्रायः सभी भागों में पाई जाती है। आसाम के मनीपुर प्रान्त में रासनृत्य का बहुत प्रचार है जिसमें राधा और कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों का अभिनय होता है। वे सर्वथा कामगन्धशून्य होते हैं और उनकी मूल प्रेरणा धार्मिक होती है। मनीपुर के प्रत्येक ग्राम में राधा-कृष्ण, कृष्ण-बलराम अथवा कृष्ण-चैतन्य का एक मंदिर रहता है जिसके सभा मण्डप में ये लीलाएँ होती हैं। इन मन्दिरों में रासलीला नामक एक नृत्य महोत्सव भी होता है जो निरन्तर बारह दिनों तक चलता रहता है और जिसमें प्रसिद्ध वैष्णव कवियों के पदों का गान भी साथ-साथ चलता है। कभी-कभी नर्तकों के साथ गायकों तथा वादकों का समूह भी रहता है। परन्तु प्रायः नर्तक ही स्वयं गायन करते हैं। नर्तक, गायक, वादक सबकी वेशभूषा अत्यन्त सुन्दर और वर्ण-वैचित्र्य के कारण आकर्षक होती है। कृष्ण एक पीली रेशमी धोती पहनते हैं जो रेशमी कटिबन्ध से कसी रहती है। उनके शरीर का ऊपरी भाग खुला रहता है, यद्यपि उन्हें हार, केयूर, वलय और अंगद आदि से खूब सजा दिया जाता है। मस्तक पर जड़ाऊ किरीट रहता है जिस पर मयूरपंख शोभा पाते हैं। इस मनीपुर रास की विशेषता यह है कि इसे स्त्रियाँ भी करती हैं, जैसा ब्रज में नहीं होता। गुजरात के अन्तर्गत काठियावाड़ में भी रासलीला प्रचलित है जो गरबा या गर्भा नृत्य की शैली पर होती है, इसमें भी स्त्री और पुरुष दोनों भाग लेते हैं। बंगाल की यात्राओं में भी कृष्णलीला का ही प्राधान्य है। उड़ीसा के चाऊनृत्य के अन्तर्गत भी

राधाकृष्ण के ऐसे प्रणय-संलाप होते हैं जिनमें उनके दिव्य शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति रहती है। रासलीला की इस व्यापकता को देखने से पता चलता है कि यह प्रान्त-विशेष की वस्तु नहीं, अपितु इसका प्रचार सारे देश में रहा है। फिर भी हम देखते हैं कि आज रासलीला का जो आध्यात्मिक आदर्श और साहित्यिक उत्कर्ष एवं कलात्मक वैविध्य ब्रजभूमि में पाया जाता है, वह अन्यत्र दिखाई नहीं पड़ता है। इस बात से यह अनुमान किया जा सकता है कि रासलीला के वर्तमान स्वरूप का उद्भव और विकास वृन्दावन के आसपास कहीं ब्रजभूमि में ही हुआ होगा। रासलीला की उत्पत्ति में तीन मत प्रचलित हैं। एक मत निम्बार्क सम्प्रदाय को इसका प्रवर्तक मानता है। दूसरे मत के अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य इसके प्रवर्तक हैं। तीसरा मत चैतन्य सम्प्रदाय इसका प्राकट्यकर्ता मानता है। निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री घमंडदेव जी को रासलीला का प्रवर्तक माना जाता है। घमंडदेव जो निम्बार्क सम्प्रदाय के श्री हरिव्यासदेवाचार्य के बारह प्रधान शिष्यों में गिने जाते हैं जिनका एक द्वारा स्थान–पंजाब के किसी स्थान में बतलाया जाता है। निम्बार्की हरिव्यासदेव जी का प्रादुर्भावकाल[1] सम्वत् १३२० के लगभग मानते हैं और उसके अनुसार श्री घमंडदेव जी का प्रादुर्भाव सम्वत् १४५९ के लगभग पंजाब प्रान्तान्तर्गत रोहतक जिले के दोवद्धन नामक ग्राम के एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था।[2] इनका सम्वत् १५६५ तक जीवित रहना बताया जाता है। कहा जाता है कि उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर श्री राधा और कृष्ण ने उन्हें अपनी रासलीला के दर्शन कराये तथा उन्हें एक तेजोमय मणिजटित मुकुट देकर आज्ञा दी कि तुम उत्तम-उत्तम ब्राह्मण बालकों को शिक्षा दे रास-दर्शन का प्रत्यक्ष अनुभव करो। अतः वे स्वामी हरिदास जी तथा कतिपय अन्य महात्माओं को संग लेकर मथुरा गये और वहाँ से दस माथुर ब्राह्मण बालकों को लेकर रासलीला की। वे बालक लीला के अन्त में सदा के लिए अन्तर्धान हो गये। वहाँ से फिर वह बरसाने के निकट 'करहला' नामक ग्राम में गये और वही उदयकरण और खेमकरण नामक दो ब्राह्मण बन्धुओं को शिष्य बनाकर उनके द्वारा रासानुकरण का प्रचार किया।

रासलीला के प्राकट्य के सम्बन्ध में इससे कुछ मिलती-जुलती अनुश्रुति बल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। इस अनुश्रुति का पूरा विवरण करहला ग्राम के प्रसिद्ध रासधारी श्री बिहारीलाल के पुत्र रासतत्वज्ञ श्री राधाकृष्ण ने अपने

---

१. दे० 'निम्बार्क माधुरी, पृ० २३।

२. दे० श्री निम्बार्क महासभा, वृन्दावन का मुखपत्र 'श्री सुदर्शन', कार्तिक, सं० १९९२, पृ० १८ बिहारीदास लिखित घमंडदेव जी की जीवनी।

'रास सर्वस्व' ग्रंथ में प्रस्तुत किया है। रासधारी परम्परा का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है—

नगर ग्वालियर निकट ग्राम परेवा नाम।
घमंडदेव को मुकुट कौ दरस भयौ तिहि ठाम ।।
करहु रास आज्ञा भई मर्म न काहू जान।
बिश्नुस्वामी सम्मत करन मथुरा पहुँचे आनि ।।
तह संमत कर पुन मुकुट सबै दरस शुभ दीन।
पुनि निर्मायो रास जस प्रथमहि वर्णन कीन ।।
पुनि घमंड स्वामी गये ग्राम करहला माहि।
उदयकरण अरु षेमकर द्विजभ्राता दुइ ताहि ।।
तिनहिं बुलाकर अस कही करहु रास महिदेव।
एहि बिधि बंस परम्परा सदा रहे तुम सेव ।।[1]

इस मत के अनुसार भी एक घमंडदेव अथवा घमंड स्वामी रासधारी परंपरा के प्रथम प्रवर्तक माने जाते हैं। उनका जन्म स्थान पंजाब का दोवद्धन गाँव नहीं, वरन् ग्वालियर का निकटवर्ती परेवा नामक ग्राम कहा गया है। वह सनाढ्य ब्राह्मण थे, पर निम्बार्क सम्प्रदाय में जिन घमंडदेव की प्रसिद्धि है, वे गौड़ थे। जिन दिनों घमंडदेव को मुकुटों का दर्शन हुआ और रास करने की आज्ञा मिली, उन्हीं दिनों वृन्दावन के सुप्रसिद्ध सन्त श्री स्वामी हरिदास को भी रासलीला के उद्धार की प्रेरणा मिली—

रास बिहारी लाल दृगन ते दूरि भयो जब।
तिमिर ग्रसित भव भाव नाहिं जाने कोऊ तब ।।
श्री स्वामी हरिदास खास ललिता वपु तिनको।
प्रकट करत भई रास महल ते आज्ञा जिनको ।।[2]

श्री स्वामी हरिदास सिद्ध सन्त और प्रसिद्ध संगीत, कला, कोविद थे। गायनाचार्य तानसेन तक इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। रासलीला के उद्धार की दैवी प्रेरणा से अनुप्राणित हो, वे महाप्रभु बल्लभाचार्य के पास गये और उनसे रास-रस को जगत् में प्रकट करने का उपाय करने की प्रार्थना की।[3] आचार्य श्री महाप्रभु ने प्राणायाम चढ़ाकर ध्यान किया। उसी समय मुकुट उतरते हुए

१. दे०—'रास-सर्वस्व'।
२. दे०—रास सर्वस्व।
३. वही।

दिखाई पड़े ; उस समय महाप्रभु जी की सभा में बावन राजा उपस्थित थे। उन्होंने मुकुटों को उतारते हुए देखकर आश्चर्यचकित होकर पूछा--यह क्यों उतर रहे हैं ? इस पर महाप्रभु बल्लभाचार्य ने उत्तर दिया[1]--

रास-क्रीड़ा करो कही यह बात जतावन।
नहिं यामे कछु दोष यही है हमरी कामन ।।
ताम्रपत्र में मुहर करौ सबरे तुमहूँ किन।

इस प्रकार 'राससर्वस्व' के रचयिता ने रासानुकरण के प्राकट्य को श्रेय जहाँ स्वामी हरिदास और घमंडदेव को प्रदान किया है, वहाँ नाना लीलानुकरण प्राकट्य का श्रेय श्री नारायण भट्ट को दिया है—

दक्षिण पश्चिम कोण में मन्दराज तै ग्राम।
मदुरा तेरा कोस पर अति प्रसिद्ध सो ठाम ।।
जहाँ व्यास गुरु सरिस वर प्रकटे तहँ रसधाम।
नारद जी के अंश ते भट्ट नारायण नाम ।।
दीक्षित भृगुवंशी सुद्विज राध देस सुद ताँह।
संवत सोरह सै असी आठ अधिक के माँह ।।

जब इनकी अवस्था बारह बरस की हो गई तो उन्हें ब्रज में जाकर तीर्थं स्थानों के उद्धार और भगवत् लीला के विस्तार की प्रेरणा प्राप्त हुई—

मज्जत श्रवण सुनी अस बानी, ब्रज में जाय बसों तुम ज्ञानी।
राधा कुंडवास निज मेरो, सोई तुमकहँ सुखद बसेरो ।।
तीरथ बर ब्रज मैं है जैते, काल सुभाउ तुप्त भये तेते।
करहु जाइ तिनको उद्धारा, पुनि मम लीला को विस्तारा ।।

इस प्रकार दैवी आदेश प्राप्त कर उन्होंने ब्रज को प्रस्थान किया—

पुनि तिहि ब्रज को कियो पयाना, देखत मग पुर बन सरि नाना ।।
वर्ष तीन में ब्रज में आये, राधा कुंड रहे पुनि छाये ।।
सात वर्ष तहँ विचरेउ साईं, सत्रह सै दस संवत माईं ।।
बरसाने मँहि ऊँचे ग्रामा, वास कियो भक्तन सुख धामा ।।
तब सत्रह सै चौदह खाली, अनुशासन दीन्हीं वनमाली ।।
करहु रास रस रीति उजागर, जेहि कारण प्रगटेऊ गुणआगर ।।
तब सनाढ्य द्वै विप्र बोलाई, रामराय कल्याणहु राई ।।
वासी रहै करहला केरै, किये शिष्य उपदेश घनेरै ।।

पुनि एक वल्लव नृतक वर, बादशाह को खास।
ज्ञान भए तजि चाकरी, करत रहयो ब्रज वास ।।

---

१. दे०—रास सर्वस्व।

तातै बिबिध नृत्य सिखवाई, रास विलास प्रकटता गाई ॥
कछु दिन पाछे भयउ विचारू, प्रगटेउ भाव तदपि संसारू ॥
रास विलास स्वामिनी प्यारी, सखी भाव बिन नहिं अधिकारी ॥
प्राकृत दम्पति लीला माहीं, परिचारक कोउ प्रविशत नाहीं ॥
रहै पास तेहि अवसर दासी, जो स्वामिनि की कृपा निवासी ॥
प्रभु के भक्त अनेक विधाना, उज्वल सख्य दास रस ज्ञाना ॥
तिन कहँ सुख उपजे जेहि भाँती, प्रभु पद में रह मन दिन राती ॥

जेहि प्रकार हरि प्रेम दृढ़ निखिल भक्त जन होइ ।
निज निज रुचि हरि भाव कर सुख पावै सब कोइ ॥
अस विचारि हरि को ललित लीलन को अनुकार ।
रसिक नारायण भट्ट ने प्रथित कियो संसार ॥

उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट होता है कि श्रीनारायण भट्ट ने भी लीलानुकरण के प्रचार के अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करहला के ही दो ब्राह्मणों को शिष्य बनाया। बल्लभ नामक बादशाह के एक अवकाशप्राप्त नर्तक से भी उनको अपने कार्य में सहायता मिली, परन्तु कुछ समय पश्चात् उनको यह अनुभव हुआ कि सांसारिक भावापन्न अनधिकारी व्यक्तियों के प्रवेश और सम्पर्क के कारण रास की आध्यात्मिकता लौकिकता से आक्रान्त होती जा रही है। उन्होंने सोचा जब मानवीय दाम्पत्यलीला में पर-प्रवेश निषिद्ध है, तो भगवान् की परम दिव्य दाम्पत्य-लीला को सार्वजनिक बनाकर उसे मधुर रस के अनधिकारी व्यक्तियों के लिए उपभोग्य बना देना समाज के लिए अनिष्टकर ही होगा। इसलिए उन्होंने रुचि और प्रकृति-भेद से विभिन्न प्रकार के भक्ति के अधिकारियों के लिए उज्ज्वल, सख्य, दास्य आदि रसों की भगवान् की लीलाओं की अनुकृति का प्रचार और प्रसार किया।

राधाकृष्ण के इस विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि आज जिस परिपाटी की रासलीला प्रचलित है, वह उसका मूल स्वरूप नहीं है। स्वामी हरिदास ने महाप्रभु बल्लभाचार्य के सहयोग से केवल रासानुकरण का प्रचार किया था, जिसमें शरत् पूर्णिमा में यमुना तट पर गोपियों के साथ भगवान् कृष्ण द्वारा आयोजित रासलीला का ही एक निश्चित विधि से अभिनयात्मक अनुकरण किया जाता था। अन्य लीलाओं का समावेश उनमें नहीं होता था। महाप्रभु बल्लभाचार्य के आदेश से सम्भवतः इसी रासानुकरण का प्रचार घमंडदेव या घमंडस्वामी ने करहला के उदयकरण और खेमकरण को शिष्य बनाकर ब्रज में किया। जब श्री नारायण भट्ट ब्रज में आए, तब वहाँ इसी रूप में रासानुकरण

का प्रचार था। परन्तु मधुररसाश्रित इस विशुद्ध आध्यात्मिक लीला के अधि-कारियों के प्रभाव के कारण इसमें लौकिकता का प्रवेश होते देखकर उन्होंने इसके साथ-साथ नाना लीलानुकरण का प्रचार किया।

यह सब करने के बाद उन्होंने करहला-निवासी ब्राह्मणों को शिष्य बनाया और वल्लभ नामक एक नर्तक की सहायता से जो बादशाह की नौकरी छोड़कर उनका अनुगत हुआ था, उन लोगों के बीच उन्होंने रासलीलानुकरण एवं रासधारी परम्परा चलाई। यद्यपि ब्रज की बूढ़ी लीला के आधिपत्य के विषय में १९३४ में विवाद वल्लभ सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायियों के बीच हुआ था, पर इस पर लीला के आद्याचार्य और प्रवर्तक श्री नारायण भट्ट ही प्रतीत होते हैं। इसके कतिपय प्रबल प्रमाण कुसुम सरोवर (गोवर्द्धन) के विद्वान् सन्त बाबा कृष्णदास जी[1] ने प्रस्तुत किए हैं। उनका कहना है कि बरसाना, जहाँ उक्त लीला होती है, की वास्तविक भौगोलिक स्थिति को प्रकाश में लाने का श्रेय भट्ट नारायण जी को ही है। बरसाने की अधिदेवता आज भी श्री लाड़िली जी हैं, जिनके प्राकट्य और जीवनव्यापी आराधना का कार्य श्री नारायण भट्ट जी ने किया। बूढ़ी लीला का सीधा सम्बन्ध भी लाड़िली जी से है और बूढ़ी लीला श्री नारायण भट्ट जी के द्वारा विरचित 'प्रेमांकुर'[2] नाटक के आधार पर अद्यावधि अभिनीत होती है। इतना ही नहीं, नारायण भट्ट जी ने अपने ग्रन्थ 'ब्रजोत्सव-चन्द्रिका' में बूढ़ी लीला के प्रत्येक विधान का सविस्तार निर्देश किया है। किस तिथि को किस स्थान पर कौन सी लीला की जाय, इसका सम्पूर्ण विचार उन्होंने किया है और बूढ़ी लीला का कार्यक्रम अनेक अंशों में आज भी इसका अनुगत है। 'बूढ़ीलीला' के अन्तर्गत आजकल सबसे महत्त्वपूर्ण लीला 'मटकी फोड़नी लीला' है जो भाद्रशुक्ल तेरस को होती है। इसके विधि-विधान का पूरा निर्देश भी नारायण भट्ट जी के उक्त ग्रन्थ में मिलता है—

'ततः भाद्रशुक्ल त्रयोदश्यां प्रातः समये सांकरी खोरयातौ द्वौ पर्वतोपरि-स्थितौ लीलो कथ्यन्तौ। ततस्तस्यां सांकरीखोर्यां राधा गोपीभिः सार्द्धं दधिभाजनं मस्तकोपरिनिधाय विष्णुनामपर्वतात्पूर्वभागतस्तुआयाता। ततः श्रीकृष्णः वेत्र-

१. देखो—रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट, पृ० ३४।

२. ततः प्रेमांकुरं नाम नाटकं कृतवान् मुनिः।
अन्ये च वहवो ग्रन्थाः नारायणविनिर्मिताः॥
यत्र कृष्णस्य जन्मादिलीलाः सर्वाः प्रकीर्तिताः।
दानलीला च कृष्णस्य गोपीनां च परस्परम्॥
—नारायण भट्ट—चरितामृत, पृ० ८२।

हस्तेनस्थित्वा दानं ययाचे । मध्याह्न पर्यन्तं लीला कृतास्तत्पश्चाद्दधिभाण्डं भंक्त्वा दधिभक्ष्ये ।' (ब्र० च० प्रथम प्रकाश)

बरसाना–चिकसौली के जमींदार श्री नारायण भट्ट जी की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में हैं। यदि बरसाने की बूढ़ी लीला ही आद्य रासलीला मानी जायेगी तो श्रीनारायण भट्ट को ही उसके आदि प्रवर्तक सिद्ध होने की अधिक सम्भावना है। ब्रज के सब पुराने रासधारी आज भी रासलीला के उपोद्घात में मंगलाचरण करते हुए श्रीनारायण भट्ट का स्मरण करते हैं—

भट्ट नरायन अति सरस ब्रज मंडल सों हेत।
ठौर ठौर रचना करी निकट जानि संकेत ।।

साहित्यिक नाटकों के उपसंहार में भरत वाक्य जोड़कर भरत के आद्याचार्यत्व की अभ्यर्थना की जाती है। सम्भव है, इसी परम्परा का पालन करते हुए वरिष्ठ रासधारी मंगलाचरण में रासलीला के आद्याचार्य श्रीनारायण भट्ट की वन्दना करके गुरु और ऋषि के ऋण से उऋण होने का उपक्रम करते हों।

'भक्तमाल' के प्रसिद्ध टीकाकार श्री प्रियादास जी के विवरण से भी गोस्वामी जानकीप्रसाद के उल्लेख की पुष्टि होती है—

भट्ट श्रीनारायण जू भये ब्रज परायण,
जाय जाहि ग्राम तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलि कै सुनावै इहाँ अमुक स्वरूप हैं जू,
लीलाकुंड धाम श्याम प्रकट दिखाये हैं।
ठौर-ठौर रास के विलास तै प्रकट किये,
जिमें सौं रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा ते कहीं चलो बेनी पूछे बेनी कहाँ,
ऊँचे गाँव आये खोदि स्रोत को लखाये हैं।

इनके अतिरिक्त 'लघुनारायणभट्ट चरितामृत' ग्रन्थ में भी जो सम्भवतः इन सबसे पुराना है, श्री नारायण भट्ट जी के रासलीलानुकरण के आचार्यत्व का उल्लेख मिलता है।[1]

'भक्तमाल' के दूसरे टीकाकार महाराज प्रताप सिंह ने भी अपने 'भक्तकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि नारायण भट्ट जी ने—'जहाँ जहाँ जो

---

१. प्रसन्नो भगवानाह मदुक्तं कुरु पुत्रक ।
राधाकृष्णविहाराणि त्वया कार्य्याणि निश्चितम् ।।
इत्युक्त्वा मुकुटं दत्वा करल्ल पुरवासिनम् ।
कृष्णलीलाविहाराणि कारयामास वै मुनिः ।।

चरित्र और विलास भगवत् किये रहे, सब चरित्र किये, मानों श्रीकृष्ण अवतार को नवीन कर दिया और अब तक वह रासलीला की परम्परा वर्तमान है।' एफ० एल० ग्राउस ने भी 'मथुरा डिस्ट्रिक्ट मेम्वायर' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि रूप और सनातन गोस्वामी की शिष्य-परम्परा में नारायण भट्ट जी ने पहले पहले वनयात्रा और रासलीला की परम्परा प्रतिष्ठित की है। इन उल्लेखों से रासलीला के उद्भव और विकास की परम्परा में श्री नारायण भट्ट का ऐतिहासिक महत्त्व सिद्ध है। नारायण भट्ट जी परमोच्च कोटि के शास्त्रविद् विद्वान् थे। उन्होंने संस्कृत में अनेक ग्रन्थों की रचना की है। विश्वनाथ चक्रवर्ती जैसे परवर्ती प्रकाण्ड पंडित ने भी उनकी कृतियों का उल्लेख किया है।

इस प्रकार जब हम तीनों मतों का सम्यक् समीक्षण करते हैं तो कई निष्कर्ष निकलते हैं। पहला यह कि ईसा की सोलहवीं शती में रासलीला की वर्तमान अभिनयात्मक परम्परा का आविर्भाव हुआ। भक्तों ने इसे अपनी उपासना का साधन बनाया। दूसरी बात यह है कि इस परम्परा के विकास में स्वामी हरिदास और श्रीनारायण भट्ट का महत्त्वपूर्ण योग था। तीसरी बात यह कि ये तीनों ही मत करहला नामक ग्राम के ब्राह्मणों के सहयोग से रासधारी-परम्परा का आरम्भ मानते हैं। कदाचित् सभी उदयकरण और षेमकरन को आदि रासधारी मानने के पक्ष में हैं। नारायण मठ के गौड़ीय सम्प्रदाय में रासलीलानुकरण साधना के रूप में ग्राह्य था। 'चैतन्यभागवत' के लेखक श्री वृन्दावनदास का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हुए पहले ही लिखा जा चुका है कि महाप्रभु चैतन्य स्वयं कृष्णलीला के अभिनय में भाग लेते थे। उनकी प्रेरणा से धार्मिक अभिनय के अनेक रूपों का प्रचार हुआ, यह भी बताया जा चुका है। चैतन्य सम्प्रदाय के परम कृती महापुरुष रूपगोस्वामी जी ने 'विदग्ध माधव', 'ललित माधव' और 'दानकेलि कौमुदी' जैसे भक्तिरसपूर्ण नाटक लिखे हैं और नाट्यशास्त्र पर भी 'नाटक चन्द्रिका' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है। इसी सम्प्रदाय के कवि कर्णपूर ने 'चैतन्य चन्द्रोदय' नामक एक अत्यन्त सरस नाटक लिखा है जिसमें महाप्रभु चैतन्य और उनके परिकर अद्वैतप्रभु क्रमशः राधा और कृष्ण की भूमिका में अवतरित होते दिखाये गये हैं। 'श्रीनारायण भट्ट चरितामृत' में बताया गया है कि नारायण भट्ट ने 'प्रेमांकुर' नामक नाटक लिखा था जिसमें जन्मलीला, दानलीला, मगरोकनी लीला, पारस्परिक गालिदान लीला, वनविहार लीला, साँझी लीला, पुष्पचयन लीला, निकुंज-रचना लीला, निकुंजभेद आदि लीलाएँ वर्णित हैं।[1]

---

१. तत प्रेमांकुरं नाम नाटकं कृतवान् मुनिः।
अन्ये च वहवो ग्रन्थाः नारायणविनिर्मिताः ॥ ३० ॥

'प्रेमांकुर' नाटक की विषयानुक्रमणिका से सिद्ध है कि चैतन्य सम्प्रदाय में वात्सल्य और सख्य आदि रसों की लीलाएँ भी निकुंज लीलाओं के समान ही आस्वाद्य और ग्राह्य हैं। इस सम्प्रदाय में लीलाओं का अनुक्रम स्तोत्र-स्वरूप माना गया है जिसका अर्थ यही हो सकता है कि वात्सल्य और सख्य रस की नन्दगृह, गोष्ठ एवं वनविहार की लीलाएँ तथा मधुर रस की निकुंज लीलाएँ सभी नित्य और सेव्य हैं। उनमें भेद केवल रस-परिपाक की दृष्टि से ही किया जा सकता है, जैसे मधुर रस की निकुंज लीलाओं में प्रकर्ष अधिक माना गया है, अन्य किसी प्रकार का तात्विक भेद कदाचित् उनमें स्वीकृत नहीं। अतएव परम्परा और सिद्धान्त दोनों ही दृष्टियों से चैतन्य सम्प्रदाय का परिवेश लीलानुकरण के विकास के लिए अधिक अनुकूल दिखाई पड़ता है। इसलिए इस सम्प्रदाय के नारायण भट्ट का रासलीलानुकरण के प्रवर्तन की ओर विशेष रूप से उन्मुख होना स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। तत्कालीन सभी भक्ति सम्प्रदायों में नाट्याभिनय को भक्ति-साधना का माध्यम बनाकर उपस्थित करने का प्रयत्न कदाचित् गौड़ीय सम्प्रदाय ने ही पहले-पहल किया था। ऐसी स्थिति में रासलीला की संगीत-नृत्य-प्रधान परम्परा को नाना लीलानुकरण की अभिनयात्मक परम्परा में परिणत करने का कार्य ब्रज में भी पहले-पहल इसी सम्प्रदाय के महात्मा नारायण भट्ट ने किया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। जिन ऐतिहासिक और परम्परासिद्ध प्रमाणों के आधार पर नारायण भट्ट जी को रासलीला की अनुकरणात्मक परम्परा का प्रवर्तक माना जाता है, उनमें से कई का उल्लेख मैं पहले कर चुका हूँ। उनके अतिरिक्त प्राचीन और नवीन अन्य भी कई महत्त्वपूर्ण साक्ष्य इस विषय के उपलब्ध हैं।

अतएव साम्प्रदायिक आग्रहों और अभिनिवेशों का तटस्थ भाव से अनुशीलन करने से मेरे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि बल्लभाचार्य और चैतन्य महाप्रभु

यत्र कृष्णस्य जन्मादिलीलाः सर्वाः प्रकीर्तिताः।
दानलीलां च कृष्णस्य गोपीनां च परस्परम् ॥ ३१ ॥
× × × ×
गोपीनां तु क्रमेणैव लिखिता तत्र तत्र हि।
निकुंजद्वारमास्याय श्रीकृष्णगुणकीर्तनम् ॥ ४१ ॥
शुकेन वै शारिकया श्रीराधागुणकीर्तनम्।
इत्यादि बहुधा प्रोक्ता लीला प्रेमाख्य नाटके ॥ ४२ ॥
—श्री श्री गो० ना० प्र० भट्ट विरचित श्री श्री नारायण भट्ट चरितामृतम्, पृ० ८२-८४, अस्वाद २, श्लो० ३०-४२

जैसे महापुरुषों के ब्रजागमन के परिणामस्वरूप सम्भवतः इन्हीं लोगों की प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रेरणा से रासलीला की संगीतनृत्यप्रधान परम्परा हरिवंश जी आदि के पहले से ही चल पड़ी थी जिसमें केवल उस महारास लीला का अनुकरण होता था, जो भगवान् कृष्ण ने शरत्पूर्णिमा की रात्रि में गोपियों के साथ यमुना-तट पर सम्पन्न की थी। 'राससर्वस्व' के लेखक रासधारी राधाकृष्णदास के उपर्युक्त उल्लेख भी इसके संगीत-नृत्यप्रधान होने के अनुमान की पुष्टि करते हैं, क्योंकि उन्होंने भी लिखा है—

महारास तब कियो कान्ह भये अंतर्धाना।
बन बन ढूँढत फिरें सखी करि-करि गुण गाना॥
ताते विविध नृत्य सिखलाई। रासविलास प्रगटता गाई।

इसमें महारास लीला के अतिरिक्त अन्य लीलाओं का समावेश नहीं था। यह आयोजन भक्तों के समाज के रूप में होता था जिसमें गायन-कीर्तन और नृत्य ही प्रधान था, कथोपकथन और अभिनय गौड़ था। वस्तुतः भगवान् कृष्ण की महारास लीला अपने मूलरूप में भी संगीत-नृत्यप्रधान है। श्रीमद्भागवत में स्वयं शुकदेव जी ने ही इस महारास लीला का अनुकरण निषिद्ध बताया है—

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढयाद् यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्॥
ईश्वराणां वचः सत्यं तथेवाचरितं क्वचित्।
तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥

—श्रीमद्भागवत, १०।३३।३१, ३२

जब नारायण भट्ट जी ब्रज में आये, तब इसी परम्परा का प्रचार वहाँ था। सम्भव है सामाजिक दृष्टि से इसमें कुछ विकार भी आने लगे हों, क्योंकि शुकदेव जी ने भी लोकहित की दृष्टि से ही इसे वर्जित ठहराया है। ठीक ही है, प्राकृत-दंपति लीला में जब किसी को प्रवेशाधिकार नहीं है, तो भगवान् की परम गुह्य निकुंज लीला का ऐसा प्रकट प्रचार साधु कैसे माना जा सकता था? अतएव नारायण भट्ट जी ने महारास लीला के अतिरिक्त या साथ-साथ भगवान् की अन्य सभी प्रकार की लीलाओं के अनुकरण की परम्परा चलाई। जिस प्रकार शाण्डिल्य ऋषि के आदेश से अनिरुद्ध के पुत्र ब्रजनाभ ने भगवान् कृष्ण ने जहाँ जैसी लीला की थी, उसके अनुसार उस स्थान का नाम रखकर अनेक गाँव बसाये और दिव्य ब्रजभूमि का पुनरुद्धार किया था,[1] उसी प्रकार नारायण भट्ट जी ने भी

१. ब्रजस्तु तत्सहायेन शाण्डिल्यस्याप्यनुग्रहात्।
गोविन्दगोपगोपीनां लीलास्थानान्यनुक्रमात्॥

ब्रजभूमि की विस्मृत भौगोलिक अवस्थिति की पुनर्प्रतिष्ठा की। शास्त्रों के आधार पर उन्होंने ब्रजभूमि के प्रत्येक स्थल की प्रत्यभिज्ञा सम्पादित की और जिस दिवस, जिस नक्षत्र, जिस स्थल या ग्राम में जो लीला भगवान् ने स्वयं की थी, उसी-उसी समय उसी-उसी स्थान पर भट्ट जी ने उसी लीला के अनुकरण की पूर्ण अभिनयात्मक परम्परा चलाई।[1] ब्रज की उल्लिखित 'बूढ़ी लीला' मुझे उनके इसी विराट् उद्योग का अवशेष और स्मृति-चिह्न प्रतीत होती है। अतएव रासलीला की वह अभिनय-परम्परा जिसको लक्ष्य कर विशिष्ट शैली के लीला-नाटक मध्यकाल में लिखे गये, नारायण भट्ट के द्वारा ही प्रवर्तित इस परम्परा का पुरानी संगीत-नृत्य किंवा अल्प-अभिनयप्रधान के साथ योग घटित हुआ। मैं बता चुका हूँ कि रासलीला की वर्तमान प्रविधि में भी दो परम्पराओं का यह योग स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भगवान् कृष्ण की बहुरसमयी ललित लीलाओं के अनुकरण के प्रवर्तन की इस घटना का आज भी रासधारी नारायण भट्ट का नाम लेकर स्मरण करते हैं।[2]

रासलीला की प्राचीन गौरवमयी आध्यात्मिक परम्परा अब फिर संकटापन्न है, पहले हर एक रासमण्डली में दो-चार विरक्त साधु रहा करते थे, जो इन मण्डलियों को अनुशासित रखते थे, और स्वयं भिक्षा माँगकर खाते थे। पर इधर पिछले ३०-४० वर्षों से यह प्रथा लुप्त हो गई है। तथापि आज भी वृन्दावन में कुछ ऐसी रासमण्डलियाँ और ऐसे विरक्त साधु हैं, जो रास के विशुद्ध आध्यात्मिक रस के रसिक, संरक्षक एवं सतत जागरूक प्रहरी हैं।

रासलीला नाटकों की प्रविधि का बड़ा व्यापक प्रभाव मध्यकालीन हिन्दी-काव्य पर पड़ा। भक्त कवियों की रचना में गेयता और अभिनेयता का जो विशेष उत्कर्ष देखा जाता है, उसके मूल में न रासलीला नाटकों की ही प्रेरणा प्रधान है। रीतिकालीन कवियों पर भी लीला-नाटकों का प्रभाव देखा जा सकता है। अनेक प्रमुख रीतिकालीन कवियों ने ऐसे छंद लिखे हैं जिनमें निकुञ्ज अथवा

विज्ञायाभिद्यया स्थाप्य ग्रामानावासयद्बहून।
कुंड कूपादि पूर्तेन शिवादिस्थापनेन च ॥

—भागवत माहात्म्य, अ० २, श्लोक ४-५।

१. यस्मिन् दिने यदृक्षे वा कृष्णो लीलां चयार ह।
तस्मिन् दिने स्थले तस्मिन् भट्टो भास्कर संभवः।
कारयामास तां लीलां बालैः कृष्णादिवेषिभिः॥

—गोस्वामी जानकी प्रसाद भट्ट कृत—नारायण भट्ट चरितामृतं।

२. दे० पृ० ८५।

छद्म लीलाओं का नाटकीय संयोजन किया गया है। उदाहरण स्वरूप देव का एक छंद उद्धृत किया जा सकता है—

राज पौरिया के रूप राधे को बनाइ लाई,
　　　　गोपी मथुरा ते मधुवन की लतानि में।
टेरि कह्यो कान्ह सों चलौ हो कंस चाहै तुम्हैं,
　　　　काके कहे लूटत सुने हो दधि दानि मैं।
संग के न जाने गए डगरि डराने देव,
　　　　स्याम ससवाने से पकरि करे पानि में।
छूटि गयो छल सो छबीली की विलोकनि मैं,
　　　　ढीली भई भौहैं वा लजीली मुसकानि मैं ॥

भारतेन्दु जी ने रासलीला नाटकों की परम्परा और प्रविधि का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग अपनी 'चन्द्रावली' नाटिका में किया है। वियोगी हरि जी की 'छद्मयोगिनी' नाटिका भी इसी शृंखला की एक कड़ी है।

वैदिक संवाद-सूक्तों में उपलब्ध वीरगाथात्मक परम्परा ही सम्भवतः शौमिकों के मूक अभिनय के रूप में परिणत हुई और आगे चलकर उसी में से मूल-अभिनय, छद्म-अभिनय, झाँकी, कथावाचन, काव्यात्मक संवाद आदि के माध्यम से सम्पन्न होनेवाली राम और कृष्ण की लीलाओं का प्रचार हुआ। ब्रज में कतिपय मूक-अभिनय-प्रधान लीलाओं का भी प्रचार है, जिनको हम रासलीला का ही एक विशेष प्रकार और परिणति मान सकते हैं। इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है और लोकप्रियता में तो ये अद्वितीय हैं।

रामलीला

आनन्द कुमार स्वामी ने रामलीला और कृष्णलील (रासलीला) का विवेचन करते हुए लिखा है—

"........that the Ramayan is Pseudo-historical and is desingned to be a social ideal, while the Krishna Lila is symbolic and eternal, and Brindaban is not this world, but the heart of man. The Ramayana tells how man by a righteous life may approach to a nearer Union with the Lord : the Krishna Lila explains the very nature of union accomplished. These are different matters."

अर्थात् दोनों में तात्विक भेद है। रामायण अर्द्ध ऐतिहासिक है और उसका

लक्ष्य सामाजिक आदर्शवाद है। इसके विपरीत कृष्णलीला प्रतीकात्मक और शाश्वत है। वृन्दावन भौतिक जगत् नहीं, वरन् मनुष्य का हृदय है। रामायण बताती है कि किस प्रकार मनुष्य पवित्र जीवन व्यतीत करता हुआ भगवान् के सामीप्य और सारूप्य का अधिकारी बनता है, किन्तु कृष्णलीला भगवत्प्राप्ति के सुख अथवा भगवान् के सारूप्य के स्वरूप की व्याख्या करती है। विद्वान् लेखक का आशय यह प्रतीत होता है कि रामलीला साधन मार्ग का निर्देश करती है और रासलीला सिद्धावस्था के अनुभव और आनन्द का प्रतीकात्मक प्रकाशन है।[१] रासलीला के चित्तस्वरूप का आवश्यक स्पष्टीकरण किया जा चुका है। दोनों के भेद को ठीक-ठीक समझने के लिए रामलीला के दार्शनिक आधार का भी ज्ञान आवश्यक है।

वैष्णवों के अनुसार भक्तों में स्वभाव अथवा अधिकारी भेद से रसानुभूति की पाँच प्रक्रियाएँ होती हैं—(१) मधुर, (२) वात्सल्य, (३) सख्य, (४) दास्य और (५) शान्त। वैष्णवाचार्यों ने इन्हें पाँच स्वतन्त्र रस ही माना है और इन पाँचों रसों की भगवद्विषयी रति के पाँच रूप (पाँच स्थायी भाव) माने हैं—मधुर का कान्ता या मधुरा, वात्सल्य की वत्सल, सख्य की प्रेय, दास्य की प्रीति और शान्त की शांति। यह बात सदैव ध्यान रखने की है कि साहित्यिकों के और भक्तों के रस में मौलिक अन्तर है।[२] 'पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तों के) चिन्मुख।' ब्रजलीला अथवा रास में प्रधानतया वात्सल्य, सख्य और मधुर रसों की ही अभिव्यक्ति हुई है। यह बताया जा चुका है कि कृष्ण की नन्द-भवन की लीलाओं में मधुर रस की व्यञ्जना हुई है। शान्त रस की निष्पत्ति के लिए रास में (ब्रजलीला भर में) अवकाश ही नहीं। कबीर आदि निर्गुण मत के भक्तों की वाणी में शान्त रस की प्रधानता है। रामलीला में दास्य रस की अभिव्यंजना प्रधान है। 'दास्य स्वभाव का प्रीतिरस दो प्रकार का होता है—संभ्रमगत और गौरवगत। भगवान् के ऐश्वर्य स्वरूप के प्रति संभ्रम और गुरुता का भाव रखने वाले भक्त इसी श्रेणी में आते हैं। दास्य रस का विषयरूप आलम्बन भगवान् का वह ऐश्वर्यरूप है जिसके इशारे पर माया कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड की सृष्टि करती है, जो राजाओं के भी राजा हैं, जिनकी शक्ति का एक-एक कण विश्व को उद्भासित करता है और जो सत्य, न्याय और शुभकर्म आदि के आकर हैं।

---

१. दे० अ० कु० स्वा० कृत 'राजपूत पेंटिंग्स', दूसरा भाग, प्रथम अध्याय, पृ० २७-२८।

१. दे० 'भक्ति रसामृत सिन्धु'।

भगवान् के इसी ऋद्धि-सिद्धि-सेवित रूप के प्रति आकृष्ट भक्त उनका दास होने का अभिमान करता है।'[1]

इसीलिए राम से सम्बन्ध रखने वाले श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के काव्य में उनकी सार्वजनिक लोकसंग्रही जीवन-लीलाओं का ही प्राधान्य रहा, प्रेम, शृङ्गार और विलास की गाथाओं के लिए अवकाश ही न निकल सका, यही कारण है कि रामलीला में, जो रामपरक दृश्य काव्य है, कथानक वैचित्र्य और नए-नए प्रसंगों की उद्भावना का अभाव है। इसके विपरीत मधुर रसाश्रित रासलीला में ऐश्वर्य बोध का—मधुररस की परिपन्थी वृत्ति होने से कारण—अभाव है और भगवान् की ऐहिक लीलाओं का प्राधान्य है। रासलीला और रामलीला का यह भेद भक्ति-साधना के दो पन्थों की पृथक्ता का निर्देश करता है।

रामलीला की वर्तमान अभिनयात्मक परम्परा का प्रवर्तन कब और किसके द्वारा हुआ, इसका निर्णय करना कठिन है। प्राय: सारे देश में किसी न किसी रूप में रामलीला का प्रचार है। देश के बाहर बाली, जावा और लंका आदि द्वीपों में भी अत्यन्त प्राचीन काल से इसका व्यापक प्रचार चला आ रहा है।[2] स्याम में भी कठपुतलियों के द्वारा रामकथा का प्रदर्शन होता है। स्याम का 'रामकीन' और कंबोडिया का 'रैयामक्रिर' ग्रन्थ रामकथा के रूप में प्रसिद्ध हैं और उनमें वर्णित घटनाएं वहाँ के प्राचीन मन्दिरों में भी उत्कीर्ण हैं। बर्मा में भी कवि यूतो ने 'रामयागन' (रामायण) का प्रणयन किया है और रामकथा-सम्बन्धी 'धामर्प्वे' नामक नाट्यरूप भी वहाँ प्रचलित है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे सुदूर अतीत में भी राम-नाटकों की लोकधर्मी और नाट्यधर्मी दोनों ही परम्पराओं के अस्तित्व का प्रमाण

---

१. सुनु रावन ब्रह्माण्ड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
धरै जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥
हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तोहि समेत नृप दल मद भंजा॥
खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥
जाके बल लवलेस ते जितेउ चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेऊ प्रिय नारि॥

२. बाली और जावा के राम-रावण युद्ध तथा बालि-सुग्रीव युद्ध सम्बन्धी नृत्य-नाटक प्रसिद्ध हैं।

मिलता है। वैदिक काल में ही हमारी नाट्यपरम्परा का प्रादुर्भाव हो गया था, इसका उल्लेख हो चुका है। यह परम्परा अखण्ड रूप से मुसलमानों के आने के पूर्व तक चलती रही, यह भी बतलाया जा चुका है। इस नाट्य-परम्परा के विकास में वैष्णव आन्दोलन का प्रभाव मुख्य था। वैष्णव साधना और सम्प्रदाय के बीज वेदों तक में वर्तमान हैं और उसका पूर्ण विकास महाभारत तथा गीता के काल तक हो गया था। वेद-काल और महाभारत काल के बीच वैष्णव धर्म द्वारा अनुप्राणित नाट्यप्रयोगों ने लौकिक और साहित्यिक दोनों ही प्रकार के अनेक रूप धारण किये होंगे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। विष्णु के विविध अवतार चरितों का अभिनयात्मक प्रदर्शन होता था, इसका सबसे बड़ा प्रमाण महाभाष्य में पतञ्जलि द्वारा 'कंसबध' और 'बलिबध' नामक नाटकों का उल्लेख है जिनका अभिनय शौभनिक या शौभिक कहलाने वाले नट सार्वजनिक स्थानों पर किया करते थे। हरिवंश में भी लिखा है कि जब प्रद्युम्न, साम्ब आदि यादव राजकुमार प्रभावती-हरण के लिए दानवराज वज्रनाभ के नगर में गए थे, तब उन्होंने वहाँ रामजन्म और रम्भाभिसार नामक नाटकों का अभिनय किया था। इन उल्लेखों से यह तो सिद्ध ही है कि उस समय विष्णु के प्रधान अवतार राम तथा कृष्ण के चरित्रों का अभिनय व्यापक रूप से होता था। राम और कृष्ण के चरित्रों से सम्बद्ध नाटक बहुत प्राचीनकाल से लिखे जा रहे हैं। कालिदास से भी प्राचीन माने जानेवाले महाकवि भास द्वारा रचित 'बाल-चरित' नामक नाटक कृष्ण के बाल चरित से सम्बन्ध रखता है।

उनके 'प्रतिमा' नाटक में राम-वनवास तथा सीता-हरण से लगाकर रावण-वध तक की घटनाओं का समावेश है और अभिषेक का वर्णन है। इन दोनों नाटकों में बालकाण्ड के अतिरिक्त रामायण के अन्य सभी काण्डों के कथानक का समावेश है। ७०० ई० के लगभग भवभूति के 'महावीर चरित' और 'उत्तर-रामचरित' में सीता-वनवास से पुनर्मिलन तक की कथा है। भवभूति के नाटक उज्जैन में भगवान् कालप्रिय के मन्दिर में अभिनीत भी हुए थे। अष्टम शती के उत्तरार्द्ध में मुरारि ने 'अनर्घराघव' नामक नाटक लिखा था, जिसमें विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए राम के वनगमन से लगाकर रावणवधोपरान्त राम के राज्याभिषेक तक की कथा है। दशम शती के पूर्वार्द्ध में राजशेखर ने बाल-रामायण नामक नाटक लिखा, जिसका अभिनय भी कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल की आज्ञा से हुआ था। चौदहवीं शती के लगभग जयदेव ने 'प्रसन्नराघव' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा जिसमें राम के चरित्र का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटक के ह्रासकाल में भी रामकथा-सम्बन्धी अनेक नाटक लिखे जाते रहे। रामभद्र दीक्षित ने सत्रहवीं शती

में 'जानकी परिणय' नामक नाटक लिखा था और इन्हीं के समकालीन महादेव ने 'अद्भुत दर्पण' लिखा, जिसमें अंगद के दौत्य से राम के राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। दशम शती के लगभग शक्तिभद्र नामक केरल देश निवासी कवि ने 'आचार्य चूड़ामणि' लिखा जो सात अंकों में रामकथा-सम्बन्धी अद्भुत रस प्रधान नाटक है। ११वीं या १२वीं शती के आसपास वीरनाग अथवा दिङ्नाग नामक किन्हीं कवि ने 'कुन्दमाला' नामक नाटक लिखा। इसमें भी रामायण की ही कथा है और इस पर भवभूति के 'उत्तररामचरित' का विशेष प्रभाव है। मधुसूदन मित्र विरचित दस अंकों का 'हनुमन्नाटक' और दामोदर मिश्र कृत चौदह अंकों का इसी नाम का महानाटक भी रामचरित-सम्बन्धी अर्द्धनाटकीय प्रयोग है। कवि मयूरन के 'उदात्तराघव' के कथानक का आधार भी रामायण ही है। १३वीं शती में सुभट कवि ने 'दूताङ्गद' नामक एक छाया नाटक लिखा, जिसका अभिनय १२४३ ई० में अणहिलपट्टन के चालुक्य राजा त्रिभुवन पाल की सभा में हुआ था। इसमें राम का दूत बनकर अंगद के लंका जाने की कथा है।

१५वीं शती में रायपुर के कलचूरि नरेशों ने राजकवि व्यास श्री रामदेव लिखित तीन नाटकों में, जो छाया नाटक बतलाए गए हैं, 'रामाभ्युदय' भी है जिसमें लंका-विजय, सीता की अग्नि परीक्षा और राम के अयोध्या लौटने की कथा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत में राम नाटकों की यह साहित्यिक परम्परा ईसा के पूर्व से प्रारम्भ होकर प्रायः १७वीं शती तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि ये राम नाटक भिन्न-भिन्न समयों में तो लिखे ही गए, कान्यकुब्ज, बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश, गुजरात, केरल आदि सभी प्रान्तों के कवियों ने भी इनकी रचना में योग दिया। इससे यह सिद्ध है कि इस महादेश के विभिन्न प्रान्तों में रामचरित का अभिनय अनेक रूपों में निरंतर लोकप्रिय रहा। साधारण नाटकों से लगाकर छाया नाटक तक में राम के जीवन की विविध घटनाओं का प्रदर्शन होता रहा। यहाँ तक कि कठपुतलियों के खेल के भी अधिकांश कथानक रामायण से[1] ही लिए जाते रहे हैं। ई०पी० हारविज ने लिखा है—

"Tee Hindus never seem to tire of a story told of the saintly Rama. The Nepalese theatre in the north is known to have produced Rama plays as early as the fourteenth century

१. दे० ई०पी० हारविज रचित 'इण्डियन थियेटर्स', पृ० १५४-१५९।

of our era. The Tamil theatre in the south has shown itself no less partial of the Ramayana........ Hosts of Indian dramas are derived from the Ramayana."[1]

अर्थात् हिन्दू साधुशील राम की कथा से कभी तृप्त ही नहीं होते, उत्तर में नेपाली रंगमंच पर १४वीं शती में ही राम नाटकों का अभिनय प्रारम्भ हो गया था। दक्षिण में तामिल रंगशाला में भी रामायण के प्रति कम अनुराग नहीं रहा······· सैकड़ों भारतीय नाटकों का उद्गम रामायण से ही हुआ है।

राम-नाटकों की इस निखिल देशव्यापी अति प्राचीन साहित्यिक परम्परा को देखते हुए यह मान लेना कठिन नहीं है कि राम-चरित्र के अभिनय की लौकिक अथवा लोकधर्मी परम्परा भी देश भर में सर्वत्र सर्वसाधारण के बीच इससे बहुत पहले से नहीं तो कम से कम समानांतर अवश्य चलती रही होगी।

रामचरित्र के अभिनय की यही लौकिक अथवा लोकधर्मी परम्परा देशभर में आज रामलीला के नाम से विख्यात है। रामलीला राम की ही भक्ति के समान व्यापक तथा प्राचीन है। "हिमालय के गर्भ से गंगा के उद्गम का समय बता सकना जितना कठिन है, उतना ही कठिन रामलीला के प्राकट्य का काल बताना है।" राम के भक्त तो रामलीला की इस परम्परा को अनादि कहते हैं, उनके अनुसार हिन्दू धर्म के अनादि राम की अनादि लीला की यह अभिनयात्मक परम्परा भी अनादि ही है।[2] इन भावुक भक्तों के बीच एक किंवदंती प्रचलित है कि त्रेतायुग में जब राम पिता की आज्ञा से वन को चले गए थे तो अयोध्या के उनके परिजन, पुरजन और प्रजाजनों ने राम के बाल-चरित्रों का अनुकरण और अभिनय करते हुए चौदह वर्ष के विषम वियोग के दिवस काटे थे। इन लोगों का ऐसा विश्वास है कि यहीं से रामलीला की अभिनयात्मक परम्परा का आविर्भाव और विकास हुआ। ऐसी ही कथा श्रीमद्भागवत के अन्तर्गत रासपंचाध्यायी में है। गोपियों के बीच विहार करते हुए श्रीकृष्ण जब अन्तर्धान हो गए तो वे उनके दुःसह वियोग का ताप शमन करने के लिए उनके बाल और कैशोर चरित्रों का परस्पर अनुकरण करने लगीं। ऐसी किंवदन्तियों और विश्वासों से रामलीला और रासलीला की प्रागैतिहासिक प्राचीनता की निष्ठा ही ध्वनित होती है।

पाठक और धारक के माध्यम से रामकथा प्रस्तुत करने की परम्परा इस देश में बहुत प्राचीन है। 'पाठक' कथा का पाठ करने का काम करता था और

१. दे० ई० पी० हारविज कृत 'इण्डियन थियेटर्स', पृ० १४०-१४१।
२. यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायण कथा लोकेषु प्रचरिष्यति ॥ —वाल्मीकि रामायण

'धारक' उसकी व्याख्या। वैदिक और सम्भवतः पूर्व वैदिक काल में ही वीर-गाथाओं को नाटकीय ढंग से गाने और पढ़ने की परिपाटी चल पड़ी थी, उसी में से इस परम्परा का विकास होना भी सम्भव है।[1]

पहले जो कुछ कहा जा चुका है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नाट्य-परम्परा मध्यकाल में भी अविच्छिन्न रूप से चलती रही है। हम देख चुके हैं कि संस्कृत-नाटक की जो समृद्ध परम्परा विदेशी आक्रान्ताओं से आघात पाकर क्षत-विक्षत हो गई थी, वह ह्रास को प्राप्त होकर भी विभिन्न प्रकार की नाटकीय प्रवृत्तियों में उठ खड़ी हुई और जनता का पथ-प्रदर्शन तथा अनुरंजन करती हुई आगे बढ़ती गई। हम पहले ही बता चुके हैं कि इस प्रकार ये हिन्दी के नाटक वस्तुतः उस धारा के अन्तर्गत हैं, जिसका प्रारम्भ ऋग्वेद के श्येन सूक्त, पुरूरवा, उर्वशी आदि के संवाद-सूक्तों में हुआ और जो सुपर्णाध्याय जैसे रूपों को प्राप्त होती हुई संस्कृत-नाटक के विकास और ह्रास के बीच से अविरल प्रवाहित हो रही है।

(२)

यद्यपि रामलीला की परम्परा अति प्राचीन है, फिर भी समय-समय पर परिस्थितियों और विशिष्ट व्यक्तियों के प्रभाव से उसके बाह्य रूप और कौशल्य आदि में कुछ परिवर्तन होते रहे। आज हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में रामलीला जिस रूप में प्रचलित है, उसके प्रवर्तक और निर्माता गोस्वामी तुलसीदास जी माने जाते हैं। गोस्वामी जी के अनेक प्रकार के कार्यों की भूमिका रामानन्द जी ने तैयार की थी, इसलिए डॉ० श्याम परमार[2] का यह अनुमान नितांत निराधार नहीं कहा जा सकता कि 'रामानंद ने रामभक्ति के प्रचारार्थ, बहुत सम्भव है, रामलीला का माध्यम अपनाया होगा। कदाचित् उस समय की लीलाओं का मंच आज की तरह सुगठित न होकर अनगढ़ अधिक होगा। इस अनगढत्व का परिष्कार तुलसी के 'मानस' से किया जाना सम्भवतः विचारणीय है। तुलसी के समय या उनके आगे-पीछे प्रयोग की दृष्टि से राम-सम्बन्धी नाटक मंच के लिए लिखे गए हों, तो आश्चर्य नहीं। लोकमंच की सम्पत्ति होने के कारण उनका आज प्राप्त न होना आश्चर्य का विषय नहीं।'

गोस्वामी जी के प्रधान कार्य-क्षेत्र काशी तथा अयोध्या रहे। अयोध्या में उन्होंने रामचरितमानस का प्रारम्भ किया और काशी में उसकी समाप्ति। इन्हीं

१. दे० प्रथम अध्याय, पृ० ३, ४, ५।
२. लोकधर्मी नाट्यपरम्परा, पृ० २५।

दोनों स्थानों पर गोस्वामी जी ने रामलीला भी चलाई, इस आशय की अनेक जनश्रुतियाँ प्रायः समस्त अवध और काशी खण्ड में प्रचलित हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि गोस्वामी जी को रामलीला का प्रवर्तक मानने के सम्बन्ध में रासलीला की तरह जनश्रुतियों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। सब जनश्रुतियाँ एकमत से काशी और अयोध्या दोनों स्थानों पर गोस्वामी जी को ही रामलीला के प्रचलन का श्रेय प्रदान करती हैं। काशी में गोस्वामी जी की चलाई हुई रामलीला अभी तक चली आ रही है। यह आश्विन मास में होती है और इसका भरतमिलाप बहुत प्रसिद्ध है।

गोस्वामी जी के द्वारा प्रवर्तित होने के पश्चात् रामलीला की अभिनयात्मक प्रविधि ने दो रूप ग्रहण किए। इसका एक रूप वह है जिसमें रामलीला का अभिनय एक ही स्थान या प्रेक्षास्थल में सीमित न रहकर भिन्न-भिन्न स्थानों या नगरों के भिन्न-भिन्न मुहल्लों में, प्रस्तुत लिए जाने वाले दृश्य के अनुरूप, अधिक से अधिक यथार्थवादी देश-काल और परिवेश में निर्माण द्वारा किया जाता है। गोस्वामी जी ने काशी में जो रामलीला चलाई थी, उसका रूप यही रहा। उसका दूसरा रूप वह है, जिसमें एक सुविस्तृत और चारों ओर से खुले हुए स्थान को घेरकर प्रेक्षास्थल बना लिया जाता है। इस प्रेक्षास्थल के एक ओर अयोध्या और दूसरी ओर लंका रहती है। दोनों के बीच में सब प्रकार की लीलाएँ सम्पन्न होती हैं, और दर्शक लोग उन्हें चारों ओर से देखते हैं।

काशी में रामायण के जिस प्रसंग का जिस स्थान-विशेष पर अभिनय होता था, गोस्वामी जी ने तदनुरूप उसका नामकरण भी कर दिया था। वे सब नाम आज भी चले आ रहे हैं और उनमें से बहुत से—जैसे लंका आदि—तो काशी के मुहल्लों के नाम ही बन गए हैं। इसी प्रकार अयोध्या में उन्होंने चैत्रमास में रामलीला चलाई थी तथा काशी की तरह वहाँ भी विभिन्न अभिनय-स्थलों को घटना और प्रसंग के अनुरूप नाम प्रदान किए थे। अयोध्या की रामलीला की यह परम्परा अब लुप्त हो गई है, केवल गोस्वामी जी के दिए हुए अभिनय-स्थलों के नाम अभी तक चले आ रहे हैं। अयोध्या के वृद्ध इनका परिचय अनुसंधित्सु को कराते हैं। बहुत खोज करने पर भी इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चला कि अयोध्या की गोस्वामी जी की चलाई हुई रामलीला की परम्परा कब तक चलती रही और फिर वह किस समय और किन कारणों से लुप्त हो गई। आजकल अयोध्या में अनेक रामलीलाएँ आश्विन मास में होती हैं, पर उनमें से कोई भी बहुत प्राचीन नहीं, सब सौ वर्ष के इधर की ही हैं। अयोध्या की सबसे पुरानी अभिनय-परम्परा अगहन में होने वाले राम-विवाह अथवा धनुषयज्ञ की है। यह गोस्वामी श्री रामप्रसाद जी महाराज ने, जो अयोध्या के एक प्रसिद्ध संत हुए

हैं, चलाई थी। गोस्वामी श्री रामप्रसाद जी महाराज ने सं० १७६० वि० के लगभग एक गद्दी की स्थापना की थी जो अब बड़ी जगह के नाम से विख्यात है। अयोध्या के सब पुराने तथा जानकार लोगों ने तथा स्वयं बड़ी जगह के महन्त जी ने मुझे यह बतलाया कि उनके यहाँ राम-विवाह का अभिनय अविच्छिन्न रूप से गोस्वामी रामप्रसाद जी के समय से होता चला आ रहा है। इस प्रकार धनुषयज्ञ की यह परम्परा दो सौ वर्ष से भी कुछ पुरानी प्रतीत होती है।

गोस्वामी जी काशी की रामलीला आश्विन मास में विजयादशमी पर करवाते थे, और अयोध्या में चैत्र मास में राम के जन्म-महोत्सव के उपलक्ष्य में उसका आयोजन करते थे। अयोध्या में गोस्वामी जी प्रतिवर्ष रामनवमी के अवसर पर रामलीला की व्यवस्था के लिए पधारते थे, और कहा जाता है कि उनके साथ काशी के प्रसिद्ध मेघा भगत[1] भी आया करते थे। रामलीला जिस स्थान से आरम्भ होती थी उसे आजकल तुलसी चबूतरा कहते हैं। इसी स्थान पर गोस्वामी जी ने रामायण की रचना भी प्रारम्भ की थी।

काशी और अयोध्या की रामलीला के समय में अन्तर होने से गोस्वामी जी को दोनों में सम्मिलित होने तथा दोनों की समुचित व्यवस्था करने की सुविधा तथा अवकाश रहता होगा, परन्तु इसका मुख्य उद्देश्य तो कदाचित् यह होगा कि राम के जीवन की दो महत्वपूर्ण घटनाओं—उनका जन्म और उनके द्वारा रावण वध—की स्मृति सार्वजनिक रूप में सम्यक् सुरक्षित रहे। आजकल भी रामलीला के ये ही दोनों समय हैं। उत्तरप्रदेश के अधिक भागों में रामलीला के ये ही दोनों समय हैं। उत्तरप्रदेश के अधिक भागों में रामलीला आश्विन में होती है और राजपूताना, मालवा आदि में वह चैत्रमास में होती है। इस प्रकार रामलीला के अभिनय-समय पर तो गोस्वामी तुलसीदास जी की व्यवस्था का प्रभाव स्पष्ट है।

यदि हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लें कि रामलीला का समय निश्चित करने के सम्बन्ध में गोस्वामी जी ने कोई नई बात नहीं की, वरन् उन्होंने एक पुरानी चली आती हुई परम्परा को ही ग्रहण कर उसे पुनरुज्जीवित किया, तो भी हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में रामलीला की प्रचलित परिपाटी पर अनेक रूपों में गोस्वामी जी का प्रभाव मान लेने में किसी प्रकार की बाधा अथवा कठिनाई का अनुभव नहीं होता। यही कारण है कि आज बहुत से लोग गोस्वामी जी को ही रामलीला का आदि प्रवर्तक मान बैठे हैं। यह बताया जा चुका है कि राम-लीला की परम्परा कितनी प्राचीन है। एक उल्लेख यह भी मिलता है कि

१. दे०–भक्तमाल प्रियादास जी की टीका।

गोस्वामी जी के द्वारा रामलीला प्रारम्भ होने से पूर्व काशी में मेघा[1] भगत की रामलीला होती थी। ऐसा अनुमान हो सकता है कि विपरीत परिस्थितियों से आक्रांत होकर रामलीला की वह अभिनय-परम्परा कालान्तर में ह्रासोन्मुख और विरल हो गई हो, और मेघा भगत सरीखे साधु-सन्त उसे काशी जैसे स्थानों में ज्यों का त्यों चलाते चले आ रहे हों। इसी का गोस्वामी जी ने उद्धार किया और नये सिरे से उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। अतएव गोस्वामी जी यदि रामलीला के आदि-प्रवर्तक नहीं, तो उसके स्वरूप के नवीन निर्माता तथा उद्धारक तो निर्विवाद रूप से सिद्ध हैं। गोस्वामी जी जैसा महान् कवि और परिपूर्ण कलाकार रामपरक श्रव्य काव्य को रामचरितमानस में चरम उत्कर्ष तक पहुँचाकर तत्सम्बन्धी दृश्यकाव्य रामलीला की उपेक्षा करता, यह सम्भव भी नहीं था।

रामलीला में मूक-अभिनय (dumb shows) का भी योग रहता है। ई० पी० हारविज[2] ने लिखा है—"The people of India look upon dumb shows with as much favour as the English do on Christmas Pantomimes.

अर्थात् "भारतीय मूक-अभिनय को उतना ही पसन्द करते हैं—जितना अँगरेज बड़े दिन के अवसर पर होने वाले स्वाँगों को।" हारविज ने विशप हेबर के विवरण का हवाला देते हुए रामलीला की प्रविधि पर प्रकाश डाला है।[3]

---

१. दे०, ना० प्र० सभा, काशी से प्रकाशित रामचरितमानस की भूमिका।

२. इण्डियन थियेटर पृ० १५८ ई० पी० हारविज।

३. "Bishop Heber describes the "Seize of Lanka as he saw it performed at the Ram Lila festival in Allahabad. Ravana's palace was constructed of bomboo reeds, and decorated with coloured papers. Doors and windows were gaily painted and a frightful paper-giant stood on the roof of the building The ogre was fifteen feet high and had twelve arms with some kind of weapon in each. At his feet sat a little girl meant to be Sita, two green dragons made of inflated bladder were guarding the prisoners. The litt'e mite was wrapped in a gorgeous veil, and must have fe:t very tired for she drooped her curly head and was soon fast asleep. Hanuman having a monkey's mask pulled over his ears was capering and ganbolling outside the

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि रामलीला में मूक-अभिनय का स्थान बड़ा प्रमुख रहता है, पर रामलीला में उसकी योजना के लिए अल्पातिअल्प अवकाश रहता है। रामलीला का रंगमंच जितना विराट् और उन्मुक्त है, रासलीला का उतना ही लघु और सीमित। पर रासलीला की ही तरह रामलीला की भी विशिष्ट अभिनय-प्रविधि का स्वतन्त्र विकास हुआ है और उसने भी एक सीमा तक हिन्दी-नाट्य-परम्परा को प्रभावित किया है। रामलीला के प्रारम्भ में पूर्वरंग की एक निश्चित विधि का पालन किया जाता है, जिसमें स्थान-भेद से प्रकार-भेद भी देखा जाता है। कहीं यह लीला भगवान् के मुकुटों के पूजन से आरम्भ होती है और कहीं इसी प्रकार के अन्य कर्मकाण्ड से। रामलीला की प्रविधि का निरूपण करनेवाले जो कतिपय ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें पात्रों के चुनाव-सम्बन्धी निर्देश दिये गये हैं। पात्रों के लिए यह आवश्यक माना गया है कि वे सब चतुर और उच्च स्वर से बोलने वाले हों। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न सब कुमार अवस्था के और चतुर हों। सीता कुमारी और कोमल प्रकृति की हों, शूर्पणखा पतली लम्बे डील की चतुर और परशुराम तीक्ष्ण प्रकृति के हों। इसी प्रकार रामलीला की रंगमंचीय व्यवस्था और पात्रों की वेशभूषा के विषय में भी विस्तृत निर्देश प्राप्त होते हैं। 'आनन्द रामायण' में रामलीला के विधान का सविस्तार विवेचन प्राप्त होता है।

रामलीला के अभिनय का आधार रामचरितमानस है। लीलाभिनय करने वाले पात्र रामचरितमानस की चौपाइयों को कण्ठस्थ कर लेते हैं और कथोपकथनों में प्रायः उन्हीं का प्रयोग करते हैं। यदि उन्हें चौपाइयाँ कण्ठस्थ नहीं होतीं, तो सूत्रधार अथवा व्यास उनको पढ़ते हैं और अभिनेतागण उनका भाव अपने शब्दों में व्यक्त करते हैं। रामलीला के रंगमंच और प्रेक्षागृह का निर्माण किसी मैदान में बाड़ा बाँधकर किया जाता है, लीलाभिनय में भाग लेने वाले पात्र इसी में घूम-घूम कर लीला करते हैं। वे थोड़ी-थोड़ी दूर चलकर खड़े होकर अपना पाठ्य प्रस्तुत करते हैं।

जिस प्रकार रासलीला की प्रविधि ने हिन्दी-साहित्य पर अपना प्रभाव डाला है, उसी प्रकार रामलीला का भी प्रभाव पड़ा है। भक्ति-काल के अन्तर्गत सम्भवतः रामलीला की अभिनय एवं रंगमंच की परम्परा को ध्यान में रखकर ही कविवर प्राणचंद ने 'रामायण महानाटक' लिखा और हृदयराम ने 'हनुमन्नाटक' की रचना की। 'रामायण महानाटक' में कवि ने गोस्वामी

---

city gates. He had a long bushy tale and his skin was dyed with indigo."

तुलसीदास जी के मानस की शैली का अवलम्बन किया है, और कथानक के संगठन में वाल्मीकि की 'रामायण' से भी सहायता ली है। रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह ने रीतिकाल के अन्तर्गत हिन्दी का प्रथम माना जानेवाला नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' लिखा। यह नाटक भी रामलीला की अभिनय-परम्परा से प्रभावित है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती में भी कई रामलीला नाटक लिखे गये। इनमें उदय कवि-कृत 'हनुमान नाटक', 'राम करुना' (लक्ष्मण संग्राम नाटक) और 'अहिरावन लोला', हरिराय का 'जानकी-रामचरित', लक्ष्मण शरण 'मधुकर' का 'रामलीला बिहार' विशेष उल्लेखनीय है। आगे चलकर भारतेन्दु ने इस नाट्यपरम्परा की अंतर्निहित वास्तविक शक्ति का भी साक्षात्कार किया और उन्होंने काशी की प्रसिद्ध रामलीला के लिए सरस पाठ्य का प्रणयन किया जिसमें 'पाठक' और 'धारक' दोनों के लिए उपयुक्त सामग्री मिलती है, साथ ही सूत्रधार के लिए आवश्यक रंग-निर्देश भी दिए गए हैं। उसके आरम्भ के कुछ अंश यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

श्री राम लीला

पद

हरि, लीला सब विधि सुखदाई।
कहत सुनत देखत जिय आनत देति भगति अधिकाई ।।
प्रेम बढ़त अघ नसत पुन्य-रति जिय मैं उपजत आई।
याही सो हरिचंद करत सुनि नित हरि-चरित बड़ाई ।। १ ।।

गद्य

अहा! भगवान की लीला भी कैसी दिव्य और धन्य पदार्थ है कि कलिमल-ग्रसित जीवों को सहज ही प्रभु की ओर झुका देती है और कैसा भी विषयी जीव क्यों न हो दो घड़ी तो परमेश्वर के रंग में रँग ही देती है। विशेष करके धन्य हम लोगों के भाग्य कि श्रीमान् महाराज काशिराज भक्त-शिरोमणि की कृपा से सब लीला विधिपूर्वक देखने में आती है। पहले मङ्गलाचरण होकर रावण का जन्म होता है फिर देवगण की स्तुति और बैकुण्ठ और क्षीरसागर की झाँकी से नेत्र कृतार्थ होते हैं। फिर तो आनन्द का समुद्र श्री राम-जन्म का महोत्सव है जो देखने ही से सम्बन्ध रखता है, कहने की बात नहीं।

कबित्त

राम के जनम माँहि आनँद उछाह जौन
सोई दरसायो ऐसी लीला परकासी है।
तैसे ही भवन दसरथ राज रानी आदि
तैसो ही आनंद भयो दुख-निसि नासी है।

सोहिलो बधाई द्विज दान गान बाजे बजैं
रंग फूल-वृष्टि चाल तैसी ही निकासी है।
कलियुग त्रेता कियो नर सब देव कीन्हें
आजु कासीराज जू अजुध्या कीनी कासी है ॥ २ ॥

फिर श्री रामचन्द्र की बाल-लीला, मुण्डन, कर्णबेध, जनेऊ, शिकार खेलना आदि ज्यों का त्यों होता है, देखने से मनुष्य भवदुःख मूल से खोता है। फिर विश्वामित्र आते हैं संग में श्रीराम जी को सानुज ले जाते हैं। मार्ग में ताड़िका सुबाहु का वध और फिर चरण-रेणु से अहिल्या का तारना। अहा ! धन्य प्रभु के पद-पद्म जिनके स्पर्श से कहीं मनुष्य पारस होता है, देवता बनता है, कहीं पत्थर तरता है। इस प्रभु की दीन दयाल पर श्री मन्महाराज की उक्ति।

दोहा

हम जानो तुम देर जौ लावत तारण माँहि।
पाहनहू तें कठिन गुनि मो हिय आवत नाँहि ॥ ३ ॥
तारन मैं मो दीन के लावत प्रभु कित बार।
कुलिस रेख तुव चरनहू जो मम पाप पहार ॥ ४ ॥

कवि की उक्ति

मो ऐसे को तारिबो सहज न दीन दयाल !
आहन पाहन वज्रहू सों हम कठिन कृपाल ॥ ५ ॥
परम मुक्तिहू सों फलद तुअ पद-पदुम मुरारि।
यहै जतावन हेत तुम तारी गौतम-नारि ॥ ६ ॥
एहो दीनदयाल यह अति अचरज की बात।
तो पद सरस समुद्र लहि पाहनहू तरि जात ॥ ७ ॥
कहा पखानहुँ तें कठिन मो हियरो रघुवीर।
जो मम तारन मैं परी प्रभु पर इतनी भीर ॥ ८ ॥
प्रभु उदार पद परसि जड़ पाहनहूँ तरि जाय।
हम चैतन्य कहाइ क्यों तरत न परत लखाय ॥ ९ ॥
अति कठोर निज हिय कियो पाहन सों हम हाल।
जामैं कबहूँ मम सिरहु पद-रज देहिं दयाल ॥ १० ॥
हमहूँ कछु लघु सिल न जो सहजहिं दीनौ तार।
लगिहै इत कछु बार प्रभु हम तौ पाप-पहार ॥ ११ ॥

फिर श्री रामचन्द्र जी सानुज जनक-नगर देखने जाते हैं पर नारियों के मन नैन देखते ही लुभाते हैं।

कवित्त

कोऊ कह यहै रघुराज के कुँवर दोऊ
कोऊ ठाढ़ी एक टक देखै रूप घर मैं।
कोऊ खिरकीन कोऊ हाट बाट धाई फिरै
बावरी ह्वै पूछै गए कौन सी डगर मैं॥
'हरीचंद' झूमै मतवारौ दृग मारौ कोऊ
जकी सी थकी सी कोऊ खरी एकै घर मैं।
लहर चढ़ी सी कोऊ जहर मढ़ी सी भई
अहर पड़ी है आजु जनक सहर मैं॥१२॥

फिर श्रीराम जी फुलवारी में फूल लेने जाते हैं। उस समय फुलवारी की रचना, कुञ्जों की बनावट, कल के मोरों का नाचना और चिड़ियों का चहकना यह सब देखने ही के योग्य है।

इतने में एक सखी जो कुञ्जों में गई तो वहाँ राम रूप देख कर बावली हो गई। जब वहाँ से लौटकर आयी तो और सखियाँ पूछने लगीं।

—भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ७७० से ७७२ तक।

भारतेन्दु जी के सहयोगियों ने भी रामलीला नाटकों की परम्परा का समुचित साहित्यिक उपयोग किया। इस दृष्टि से 'प्रेमघन' के 'प्रयाग-रामागमन' नाटक का स्थान विशिष्ट है। प्रयाग की प्रसिद्ध प्रदर्शनी के अवसर पर इसका अभिनय भी प्रयाग के सांस्कृतिक इतिहास में अमर हो गया है। इस युग में रामलीला नाटकों की परम्परा को पुरस्सर करनेवालों में 'जानकी मंगल' और 'रामचरितावली' के रचयिता ईश्वरी प्रसाद, 'रामलीला रूपक' के प्रणेता दामोदर शास्त्री, 'रामलीला नाटक' और 'सीता वनवास' के लेखक श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र का नाम भी स्मरणीय है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने 'रामलीला नाटक' को अंकों और दृश्यों में विभाजित न कर उसे दर्शनों में बाँटा है। इस नाटक में बालकाण्ड की कथा को ग्यारह दर्शनों में विभाजित किया गया है और अयोध्याकाण्ड की कथा दस दर्शनों में विभक्त है। अन्य काण्डों की कथा भी इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न संख्या वाले दर्शनों में बँटी है। अनेक परवर्ती श्रद्धालु लेखकों ने दृश्यों के नामकरण में इसी पद्धति का अवलम्बन किया है।

ज्वालाप्रसाद मिश्र का सबसे उल्लेखनीय काम यह है कि उन्होंने अपने 'रामलीला नाटक' के उपोद्‌घात में परम्परा से चली आती हुई रामलीला की अभिनय-प्रविधि का विस्तृत विवरण दे दिया है। उनके पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी अन्य लेखक ने इस विषय का सम्भवतः ऐसा सांगोपाङ्ग निर्देश नहीं किया है।

इस विवरण में अनगढ़ रूप में हिन्दी में रामलीला के अभिनय-शास्त्र के सब तत्व विद्यमान हैं। सबसे पहले इसमें उपयुक्त अभिनेताओं के चुनाव का मानदंड निरूपित हुआ है, और बड़े विस्तार से यह बताया गया है कि रामलीला के अभिनेताओं का चुनाव करते समय उनमें रामायण के पात्रों के वय, वपु, वर्ण और शील की अनुरूपता का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। इसके पश्चात् उसमें दृश्य-योजना-सम्बन्धी अत्यन्त उपयोगी रंग-निर्देश दिए गए हैं, जो लोकधर्मी नाट्य-परम्परा का सहज सुलभ रूप हमारे सामने उपस्थित कर देते हैं। उदाहरणस्वरूप उन्होंने यह बताया है कि 'क्षीरसागर के स्थान में एक श्वेत वस्त्र बिछा हो, परदे के पीछे से आकाशवाणी हो।........राम के बाण छोड़ते ही गुब्बारे के समान शिर हाथवाले मारीच के पेट में धुआँ भर कर उड़ा देना चाहिए।........ फिर वहाँ से चलकर मार्ग में एक कपड़े से ढँकी स्त्री को चरण छुआय कर राम उद्धार करें........शरभंग मुनि का खपच्ची का ढाँचा बनाया जाये इसके पीछे एक मनुष्य बैठकर बातचीत करै, पीछे उसमें अग्नि देने से वह आदमी उठ जाय।........जटायु कागज का बना हुआ किसी मनुष्य के उठाने पर युद्ध करे। जटायु की क्रिया होने पर उसके नीचे से निकला हुआ पुरुष मुकुटादि पहने विष्णु रूप से चला जाय। " ....ताड़ के कृत्रिम सात पेड़ बना उसमें एक तार बाँध दें जो राम के बाण मारते ही खैंचने से दूर जा पड़े........कृत्रिम समुद्र श्वेत कपड़ा बिछा कर इतना चौड़ा बनाया जाय कि हनुमान उसको एक छलाँग में लाँघ जाय।" ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसी प्रकार के सरल निर्देश स्थान-योजना के विषय में भी दिए हैं, दो-चार उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

कोपभवन	—इसमें बिछौना बिछा हो, एक चौकी सा घर हो।
चित्रकूट	—एक ऊँचा स्थान कृत्रिम वृक्षों से युक्त हो।
पंचवटी	—मार्ग में मुनियों के आश्रम, कृत्रिम वृक्ष, एक चौकी बिछी हुई।
मारीच का घर	—मारीच को बैठने को चारपाई, रावण को कुर्सी।
रावण सभा	—बीच में कुर्सी इधर-उधर तिपाई हों।
शबरी का स्थान	—चटाई बिछी हुई, कुशा के आसन धरे हुए।
लंका	—एक बड़ा सा स्थान कागज का विचित्र मढ़ा हुआ, जिसमें चार द्वार हों, ऊपर बैठका हो।
पाताल लोक	—नेपथ्य में हो, तो जाली के भीतर लीला हो।

इसी प्रसंग में आगे चलकर मिश्र जी ने पात्रों के वेश-विन्यास के सम्बन्ध में भी विस्तृत निर्देश दिये हैं। उसके भी कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

ऋषि —शिर पर जटाजूट बाँधे, गले में तुलसीमाला, जनेऊ पहरे, हाथ में कमंडलु, पीताम्बर ओढ़े, धोती खड़ाऊँ पहरे, माथे पर तिलक, लंबी दाढ़ी जिसमें काले-सफेद बाल।

राम —राजकुमारों का सा वेष, विवाह तक सब भूषण किरीट आदि धारण किए, बहुमूल्य वस्त्र पहरे, वन जाने के समय जटा मुकुट पीताम्बर पहरे हाथ में धनुषवाण।

निषाद —हरे रंग का अँगरखा, लाल जाँघिया, पगड़ी में गोटा लगा, हाथ में धनुषवाण।

राक्षसियाँ —काला लहँगा, काली छींट का दुपट्टा।

मन्दोदरी सुलोचना—राजकीय वस्त्राभूषण गौर वर्ण।

मंत्री —अँगरखा, घुटन्ना, पगड़ी, जूता, दुपट्टा, दुशाला, माला, कंठी पहरे हुए।'

ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपनी 'रामलीला रामायण' में गोस्वामी जी के 'रामचरितमानस' को ही नाटकीय रूप प्रदान किया है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, प्रत्येक काण्ड दर्शनों में बँटा है। प्रारंभ में नांदी है, जिसमें बालकाण्ड के प्रारम्भ के मंगलाचरणात्मक श्लोक और सोरठा संकलित हैं। पाद-टिप्पणियों में उनका अर्थ भी दिया गया है। प्रस्तावना में शिव-पार्वती संवाद का कुछ अंश रामायण से उद्धृत है। पद्यांश समाप्त होने पर शिव जी पार्वती से कहते हैं—'वह देखो रावणादि से भय पाए देवता क्षीरसागर में भगवान् के पास जाते हैं, हम भी चलें।' इसके पश्चात् क्षीरसागर के तट पर लीला आरम्भ हो जाती है।

इस परंपरा के अन्य उल्लेखनीय नाटक हैं तेलियानाला, वाराणसी के ब्रजचंद जनवल्लभी का लिखा हुआ 'रामलीला नाटक (बालकाण्ड)', गोस्वामी नारायण सहाय का 'रामलीला नाटक रामायण', दाशरथीदास 'दिव्य' का 'रामलीला सहायक नाटक', स्वामी जगन्नाथदास का 'बृहद्रामयशदर्पण नाटक', मंगली प्रसाद का 'रामचरित्र नाटक अर्थात् रामलीला', रसिक बिहारी जी की 'फुलवारी लीला', काशी के बल्लूलाल की 'रामलीला कौमुदी', कानपुर के ललित कवि का 'राययश दर्पण नाटक' तीन भाग। इन सब रचनाओं में प्रायः आधार ग्रन्थ के रूप में रामचरितमानस का ही उपयोग किया गया है, किसी-किसी में प्रचलित सामयिक प्रविधियों का भी समावेश किया गया है। गोस्वामी नारायण सहाय के 'रामलीला नाटक रामायण' में पारसी नाटकों की शैली को भी आग्रह-पूर्वक ग्रहण किया गया है। उन्होंने भूमिका में स्वयं लिखा है कि इसमें 'नाटकी

धुन पर हर तरह के दिलचस्प गाने सरल ब्रजभाषा में पूरित हैं। ....रामलीला किसी-किसी नगरों में तो अभिनय (नाटक) रीति पर आरम्भ हो गई है, जिनमें साधारण रामलीलाओं की अपेक्षा विशेष आनन्द तथा रामचरित्र का प्रभाव दर्शकों के चित्र पर पूर्ण रूप से पड़ता है।' इसमें 'नाटकी धुन' और 'अभिनय (नाटक) रीति' का स्पष्ट अर्थ पारसी शैली है। उसके उपर्युक्त कथन में विशेष आनन्द की यह व्यंजना सर्वथा अप्रच्छन्न है कि लेखक पारसी नाटकों के आडम्बर और तड़क-भड़क के सामने रामलीला की आडम्बर-शून्य मार्मिकता को हीन दृष्टि से देखने लगा था। पारसी नाटकों द्वारा उत्पन्न की गई यह विकृति अन्य दिशाओं में भी लक्षित होती है। मंगली प्रसाद ने भी अपने 'रामचरित्र नाटक' में नाटक-पात्र-सूचना के अन्तर्गत पात्रों की वेशभूषा का जो विस्तृत विवरण दिया है, उसमें भी नया प्रभाव दिखाई पड़ता है।

रामलीला-नाटकों की इस परम्परा का अनुशीलन करने के पश्चात् यह प्रश्न मन में स्वाभाविक रूप से उठता है कि इस परम्परा में रासलीला की शैली की परम गुह्य मानी जाने वाली निकुंज-लीलाओं का प्रणयन हुआ अथवा नहीं ? अब तो यह भी सिद्ध हो गया है कि रामभक्ति में भी रसिक-सम्प्रदाय उतना ही पुराना है जितना कि कृष्ण-भक्ति के अंतर्गत। रामभक्ति के क्षेत्र में रसिक-साधना की धारा का विस्तार भी कृष्ण भक्ति-क्षेत्र की अपेक्षा कम नहीं है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने लिखा है—"अति प्राचीनकाल से ही श्रीराम की उपासना चली आ रही थी, किन्तु उसका विशेष विकास आठवीं शताब्दी ईसवी के पश्चात् हुआ। शटकोपवम्मलवार से लेकर श्रीकृष्णदास पयहारी पर्यंत श्रीरामचन्द्र जी की उपासना के विषय में जिस साहित्य की रचना हुई थी, उसमें रसिक भावना की स्पष्ट छाप विभिन्न स्थलों में दिखाई देती है। इतस्ततः बिखरे रहने पर भी यह समस्त वाङ्मय एक अप्रकाशित गुह्य साधना का अंगीभूत है।" कुछ विद्वानों का कहना है कि स्वयं गोस्वामी तुलसीदास जी भी मधुर भाव के साधक थे। 'गीतावली में श्रृंगार के कई ऐसे पद हैं जो सिद्ध करते हैं कि गोस्वामी जी का बाह्य (साधक) रूप मर्यादावादी दास्य भाव का था, परन्तु आन्तरिक गुह्य (सिद्ध) रूप लीला विलासी सखी भाव का था।'[१] ऐसी स्थिति में राम की रागमयी भक्ति का साहित्य के श्रव्य और दृश्य दोनों ही रूपों पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। डॉ० भगवती प्रसाद सिंह[२] का कहना है कि "रसिक रामभक्तों की एक अन्य उल्लेखनीय देन है राम की श्रृंगारी लीलाओं के

१. भुवनेश्वर माधव कृत 'राम भक्ति साधना में मधुर उपासना', पृ० ११७।
२. डॉ० भगवती प्रसाद सिंह कृत 'रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय', पृ० ५५१।

प्रदर्शन का विकास। तुलसी के समकालीन, नाभादास के 'भक्तमाल' से ज्ञात होता है कि उस समय अथवा उसके कुछ पहले से समाज में रामचरित का प्रदर्शन भिन्न-भिन्न रूपों में चला आ रहा था। मानदास ने नाटक के रूप में तथा मुरारिदास और प्रयागदास ने रासक के रूप में रामचरितमानस दिखाया था। स्वयं तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' के आधार पर काशी में सम्पूर्ण रामलीला और जयरामपुर (सीतापुर) में रामविवाह लीला का प्रदर्शन कराया था, ऐसी किंवदंती प्रसिद्ध है। इन लीलाओं के आयोजन में उन्हें रसिक रामभक्तों से प्रेरणा मिली हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।'' कम से कम मार्गशीर्ष मास में होनेवाली रामविवाह लीला की परम्परा निश्चय ही रसिक सम्प्रदाय की देन है।

फिर रामभक्ति में श्रृंगारी लीलाओं के प्रदर्शन ने कभी भी वह अवांछनीय रूप नहीं ग्रहण किया, जो कृष्णभक्ति की मधुर उपासनापरक निकुंज लीलाओं में देखा गया। इसका प्रमुख कारण गोस्वामी तुलसीदास जी के कठोर मर्यादावादी व्यक्तित्व की परम सात्विक प्रेरणा ही है। इसके अतिरिक्त मधुर उपासना के आचार्यों ने भी रागमयी भक्ति को 'परम गोपनीय' घोषित किया—'गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं च सर्वदा।' इन आचार्यों ने इस साधना-सिद्धान्त और साहित्य का लोक में प्रचार भी सर्वथा वर्जित कर दिया। इसलिए इस उपासना का समाज पर अपेक्षाकृत कम अहितकर प्रभाव पड़ा।

(३)

पहले लिखा जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अयोध्या में रामलीला की जो परम्परा चलाई थी, वह अवध और उत्तर प्रदेश के अन्य जनपदों में प्रायः लुप्त हो गई है। वहाँ रामलीला अब आश्विन मास में ही होती है। पर राजस्थान में चैत्र मास में सम्पन्न होनेवाली रामलीला की परम्परा अब भी चली आ रही है। वहाँ आश्विन मास में विजया दशमी के दिन बाँस और कागज के बने हुए रावण के पुतले को ध्वस्त कर और जला कर केवल रावण-वध की परम्परा का पालन किया जाता है। जन्म से आरम्भ कर भगवान् राम के जीवन की सब लीलाओं का अभिनय वहाँ प्रायः रामनवमी के अवसर पर चैत्र के शुक्ल पक्ष में ही होता है। ब्रज में जिस प्रकार रासलीला की मंडलियाँ हैं, वैसी ही व्यावसायिक और अव्यावसायिक दोनों ही प्रकार की रामलीला की मंडलियाँ राजस्थान में हैं जो घूम-घूम कर रामलीला का अभिनयात्मक प्रदर्शन करती हैं। कदाचित् इसी को लक्ष्यकर देवीलाल सामर ने लिखा है—'राजस्थान में भी

अपनी रामलीला की पार्टियाँ हैं, जो दशहरे पर ही नहीं, किन्तु वर्ष में कभी भी अपने प्रदर्शन करती हैं।'[1]

रामलीला की अव्यावसायिक एवं विशुद्ध धार्मिक परंपरा का एक ही रूप लेखक को वहाँ दिखाई पड़ा। उत्तर प्रदेश के विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों में रामलीला में जो स्थानगत विभेद या वैशिष्ट्य मिलता है, वह वहाँ देखने में नहीं आया। पीपलदार, माँगरोल, कनवास और पाँटोदा की रामलीला बहुत लोकप्रिय है। वहाँ यह भी सुनने में आया कि लगभग पचास वर्ष पूर्व पाँटोदा-निवासी मदार बख्श ने रामलीला के उत्थान में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया था।

राजस्थान में रामलीला का रंगमंच चारों ओर से खुला हुआ रहता है। रंगमंच के काम के लिए एक चबूतरा रहता है, जिसके ऊपर चँदोवा तान दिया जाता है। रंगमंच के पास ही एक कुंज रहती है, जहाँ नक्कारे बैठा दिए जाते हैं। सब स्वरूप आकर उस रंगमंच पर पहले से ही यथास्थान बैठ जाते हैं और लीला के अनुक्रम से वाद्य के साथ-साथ संगीतात्मक संवाद चलते रहते हैं, गद्य का प्रयोग प्रायः नहीं ही किया जाता है। भगवान् राम के जीवन की जन्म से लेकर अभिषेक तक की सब लीलाएँ होती हैं, सीता-वनवास की घटना से संबंधित उत्तररामचरित का समावेश उसमें नहीं किया जाता। बीच-बीच में अहल्या, गंगावतरण आदि की जो प्रासंगिक कथाएँ आती हैं, उनका भी सांगोपांग अभिनय किया जाता है।

अभिनेताओं के आहार्य में भी औचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। ऋषियों और साधुओं की वेशभूषा में पीताम्बर रहता है, विशेषता यह है कि राक्षसियों की वेशभूषा भी शिष्ट महिलाओं जैसी रखी जाती है, केवल ताड़का और शूर्पणखा इसका अपवाद होती हैं जो राक्षसियों के चेहरे लगाती हैं। समुद्र ब्राह्मण के रूप में प्रकट होता है और जटायु, जामवन्त आदि के उनकी जाति के सूचक चेहरे लगाये जाते हैं। राम और उनके अनुज पीताम्बर पहनते हैं, मुकुट, कुण्डल, किरीट धारण करते हैं, तथा धनुष-बाण और निसंग से सज्जित रहते हैं। बन्दर लाल जाँघिया पहनते हैं जिसमें सफेद किनारी लगी रहती है, कुर्ता भी लाल ही रहता है, उनका मुँह भी कुंकुम से लाल कर दिया जाता है।

दृश्य-विधान के लिए बड़ी सुलभ प्राविधि का अवलम्बन किया जाता है। दो आदमी एक सफेद चादर को पकड़कर खड़े हो जाते हैं और उससे गंगा का दृश्य प्रस्तुत हो जाता है। सेतु का दृश्य भी इसी प्रकार दिखा दिया जाता है। लंका रामलीला के अखाड़े से अलग बनाई जाती है। चारों किनारों पर ऊँचे लट्ठे

---

१. राजस्थानी लोकनाटच—पृ० ३५।

खड़े कर दिये जाते हैं, ऊपर तख्ते बिछाकर उन पर रावण का दरबार लगाया जाता है—मचान जैसा। लंका के चार तरफ चार द्वार रहते हैं, जिन पर घड़े रहते हैं और उन्हीं को फोड़कर हनुमान जी द्वार-भंग की सूचना देते हैं।

रामलीला आरम्भ होने के पूर्व नाटकों के नांदी की तरह विभिन्न देवताओं की स्तुति द्वारा मंगलाचरण किया जाता है। सबसे पहले आयोजन की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्राम-देवताओं की पूजा होती है और प्रथम दिन अखाड़े के एक किनारे पर ध्वजा की स्थापना की जाती है, जो भरत के नाट्यशास्त्र की स्थापना का जर्जर अवशेष प्रतीत होता है।

राजस्थान में जिस रामायण के आधार पर रामलीला होती है, वह हड़ौती भाषा में लिखी हुई है। यह रामायण जिन ग्रन्थों का आधार लेकर लिखी गई है, वे हैं—(१) वाल्मीकि रामायण (२) अध्यात्म रामायण (३) प्रसन्न राघव, और (४) तुलसीदासकृत रामायण। आज से काफी समय पूर्व लेखक को इसकी अमुद्रित हस्तलिखित प्रति ही प्राप्त हुई थी। यह दोहा छंद में है और संवादात्मक है और प्रायः इसी से पूरी रामलीला होती है। वह यद्यपि धारावाहिक वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य नहीं है, पर उसमें भगवान् राम के जीवन की घटनाओं का क्रमबद्ध संवादात्मक उल्लेख है। उसका स्वरूप संवादों से परिपूर्ण एक संगीतात्मक नाटक जैसा है। कोटा के वकील श्री अमर सिंह राजस्थान के लोकनाटकों के अच्छे जानकार हैं, उन्हीं से मुझे हड़ौती भाषा की इस रामायण के विषय में जानकारी प्राप्त हुई थी। इसके कुछ अंश भी मैंने उनसे सुने थे। उनसे यह भी ज्ञात हुआ था कि कम से कम ८०-९० वर्ष से यह रामायण इसी रूप में चली आ रही है, और वास्तव में यह बहुत दिनों से चली आती हुई काव्यात्मक संवादों की परम्परा का विकास या संकलन सी प्रतीत होती है। इस रामायण के सुने हुए प्रसंग का एक विदग्ध अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

अशोक-वाटिका

तान

सीताजी —मुद्रिका किसन पट की झोल
जिन्हों का मुझे पड़ा नहीं तोल,
हनुमानजी—मात हनुमंत राम को दूत
मात अंजनी को खीजे पूत।

टेक

सीताजी —कसी घड़ी कों जनम तुम्हारो
कसी घड़ी को दूत

आज थारी उत्पन देव बताय
तुशा सुँतो तू पदा होयो पूरा ख समाचार ।। मुद्रिका ।।
हनुमानजी—उसी घड़ी को जनम हमारो गंगा नवाई शिवमाघ
दृष्टि ना पड़ी अंजनी प जार
सदाशिव जी सूँ उत्पन्न म्हारी ये म्हारा समचार ।। मात ।।
सीताजी —न देखो मंन पुरी अयोध्या न सरजू की तीर
रामं की खद मूँ होयो र लार
जल्दी बतार मंन पवनसुत पूछूँ बारम्बार ।। मुद्रिका ।।
हनुमानजी—न रहूँ माजी पुरी अयोध्या न सरजू की तीर
मल्यो यूँ ऋषमुख पर्वत जार
सेवा करूँ सुग्रीव कीस री थे म्हारा समचार ।
सीताजी —जनम जनम की बाँताँ सुणता आयो म्हार विसवास
एक लक्ष्मण का खह समचार
गोड आर म्हार पवनसुत पूछूँ लंका माँहि ।। मुद्रिका ।।
हनुमानजी—ऋष्यमुख प महाराज विराजे अठार पदम दल लार
मार लीनो छ राजा बाल
बाल मार कर अंगद थाप्यो
सुग्रीव को मेल्यो माल ।।

मध्यकालीन साहित्यिक नाट्य परम्परा

कुछ लोगों के मतानुसार भारतवर्ष की प्राचीन नाट्य-परम्परा एक बार समाप्त हो गई थी और हिन्दी नाटक की उत्पत्ति एक नये सिरे से हुई। उन लोगों का यह भी मत है कि रामलीला, रासलीला तथा पुरानी गीति-नाट्य की परम्परा ने हिन्दी-नाटक के उद्‌भव और विकास में कोई योग नहीं दिया। ऐसे मत इस भ्रमात्मक धारणा पर अवलम्बित हैं कि जो नाटक पाश्चात्य नाटकों की शैली पर न लिखा जाय, वह नाटक ही नहीं है। पहले के प्रकरणों में स्पष्ट किया जा चुका है कि भारतीय नाट्य-परम्परा ने वैष्णव आन्दोलन से प्रेरणा और शक्ति प्राप्त कर मध्यकाल में एक नया ही रूप प्राप्त किया। इस काल में अभिनय और रंगमंच की कतिपय विशिष्ट रूढ़ियों एवं परम्पराओं का प्रादुर्भाव हुआ, जो थोड़े ही दिनों में सामाजिक जीवन में बद्धमूल हो गई। विद्वद्वर डॉ० दशरथ ओझा ने १५ वीं शताब्दी में नाटक के नव्योत्थान का विवरण प्रस्तुत करते हुए ठीक ही लिखा है कि—'उद्‌भट विद्वान्, महात्मा संस्कृत और लोक-प्रचलित नाट्य-

पद्धतियों के मिश्रण से एक अभिनव नाट्य शैली का प्रयोग कर रहे थे और उन्होंने देवालयों को केन्द्र बनाकर संस्कृत मिश्रित हिन्दी के माध्यम से वैष्णव धर्म का परिज्ञान कराया। इस युग में वैष्णव धर्म का सर्वत्र प्रचार हो रहा था। समस्त उत्तर और दक्षिण भारत वैष्णव-भक्तों के मधुर गीतों से गुंजरित हो रहा था। इन गेय पदों को गा कर तथा रंगशाला में इन्हें अभिनेय बनाकर कविगण वैष्णव धर्म का प्रसार करते। ये संत महात्मा रामकृष्ण, ध्रुव, प्रहलाद आदि विविध अवतारों की लीलाएँ नाटक के रूप में जनता के सम्मुख प्रदर्शित करते।' परन्तु जिन लोगों को अपने नाटक के इस नव्योत्थान का ज्ञान नहीं, उनकी दृष्टि में वह विशाल नाट्य-साहित्य जो लीलाओं और चरित्रों के रूप में हमारे अभिनय और रंगमंच की तत्कालीन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करता चला आया है, नाटक नहीं रह जाता। मध्यकालीन हिन्दी नाटक के कतिपय समीक्षकों ने ऐसी हास्यास्पद धारणा भी बना ली है कि जिस ग्रन्थ के नाम में 'नाटक' शब्द न हो, वह नाटक ही नहीं और जिनमें 'नाटक' शब्द हो, वह वस्तुतः 'नाटक' न होने पर भी नाटक ही है। ऐसे ही विद्वानों ने 'नाटक समयसार' जैसे शुद्ध दर्शन के ग्रन्थ को जिसके नाम से नाटक शब्द एक उपलक्षणमात्र है, एक उल्लेखनीय नाटक या 'नाटकीय काव्य' माना है।[१]

विशेष रूप से ध्यान देने योग्य यह है कि आदिकाल में पुराने अनेक दृश्य-काव्यों और नाट्यप्रयोगों में प्रबन्धात्मकता आ गई थी। ठीक इसके विपरीत हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में श्रव्यकाव्यों में व्यापक रूप से नाट्य प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने के प्रमाण मिलते हैं। रामचरितमानस और रामचन्द्रिका आदि में नाट्य-विधान के जो अनेक उपादान पाये जाते हैं, वे इसके प्रमाण हैं। भक्ति-कालीन साहित्य ने विशेष रूप से बहुमुखी नाट्य-प्रवृत्तियों को आत्मसात् करने का मार्ग प्रशस्त किया था। यह इस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है कि 'रामचरितमानस' जनता के लिए जितना महान् श्रव्यकाव्य है, उतना ही सफल दृश्यकाव्य भी। फिर भी यह बड़े दुःख की बात है कि कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि सन्तों की मुक्तक रचना और भक्त कवियों के 'भक्ति' के आत्म-समर्पण वाले सन्देश के कारण मध्यकाल में नाट्य-प्रवृत्ति को धक्का लगा।[२] इस कटु सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मध्यकाल में भारतीय नाटक की नाट्यधर्मी परम्परा के क्षतिग्रस्त होने के दो मुख्य कारण थे—एक तो राजप्रासादों और देवालयों से संलग्न हमारे रंगमंचों का सामूहिक ध्वंस और दूसरे मुसलमानी

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ७।
२. दे०, डॉ० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० २६।

युग में, मुसलमानी शासन में, नाट्य प्रवृत्ति इसलिए नहीं जग पायी कि उनके धर्म के भीतर नाटक खेलना अपराध था। उनके श्रव्यकाव्य में भी नाटकीय प्रवृत्तियाँ नहीं हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जी का यह कथन यथार्थ है कि 'भारतीय नाट्य इस प्रकार छिन्न-भिन्न होकर साहित्य और जीवन में पड़ा हुआ था। पुराने नाटकों के लिखने की प्रवृत्ति जगाने के लिए प्रेरणा मिलती ही न थी। रंगमंच भी न थे जिन पर वे खेले जाते।'[1]

इसलिए मध्यकाल में साहित्य-रचना के क्षेत्र में एक विचित्र असंगति के दर्शन होते हैं। वह यह कि भारतीय परम्परा में निष्णात कवियों के श्रव्यकाव्य में नाटकोय विधान की अनेक विशेषताएँ मिलती हैं, पर 'नाटक' नाम से जिन रचनाओं का प्रणयन हुआ है, उनमें नाटकीय तत्त्वों का अभाव ही अभाव पाया जाता है। उनमें से अधिकांश में नाटकीयता की अपेक्षा प्रबन्धात्मकता ही अधिक है। इसके मुख्य कारण का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसका दूसरा कारण यह है कि जब ८०० ई० के लगभग हिन्दी ने साहित्यिक रूप ग्रहण किया, उस समय संस्कृत नाटक की उदात्त परम्परा भी ह्रासोन्मुख हो चली थी। इस काल के कई शताब्दियों बाद तक संस्कृत नाटकों की रचना तो बहुत बड़ी संख्या में होती रही, पर उनका क्षेत्र संकुचित हो गया था और उनमें भी नाटकीयता की अपेक्षा प्रबन्धात्मकता और काव्यात्मकता ही अधिक होने लगी थी। इसीलिए हिन्दी के जिन लेखकों ने लीला और चरित्रों की सीमा के बाहर सीधे-सीधे साहित्यिक नाटक लिखने का उपक्रम किया, उन्होंने उक्त-ह्रासकालीन संस्कृत नाटकों की परम्परा के ही कुछ गुण विरासत में पाये। इस काल की नाटक नामधारी कृतियों के स्वरूप पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है।

समयसार नाटक

ऊपर कहा जा चुका है कि इस काल में 'नाटक समयसार' जैसी कृतियों की रचना भी हुई जो शुद्ध दर्शन का ग्रन्थ है और जिसमें नाटक शब्द एक उपलक्षण मात्र है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है—'नाटक में संवाद मुख्य होता है। उसका सारा ढाँचा संवाद में होता है। मध्यकाल में संवाद नाटक का स्थानापन्न हो गया।' किन्तु 'नाटक समयसार' में यह संवाद वाली विशेषता भी नहीं मिलती। उसके नाटक नाम से अभिहित होने के कारण है इस हृदय में अनादिकाल से मिथ्यात्व रूप महाअज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला में पुद्गल के बड़े भारी नाच का वर्णन। यह भी कैसा ?

---

१. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र कृत 'हिन्दी का सामयिक साहित्य', पृ० १२।

या घट में भ्रम रूप अनादि,
विशाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ।
फेरत भेख खिदावत कौतुक,
सौंजि लियै वरनादि पसारौ।
मोह सौं भिन्न जुदौ जड़ सौं,
चिनमूरति नाटक देखनहारौ।

कवि बनारसीदास ने कुन्दकुन्दाचार्य के प्रपंचसार के आधार पर 'समयसार' में अनादिकालीन महाअज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला में पुद्‌गल (मैटर अर्थात् प्रकृति) के उस नृत्य का वर्णन किया है जिसका एकमात्र देखने वाला (प्रेक्षक) सम्यक्‌दृष्टि वाला है। इसमें चैतन्य नट के नाटक का वर्णन है, इसलिए यह नाटक है—

ज्यों नट एक धरै बहु भेख,
कला प्रगटै बहु कौतुक देखैं।
आयु लखै अपनी करतूति,
वहै नट भिन्न विलोकति भेखैं।
त्यों घट में नट चेतन राव,
विभाउ दशा धरि रूप विसेखैं।
खोलि सुदृष्टि लखै अपेनो पद,
दुंद विचारि दया नहि लेखैं।

अपनी इस विषयवस्तु के कारण ही 'समयसार' को कवि ने नाटक कह दिया, अन्यथा इसमें मध्यकाल के नाटकों के संवाद वाले उपकरण का भी अभाव ही है। फिर भी नाटक के कुछ शोधकर्ताओं ने सम्भवतः उसे बिना पढ़े हुए ही प्रबन्ध काव्य की कोटि का नाटक मान लिया है।[1] 'समयसार' नाटक में न संवाद योजना ही है और न प्रबन्धात्मकता।

सभासार नाटक

अहमदाबाद निवासी रघुराम नागर के लिखे हुए 'सभासार नाटक' में भी इसी प्रकार संवाद-योजना और कथा-तत्त्व दोनों का अभाव है। फिर भी इसे नाटक नाम दिया गया है। कारण, इसमें राजाओं की सभा में उपस्थित रहने

१. दे०, डॉ० सोमनाथ गुप्त कृत 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ७-८।

वाले कपटी, बेवकूफ, सभा-बिगार, सभा-चतुर, सूम, लालची, सुकवि, कुकवि, ठग, दुष्ट, नास्तिक, आस्तिक, विविध प्रकार के मानव-चरित्रों का चित्रण है। भरत ने नाटक को 'उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्' कहा है और शारदातनय का कहना है कि 'नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्य प्रतिष्ठितम्' अर्थात् नाटक में अनेक प्रकार के बहुसंख्यक चरित्रों का चित्रण करना उसकी एक प्रमुख विशेषता मानी जाती थी। 'सभासार' में भी अनेक प्रकार के चरित्रों का परिचय लेखक ने दिया है, यद्यपि उसमें कथा का कोई एक नाटकीय सूत्र नहीं है। जिस प्रकार मध्यकाल में कुछ लेखकों की दृष्टि में संवाद नाटक का स्थानापन्न था, उसी तरह रघुराम नागर जैसे कतिपय लेखकों की दृष्टि में सम्भवतः एक सुसम्बद्ध कथानकविहीन नानारसात्मक लोकचरित का विश्लेषणात्मक विवरण भी किसी कृति को नाटक बना देने के लिए पर्याप्त था। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल में केवल संवाद-प्रधान रचनाएँ नाटक नहीं कहलाईं, वर्ण्य विषय में नाटकीयता होने के कारण 'समयसार' जैसी शुद्ध दार्शनिक कृतियाँ भी नाटक कही गईं और अनेक मानव चरित्रों का कथानक-विहीन विवरण भी 'सभासार' जैसी कृतियों में नाटक कहलाया। तात्पर्य यह कि यदि किसी कृति में नाटक का कोई एक तत्त्व भी लक्षित हो गया, तो उसे नाटक कहा गया। यह स्पष्ट है, 'साभासार' नाटक में 'समयसार' की अपेक्षा नाटकीयता अधिक है।

विचित्र नाटक

गुरु गोविन्द सिंह का 'विचित्र नाटक' भी ऐसी ही एक रचना है जिसमें नाटक के किसी तत्त्व की छाया भी नहीं छू गई है, पर नाट्य-समीक्षकों द्वारा वह नाटक समझा और कहा गया है। डॉ० दशरथ ओझा जैसे विद्वान् भी उसे नाटक समझ बैठे हैं और 'विचित्र नाटक' तथा 'चंडी चरित्र' को दो नामों वाली एक ही कृति मानते हैं। उन्होंने लिखा है—'समयसार' के उपरान्त हमें गुरु गोविन्द सिंह विरचित 'विचित्र नाटक' या 'चण्डी नाटक'[1] उपलब्ध होता है।.... अतएव उन्हें वीररस का नाटक लिखने की आवश्यकता प्रतीत हुई।' इस सम्बन्ध में दो बातें स्मरणीय हैं। एक तो 'विचित्र नाटक' और 'चण्डी चरित्र' दो भिन्न-भिन्न कृतियाँ हैं और दूसरे 'विचित्र नाटक' किसी भी रस का नाटक नहीं है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्ध कमेटी, अमृतसर द्वारा प्रकाशित 'विचित्र नाटक' की प्रस्तावना में अमरसिंह चाकर ने लिखा है—'वास्तव में यह नाटक ग्रन्थ नहीं, जैसा कि इसके नाम से प्रकट होता है, वरन् साहित्यिक दृष्टिकोण से इसे महाकाव्य कहना चाहिए। तो भी इसे नाटक का नाम दिया गया है, तो केवल

१. हिन्दी नाटक : उद्‌भव और विकास, पृ० १४४।

इसलिए कि इसमें अपनी आत्मकथा का वर्णन करते हुए गुरु जी ने कतिपय पारलौकिक घटनाओं का उल्लेख इस प्रकार से किया है जिससे अगम्य एवं आध्यात्मिक प्रतिपादित विषय लौकिक बुद्धिगोचर हो गया है। मानव बुद्धि तो लौकिक उपकरणों को लेकर संगठित हुई है, वह पारलौकिक विषय उसके लिए सर्वथा अगम्य होता, किन्तु गुरु जी ने इस ग्रन्थ द्वारा हमें उस अगम्य के वह चित्र दिखाए हैं, जिन्हें यथार्थ घटनाओं का अभिनय ही कहा जा सकता है। यह अभिनय अद्भुत और विचित्र होने से ग्रन्थ का नाम दिया है 'विचित्र नाटक'।

वास्तव में इस रचना में आद्यन्त प्रबन्धात्मक शैली में गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपनी आत्मकथा लिखी है। इसमें त्रिभंगी, भुजंगप्रयात, रसावल, नराच, सवैया, चौपाई, दोहरा आदि अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया गया है। रचना नाटकों की तरह अंकों या दृश्यों में व्यवस्थित न होकर प्रबन्ध काव्यों की तरह चौदह अध्यायों में विभाजित है। पहले अध्याय में अकाल जी की स्तुति का बखान है, दूसरे अध्याय में सूर्यवंश तथा उससे उत्पन्न होने वाले 'सोढ़ी' तथा 'वेदी' वंशों का वर्णन है। इतने विवरण से ही रचना की प्रबन्धात्मकता सिद्ध हो जाती है। मध्यकाल में नाटक कही जाने वाली रचनाएँ संवाद प्रधान होती थीं। यह गुण भी 'विचित्र नाटक' में नहीं है। कहीं-कहीं इसमें एक परम अध्यात्म सत्ता को दूसरी अध्यात्म सत्ता के साथ वार्तालाप करते हुए दिखाया जाना अवश्य मिलता है। इसी को भले ही कोई 'विचित्र अभिनय' मान ले और इसे यथार्थतः विचित्र नाटक कहने लगे। पर इस कृति में जहाँ ऐसे संवाद मिलते भी हैं, वहाँ भी उनमें नाटकीयता की अपेक्षा प्रबन्धात्मकता अधिक है। उदाहरण के लिए गुरु गोविन्द सिंह जी ने अकाल पुरुष के साथ अपनी वार्ता इस रूप में प्रस्तुत की है—

"अकाल पुरुष वाच इस कीट प्रति—

चौपाई

मैं अपना सुत तोहि निवाजा।
पंथ प्रचर करिबे को साजा।
जाहि तहाँ तै धर्म चलाइ।
कुबुद्धि करन ते लोक हटाइ।"

अकाल पुरुष के इस आदेश का उत्तर गुरु जी संवादात्मक शैली में न देकर प्रबन्धकाव्यों की वर्णनात्मक शैली में देते हैं—

"चित न भयो हमरो आवन कहि,
चुभी रही श्रुति प्रभु चरनन महि।"

\+ \+ \+

बाढ़ भयो मैं जोर कर वचन कहा सिर नाय।
पंथ चले तब जगत मैं जब तुम करो सदाय ।।

गुरु जी ने आगे लिखा है कि उनको यह प्रार्थना सुनकर अकाल पुरुष ने उनको सर्वत्र सहायता का वचन दिया, तो उन्होंने कलियुग में जन्म ग्रहण किया, और इस प्रकार प्रतिज्ञा की—

कहियो प्रभु सु भाखि हौं।
किसू न कान राखि हौं।
किसू न भेख भीज हौं।
अनेख बीज-बीज हौं।

उपर्युक्त उद्धरण 'विचित्र नाटक' के छठें अध्याय से दिये गये हैं। इस ग्रन्थ का यह सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसमें गुरु जी ने देश की धार्मिक अवस्था का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है, आडम्बर और कर्मकाण्ड की जटिलता से आक्रान्त विविध हिन्दू-धार्मिक सम्प्रदायों की भर्त्सना की है और इस्लाम की संकीर्णता पर भी करारी चोट की है—

प्रभु तव महादीन उपराजा। अरब देस को कीनो राजा ।। २६ ।।
तिन भी एक पंथ उपराजा। लिंग बिना कीने सभ राजा ।। २७ ।।
सब ते अपना नाम जपायो। सत्तिनाम काहूँ न दृढ़ायो ।। २८ ।।

इसी अध्याय में गुरु जी ने अपने अनुयायियों को यह असंदिग्ध आदेश दिया है कि अवतार के रूप में परमेश्वर मानकर उनकी पूजा कदापि न की जाय—

जो हमको परमेस उचरिहैं। ते सभ नरककुंड महँ मरिहैं ।।
मोको दास तवन को जानो। या मैं भेद न रंच पछानो ।।
मैं हों परमपुरुष को दासा। देखन आयो जगत समासा ।।
जो प्रभु जगति कहा सो कहिहौं। मृत्युलोक ते मौन न रहिहौं ।।

छठे के पश्चात् शेष आठ अध्यायों में गुरुजी के जन्म और जीवन व्यापी संघर्ष की कथा है। इस जीवनगाथा में नाटकीयता अवश्य है, पर ग्रन्थ की शैली पूर्णरूपेण प्रबंधात्मक है। 'गुरु गोविन्द सिंह की शिक्षा का वाह्य रूप सत्य धर्म के पालन का उपदेश था, किन्तु आंतरिक रूप से वह सत्य कर्तव्य को पूर्ण करने की प्रेरणा थी। धर्म के इस नवीन रूप में श्रद्धा रखना, उसे अनुभव करने की भावना का सृजन करना तथा लक्ष्य को प्राप्त करने का उत्साह उत्पन्न करना, ये सब बातें थोड़े समय में ही कैसे और किस प्रकार दशम गुरु गोविन्द ने अपने समाज में प्रचलित कीं, यह एक अनुपम चमत्कार और आश्चर्य है, इस चमत्कार

के स्वरूप को जिस ग्रंथ में वर्णित किया गया है, उसका नाम स्वयं गुरु गोविन्द ने 'विचित्र नाटक' रखा है।[1] इससे सिद्ध है, इस ग्रन्थ में नाटकत्व केवल विषय-वस्तु में है, शैली में नहीं।

गोविन्द हुलास नाटक :

गोविन्द हुलास नाटक की हस्तलिखित प्रति मुझे प्राप्त हुई थी। यह ग्रन्थ अब मेरे द्वारा संपादित होकर प्रकाशित भी हो चुका है। इस ग्रंथ की भूमिका में मैंने इसके रचनाकार और रचनाकाल की समस्याओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इस हस्तलिखित प्रति की लिखावट की कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जिनसे इसके लेखक के अहिन्दी-भाषी होने का अनुमान होता है। इस नाटक की अब तक एक ही प्रति उपलब्ध हुई है, उसमें न तो रचनाकार का या प्रतिलिपि-कार का नाम दिया गया है और न आदि अथवा अन्त में इसका रचनाकाल या प्रतिलिपिकाल ही सूचित किया गया है। इस हस्तलिखित प्रति में कुल छिहत्तर पन्ने हैं। प्रारम्भ के बारह पन्नों पर श्री व्यासजी तथा राधावल्लभी सम्प्रदाय के भक्तों के लगभग ७०-७१ पद हैं। तेरहवें पन्ने से 'गोविन्द हुलास नाटक' आरम्भ होता है और पचहत्तरवें पन्ने तक चलता है। अन्त के तीन पन्नों में गोस्वामी तुलसीदास जी की 'गीतावली' के सोलह पद अंकित हैं। यह तीन प्रकार की सामग्री भिन्न-भिन्न लिपियों की लिखी हुई प्रतीत होती है। अन्तिम छिहत्तरवें पन्ने पर 'गीतावली' के पदों के बाद सम्भवतः हस्तलिखित प्रति के स्वामी या उसके किसी कुटुम्बी ने घर का हिसाब-किताब लिखा है और उसका संवत्, मास एवं तिथि भी लिख दी है—संवत् १७०० ना वरषे जेठ सुद १० माह माधव जी १) गहुँ रुपैया १)। १) चौथा रु० १) ६) गागर १ तथा घड़ों १ जमले सेर। संवत् की लिखावट ऐसी है जिससे उसे सं० १७०० तथा १७७० दोनों ही पढ़ा जा सकता है। इससे कम से कम इतना तो सिद्ध ही है कि यह हस्तलिखित प्रति कम से कम ढाई सौ वर्ष पुरानी है।

जिस प्रकार पाण्डुलिपि में उक्त हिसाब-किताब की तिथि के अतिरिक्त रचना या लिपि के काल का अन्य कोई संकेत नहीं है, उसी प्रकार रचना के आदि, मध्य अथवा अन्त में लेखक ने अपने नाम का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। साधारण-तया ग्रन्थ के आदि अथवा अन्त में लेखकगण अपने सम्बन्ध में कुछ न कुछ लिखते रहे हैं, पर यह लेखक अपने विषय में सर्वथा मौन है। कई बार ग्रन्थ का पारायण करने के बाद मुझे केवल दो ही स्थल ऐसे मिले जिनके आधार पर कवि के विषय

---

१. डॉ० लाजवंती रामकृष्ण : 'विचित्र नाटक' का परिचय, पृ० १२

में कुछ अनुमान किया जा सकता है। ये दोनों ही स्थल नाटक के आरम्भ में प्रस्तावना के अन्तर्गत सूत्रधार की उक्तियों के बीच में आते हैं। सूत्रधार अपने सहयोगी नट को अपने एक दिव्य स्वप्न की सूचना देता है जिसमें शंकरजी ने उसे वृंदावन में समागत रसिकों को तुष्टि के लिए 'गोविन्द हुलास नाटक' का अभिनय करने को आज्ञा दी है—

तातै माधव माधुरी चरित मधुर रस प्याइ।
विरह अटपटो चटपटो लीजौ जीउ जीवाइ॥
यह अग्या—मोको दई उमाकंत भगवंत।
रिद्धि सिद्धि सब जगत गुरु पूरनकरन समंत॥

सूत्रधार की इस उक्ति में 'जीउ' शब्द विचारणोय है। कवियों में श्लेष द्वारा अपनी बात कहते हुए अपना, अपने गुरु का तथा अपने इष्टदेव का नाम व्यंजित कर देने की परंपरा मिलती है। उस दृष्टि से 'जीउ' के यहाँ दो अर्थ सम्भव हैं—(१) प्राण, (२) जीव नाम के कवि। पहले के अनुसार दोहे का अर्थ होगा मधुर रस पिलाकर विरह से बेठिकाने और व्याकुल बने हुए प्राणों को जिला लिया और दूसरे के अनुसार अर्थ होगा जीव नाम के कवि को जिला लिया। अब प्रश्न यह रह जाता है कि यदि 'जोउ' का अर्थ 'जोव' नामक कवि है तो ये जीव कवि कौन हैं?

दूसरा स्थल वह है जहाँ सूत्रधार मंगलात्मक छप्पय का पाठ करता है। इस छप्पय में श्लेष की शक्ति से भगवान् कृष्ण और गोस्वामिपाद सनातन की एक साथ वंदना की गई है—

मुदित सकलगुन उदित मधुर रससिन्धु-सुधाकर,
वृन्दावन निज धाम काम अभिराम कृपाकर।
गोपी गाइ गुवाल प्रीति व्रजहार बिहारी,
तरल तरनिजा तीर नीर लषि आनन्दकारी।
रुचिर सनातन तनु विमल रूप सील कोविद सरस,
बसहु सदा नाइक हिये श्रीकृष्ण नाम पारस परस।

छप्पय के अंतिम चरण का 'नाइक' शब्द भी श्लिष्ट प्रतीत होता है और दो अर्थ व्यंजित करता है। एक अर्थ है—स्पर्शमणि के प्रभाववाला नायक श्रीकृष्ण का नाम मेरे हृदय में निवास करे। दूसरा अर्थ हो सकता है—स्पर्शमणि के प्रभाववाला श्रीकृष्ण का नाम मुझ नायक नाम के कवि के हृदय में निवास

करे। यदि दूसरा अर्थ भी रचनाकार को अभिप्रेत है तो ये 'नायक' नाम के कवि कौन हैं ?

'मिश्रबन्धु विनोद' के दूसरे भाग में पृ० ५५९ पर क्रमसंख्या ५६९ में 'जीव' कवि का और पृ० ५६० पर क्रमसंख्या ५७७ में 'नायक' नाम के कवि का उल्लेख है। इन दोनों के कविताकाल के विषय में केवल इतना बताया गया है कि ये १७५४ के पूर्व के हैं और विवरण में कहा गया है कि 'इनका नाम सूदनजी के 'सुजानचरित्र' में लिखा है।' जीव की कविता के विषय में मिश्रबन्धुओं ने कुछ भी नहीं लिखा है, पर नायक के विषय में उन्होंने लिखा है कि ये निम्न श्रेणी के कवि हैं। 'जीव' को कोई रचना शायद उनके देखने में नहीं आई, इसलिए उसके सम्बन्ध में वे मौन रहे। सम्भवतः 'नायक' की किसी रचना या रचनाओं के आधार पर ही उन्होंने उल्लिखित मत व्यक्त किया होगा। पर वे रचनाएँ कौन-सी थीं, इसका कोई संकेत मिश्रबंधुओं ने नहीं किया है। उन्होंने 'सूदन' के सुजान चरित्र' में दोनों कवियों के नामोल्लेख का हवाला दिया है। 'सुजान चरित्र' के जिस छंद में सूदन ने यह नामोल्लेख किया है, वह इस प्रकार है—

घन घनस्याम घासीराम नरहर नैन,
नाइक नवल नंद निपट निहारे हैं।
नित्यानंद नंदन नरोतम निहाल नेही,
नाहर निवाज नंद नाम अजवारे हैं।
चंदबरदाई चंद चिन्तामनि चेतन हैं,
चतुर चतुर चिरजीव चतुरारे हैं।
छीतरु छबीले जदुनाथ जगनाथ जीव,
जय कृष्ण जसमंत जगन बिचारे हैं॥

× × ×

जस के जहाज जगदीश के परम मीत,
सूदन कविनंदन कौं मेरो परनाम है।

—पृ० २–३, छंद संख्या ५–९

सूदन ने अपनी कवि नामावली में कालक्रम का कोई विचार नहीं रखा है, केवल अनुप्रास की उमंग में नामों का संकलन कर दिया है। इसलिए इतने उल्लेख से इन कवियों के देशकाल आदि के विषय में कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं, अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि सूदन के समय में ये कवि प्रसिद्ध अथवा सुपरिचित रहें होगे।

'शिवसिंह सरोज' (च० ६७ क० १४९) में 'नायक' नाम के कवि का उल्लेख तो है, पर उनकी किसी कृति का नाम उसमें नहीं दिया गया है। ग्रियर्सन भी अपने इतिहास में इनके विषय में सरोज से अधिक जानकारी नहीं दे सके हैं, केवल 'श्रृंगार संग्रह' में उनके छन्दों के संकलित होने का निर्देश किया है।[1] 'श्रृंगार संग्रह' सरदार कवि ने तैयार किया था, उसके आरम्भ में दो प्रकार की सूचियाँ हैं—पहली वर्णित विषयों की और दूसरी उन कवियों की जिनके छन्द इस संग्रह में संकलित हैं। दूसरी सूची में पाँचवाँ नाम 'कवि नायक' का है। यदि ये 'कवि नायक' और 'सरोज', ग्रियर्सन तथा मिश्रबन्धुओं के 'नायक' कवि एक ही हैं, तो सम्भवतः 'श्रृंगार संग्रह' में संकलित इनकी रचना (सं० ७८३) के आधार पर ही 'मिश्रबन्धु विनोद' में इन्हें निम्न श्रेणी का कवि कहा गया होगा। यह भी हो सकता है, उनके देखने में 'नायक' कवि की अन्य रचनाएँ भी आई हों, किन्तु 'गोविन्द हुलास' के कवि निम्न श्रेणी के कवि नहीं हैं, इसलिए उन 'नायक' के साथ इनका साम्य साधना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

'नायक' नाम पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार आवश्यक है। संगीत विद्या और संगीत के क्षेत्र में असाधारण निपुणता प्राप्त पुरुष नायक माना जाता था। संगीत विशारद डाह्याभाई शिवराम ने 'नायक' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'वह व्यक्ति जिसका संगीतकला की प्रत्येक शाखा पर पूर्ण अधिकार हो, जो अधिकारपूर्वक दूसरों को उसे सिखाता हो, पिंगलशास्त्र का पूरा-पूरा जानकार तथा उसके अनुसार रचना में समर्थ हो, समस्त प्राचीन परम्परा तथा नवीन परम्पराओं में निष्णात हो, चारवानियों से पूर्णतया परिचित हो, नये प्रकार से तान ले सकता हो और उनका प्रस्तार भी कर सकता हो और उनके अनुसार बजा सकता हो, साथ ही लय का पक्का और स्वर का सच्चा हो, अनेक तालें जानता हो और इस प्रकार के संगीतशास्त्र के सिद्धान्त और अभ्यास के प्रकाण्ड पण्डित को नायक कहते हैं।'[2] ऐसे महान् संगीतज्ञों की अनेक मौलिक कृतियाँ ध्रुपदों के रूप में प्राप्त होती हैं, जिनमें उनके नाम के साथ-साथ नायक अभिधान का भी प्रयोग हुआ है। संगीत के परमाचार्य स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजूबावरे आदि को छोड़ दें, तो भी अनेक ऐसे नाम मिलते हैं, जिसके साथ नायक विशेषण जुड़ा हुआ है, स्वामी हरिदास के पट्टशिष्य संगीत कलाधर रामदासजी और उनके दूसरे शिष्य मदन नायक ने अपने ध्रुपदों में प्रायः सर्वत्र अपने नाम

१. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० ३०९

२. डाह्याभाई शिवराम—संगीत कलाधर, सन् १९३८ ई०, दूसरी आवृत्ति, पृ० ५७

के साथ 'नायक' जोड़ा है। दोनों का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है—

ध्रुपद-शंकरा करन

(१)

स्थायी—संगत गुरु की विमल चपल प्रबल होत ।
आभोग—नायक रामदास सुगम हरे काल की हलहल छलछल ।

(२)

(क) मदन नायक विनति करत चात्रक दे दे तारी,
मानो घन इन्द्र चढ़े चन्द्र घटा करे ।
(ख) मदन नायक छाये अनत कहूँ ।

(३)

इसी प्रकार का छवि नायक का भी खण्डिता नायिका-विषयक एक बड़ा सरस ध्रुपद है—

राग विजय कान्हरा

स्थायी—कान्ह किन संग जागे ।
आभोग—बिनु गुन माल लसत छवि नायक तापर मुक्ता माल ।

इसी परम्परा का ध्यान रखते हुए यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि 'गोविन्द हुलास' की प्रस्तावना में नायक शब्द 'जीव' के 'जीव नायक' हो। 'जीव' पर विचार कर लेने के बाद, हम पुनः इसका रहस्य उद्घाटित करने का प्रयास करेंगे।

'जीव' कवि 'नायक' से भी बड़ी पहेली है। 'जीव' कवि का असली नाम भी हो सकता है और उसका उपनाम भी। जीवन मस्ताने, जीवन, जीवनसिंह, जीवनाथ भाट और जीवराज नाम के पाँच[1] कवियों का उल्लेख 'मिश्रबन्धु विनोद' में है जिनका उपनाम 'जीव' हो सकता है। 'सरोज' और 'ग्रियर्सन' ने भी जीवन नाम के दो कवियों और जीवनाथ भाट का उल्लेख किया है।[2] 'मिश्रबन्धु विनोद' के उल्लिखित पाँचों कवियों का काल इतना परवर्ती है कि वे 'गोविन्द हुलास' नाटक के कर्ता नहीं माने जा सकते हैं। जब मिश्रबन्धु स्वयं 'जीव' को इन पाँचों से भिन्न मान सकते हैं, तो इस अनुमान पर अधिक बल देना उचित नहीं प्रतीत

---

१. मिश्रबन्धु विनोद—पृ० ५६५, ७७४, ८९५, ७७७, ५६९
२. ग्रियर्सन—७७।ज, ४३०। ज, सरोज—१९१।१६०८, २८२।१८०३

होता। ग्रियर्सन ने अपने इतिहास के ७७ ज क्रम में जिन जीवन कवि (जन्म १५५१ ई०) का उल्लेख किया है, काल की दृष्टि से उनके 'गोविन्द हुलास' के रचयिता होने में कोई कठिनाई सम्भव है न हो, पर वे 'जीव' उपनाम से रचना करते थे अथवा उन्होंने कोई ग्रन्थ भी लिखा था, ऐसा कोई प्रमाण या उल्लेख कहीं नहीं मिलता। उनकी कुछ फुटकल रचनाएँ ही 'हजारा' और 'राग कल्पद्रुम' में मिलती हैं। स्वयं मिश्रबन्धु भी उनको और जीव को एक नहीं मानते हैं। अतएव 'गोविन्द हुलास' के प्रणेता यदि कोई 'जीव' नाम के ही कवि हैं, तो वे इन सबसे भिन्न होने चाहिए।

ऊपर सूत्रधार के जिस मंगलवाची छप्पय का उल्लेख हुआ है, उसकी पंक्ति 'रुचिर सनातन तनु विमल रूप शील कोविद सरस' ध्यान देने के योग्य है, इसमें सनातन के साथ-साथ 'रूप' नाम भी आया है। ये दोनों शब्द जहाँ एक ओर भगवान् कृष्ण के चिन्मयविग्रहत्व और शील-सम्पन्न विमल रूप का निर्देश करते हैं, वहीं दूसरी ओर ये सनातन गोस्वामी के साथ रूप गोस्वामी को भी श्लेष से लक्षित कराते हुए प्रतीत होते हैं जिससे भगवान् कृष्ण के साथ-साथ सनातन और रूप की वन्दना भी ध्वनित होती है। जीव गोस्वामी के संस्कृत ग्रन्थों में इस प्रकार की उभयात्मक शिलष्ट वन्दना मिलती है।[1] ऐसी स्थिति में 'जीउ' शब्द जीव गोस्वामी का बोधक हो सकता है। जीव गोस्वामी की गणना चैतन्य सम्प्रदाय के प्रवर्तक महान् गोस्वामियों में है और उनमें भी ये अन्यतम माने जाते हैं।[2] ये सनातन और रूप के कनिष्ठ सहोदर अनुपम (वल्लभ) के पुत्र थे और प्रतिभा, पाण्डित्य, कवित्व, भक्ति, साधना, तपस्या आदि सभी दृष्टियों से ये अपने पूज्य पितृव्यों के समकक्ष थे। इन्होंने अपने कवित्व और तत्वज्ञान दोनों से भारतोय वाङ्मय को गौरवशाली बनाया है। इनका आरम्भिक जीवन काशी में बीता था और बाद को ये अपने पितृव्यों के साथ आकर वृन्दावन में रहे थे। जिसने कम से कम पन्द्रह महान् ग्रन्थ लिखकर गीर्वाण-वाणी पर अपने एकछत्र अधिकार का अन्यतम प्रमाण दिया हो, उसने इतने दीर्घ प्रवास के पश्चात् हिन्दी और उसकी विभाषाओं, विशेषतः अपने प्रियतम कृष्ण की लाड़ली ब्रजभाषा पर अधिकार प्राप्त कर लिया हो, इसे आश्चर्यजनक या अनहोनी घटना

---

१. सनातनसमो यस्य ज्यायान्श्रीमान्सनातनः। श्रीवल्लभो नुजः सो उसौ श्रीरूपा जीवतद्गतिः।—लोचनरोचिनी

२. गौडसंप्रदायस्य प्रवर्तकेषु षट्सु गोस्वामिष्वन्यतमो जीवगोस्वामी।—उज्ज्वल नीलमणि की भूमिका

नहीं माना जाना चाहिए। तो क्या 'गोविन्द हुलास' नाटक उन्हीं गोस्वामिपाद जीव महानुभाव का लिखा हुआ है ?

इस अनुमान को बल देने वाला एक और तथ्य सामने आता है 'गोविन्द हुलास नाटक' रूप गोस्वामी के सुप्रसिद्ध नाटक 'विदग्धमाधव' के आधार पर लिखा गया है। उसका एक-एक विवरण 'विदग्धमानव' नाटक का अनुगमन करता है। दोनों में सात-सात अंक हैं और दोनों में अंकों का नामकरण भी प्रायः एक ही है जो नीचे के विवरण से स्पष्ट किया जा सकता है—

विदग्ध माधव नाटक

वेणुनादविलासो नाम प्रथमोऽङ्कः
मन्मथ लेखो नाम द्वितीयोऽङ्कः
राधासंगो नाम तृतीयोऽङ्कः
वेणुहरणो नाम चतुर्थोऽङ्कः
राधाप्रसादनो नाम पंचमोऽङ्कः
शरद्विहारो नाम षष्ठोऽङ्कः
गौरीविहारो नाम सप्तमोऽङ्कः

गोविन्द हुलास नाटक

वेनुनाद विलास नाम प्रथम अंकः।
कामलेषा नाम द्वितीयो अंकः।
राधासंगमों नाम तृतीय अंकः।
वेनु हरनो नाम चतुर्थो अंकः।
राधा प्रसादनो नाम पंचमो अंकः।
सरद विहार षष्ठमो अंकः।
गोरीतिर्थ विहारो नाम सप्तमो अंकः।

इसके अतिरिक्त कथावस्तु का उद्भव तथा विकास, पात्रों का चरित्र-चित्रण एवं कथोपकथन आदि तत्व भी दोनों नाटकों में प्रायः एक ही हैं। इसको देखते हुए यह सम्भावना हो सकती है कि जीव गोस्वामी ने ही स्वयं रूपगोस्वामी के 'विदग्धमाधव नाटक' के कथानक को ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया हो। उन्होंने रूप गोस्वामी के 'भक्तिरसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी हैं। क्या उन्होंने ही उनके इस नितरां उज्ज्वल मधुर रसाश्रयी नाटक के वस्तुतत्व और रस को सर्वसाधारण के लिए सुलभ बनाने के निमित्त उसे ब्रजभाषा में रूपान्तरित किया है ? दोनों नाटकों की प्रस्तावना के अन्तर्गत

आने वाले सूत्रधार के मंगलपाठ को तुलना भी इस सम्भावना को पुष्ट करतो है। 'गोविन्द हुलास' के मंगलवाची छप्पय की काफी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, उसी आशय का सूत्रधार का कथन 'विदग्धमाधव' की प्रस्तावना में है—

प्रपन्नमधुरोदयः स्फुरदमन्दवृन्दाटवी
निकुंजमयमंडपप्रकरमध्यवद्धस्थितिः।
निरंकुशकृपाम्बुधिर्व्रजविहाररज्वन्मनाः
सनातनतनुः सदामयि तनोतु तुष्टि प्रभुः।

इस छंद में रूपगोस्वामी ने सनातन तनु वाले भगवान् कृष्ण और अपने अग्रज सनातन गोस्वामी की एक साथ वन्दना की है। इसमें 'रूप' शब्द नहीं आया है, पर छप्पय में 'सरससील कोविद' 'रूप' का नाम भी है। इसके पहले के दोहे में यह कहा गया है कि माधव (की) चरित माधुरी का मधुर रस प्याइ जीउ जिवाइ लीजो।[1] ठीक इसी प्रकार की बात जीव गोस्वामी जी ने 'उज्ज्वल नील-मणि' को 'लोचनरोचनी' टीका मे और 'ब्रह्मसंहितोपनिषद्' को टीका में कही है जिसका आशय है कि सनातन और रूप ही जोव की सद्गति है।[2] इस प्रकार के परिस्थितिक साक्ष्य की दृष्टि से 'गोविन्द हुलास नाटक' के 'जीव' का जीव गोस्वामी होना असम्भव नहीं। सूदन के 'सुजान चरित्र' के 'जीव' भी यदि जीव गोस्वामी ही हों, तो वह भी किसी प्रकार अयुक्त नहीं माना जा सकता। पर इस धारणा के विपक्ष में सबसे बड़ा तर्क यही हो सकता है कि जीव गोस्वामी की कोई हिन्दी रचना नहीं मिलती और न हिन्दी कवि या लेखक के रूप में उनका किसी ने कहीं उल्लेख किया है।

इस प्रसंग के स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त मंगलवाची छप्पय में 'सनातन' के साथ-साथ 'रूप' नाम का प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है। रूप गोस्वामी जी ने अपने कतिपय ग्रन्थों के मंगलाचरण में श्लिष्ट शब्दावली में सनातन गोस्वामी जी के प्रति प्रणति अर्पित करते हुए अपने नाम का भी उल्लेख किया है—

नामाकृष्टरसज्ञः शीलेनोद्दीपयन्सदानन्दम्
निजरूपोत्सवदायीसनातनात्मा प्रभुर्जयति।

—उज्ज्वलनीलमणिः ॥ १ ॥

यदि उपर्युक्त छप्पय में भी 'रूप' शब्द का प्रयोग इसी न्याय से हुआ है तो स्वयं रूप गोस्वामी ही 'गोविन्द हुलास नाटक' के प्रणेता हो सकते हैं। संस्कृत में

१. दे० पाद टिप्पणी, पृ० १८
२. दे० पाद टिप्पणी, पृ० २३

मधुर रस की जो नाटकीय व्याख्या उन्होंने 'विदग्धमाधव नाटक' के माध्यम से प्रस्तुत की, उसी के लिए 'गोविन्द लास'हु नाटक में उन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग किया। ऐसा होना न किसी प्रकार असम्भव है और न आश्चर्यजनक। जीव गोस्वामी के विषय में भले ही अभी यह कहा जा सके कि उनकी कोई हिन्दी रचना नहीं मिलती, पर सनातन और रूप ने हिन्दी में लिखा था, इसके प्रमाण मिलने लगे हैं। नागरी प्रचारिणी सभा की १९०६-८ की खोज रिपोर्ट में रूप सनातन के 'श्रृंगार सुख' नामक हिन्दी ग्रन्थ की सूचना प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त श्री अगरचन्द नाहटा ने सं० २०१३ के फाल्गुन मास की ब्रजभारती' में ब्रजभाषा का एक महत्वपूर्ण प्राचीन गद्य ग्रन्थ शीर्षक लेख प्रकाशित कराया था, जिसमें 'रूप सनातन' कृत ग्रन्थ नाम 'विदग्ध माधो' की विस्तृत चर्चा है। नाहटा जी ने लिखा है कि इसकी प्रतियाँ काफो संख्या में प्राप्त हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ का अच्छा प्रचार रहा होगा। बीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में ही उनको इसकी सात-आठ प्रतियाँ मिली हैं जिनमें 'राधा मिलन', 'श्री माधो राधा विलास' और 'राधा माधो लीला विलास' नाम पाया जाता है। उनको मिली हुई इस ग्रन्थ की प्रतियों में सबसे प्राचीन सं० १७५४ की लिखी हुई है। नाहटा जी को पहले जो प्रतियाँ प्राप्त हुई थीं, उनमें लेखक का नाम नहीं था, पर बाद को मिली हुई प्रतियों में उन्हें लेखक का नाम भी मिल गया है। नाहटा जी ने बताया है कि लेखक के नाम वाली प्रति में चार अंक हैं। उन्होंने ग्रन्थ का आरम्भ अपने लेख में उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

प्रारम्भ

'अथ श्री पूर्णमासी जी की कथा लिखते। ग्रन्थ नाम
विदग्ध माधो। रूप सनातन कृत।'

नाहटा जी ने यह भी लिखा है कि 'अभी प्राप्त प्रतियों से इस ग्रन्थ के नये नाम 'पूर्णमासी जी की कथा' और 'विदग्धमाधव', ये दो और ज्ञात हुए हैं।

मुझे भी अपनी खोजों में कांकरोली के विद्या-विभाग में नाहटाजी के उल्लिखित गद्य-ग्रन्थ की दो प्रतियाँ देखने को मिलीं। सम्भवतः इसकी दो प्रतियाँ और वहाँ हैं, पर वे अभी तक मेरे देखने में नहीं आ सकी हैं। इसकी पहली प्रति, जो वहाँ बस्ता सं० ८७।१ में देखने में आई, अपूर्ण है और उसका प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है—

'विदग्ध-माधव रूप सनातन कृत'

आरम्भ

'श्री गणेशायनमः ।। ग्रन्थ नाम विदग्ध माधव रूप सनातन कृत ।
श्री वृन्दावन नित्य विहार ज्ञानि कै उजेनि नगरी को वास छाड़ि
करि संछेपन रिषीश्वर की माता ताको नाम पूर्णमासी कहावे—'

इन सब प्रतियों में रूप नाम सनातन के पहले आया है, इससे किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कारण यद्यपि सनातन रूप से दो वर्ष पूर्व ज्येष्ठ थे, फिर भी चैतन्य सम्प्रदाय में रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी के पूर्व प्रविष्ट हुए थे, इसलिए वैष्णव समाज में वे अपने अग्रज से ज्येष्ठ माने जाते थे। इसीलिए वैष्णव साहित्य में उनका नाम प्रायः सनातन के पहले प्रयुक्त हुआ है।

इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि नाहटाजी ने जिस महत्वपूर्ण प्राचीन गद्य ग्रन्थ की अनेक प्रतियाँ देखीं और पाई हैं, वह वही हैं जो कांकरोली के विद्या विभाग में मेरे देखने में आयी हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य नाम विदग्ध-माधव', 'विदग्ध माधो' या माधो विदग्ध' ही है। इसी के अन्य नाम 'पूर्णमासी' जी की कथा 'पूर्णमासीजो को वार्ता', 'राधा मिलन', 'श्री माधो राधा विलास' और 'राधा माधो लीला विलास' भी मिलते हैं जो इसकी कथावस्तु के सूचक हैं। इस ग्रन्थ की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें से कुछ अपूर्ण हैं और कुछ में लेखक का नाम नहीं है। जिन प्रतियों में लेखक का नाम है, वहाँ वह निरपवाद रूप से 'रूप सनातन' का ही है। इसके रूप और सनातन का हिन्दी-लेखक होना प्रमाणित होता है। उन्होंने हिन्दो में लिखा था, इसके अन्य प्रमाण भी हैं। कृशनानंद व्यासदेव ने १८४३ ई० के आसपास 'रागसागरोद्भव राग कल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ सम्पादित किया था, जिसमें लगभग २०० कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं का संग्रह है। हिन्दी, करनाटी, मराठी, तेलगू, गुजराती, बंगाली, उड़िया, अंगरेजी, अरबी, पेगुअन, फारसी आदि अनेक भाषाओं को रचनाएँ इसमें संकलित हैं और जिन कवियों के सम्पादक परिचित हैं, उनका विवरण भी उसने अपनी भूमिका में दिया है। ग्रियर्सन ने इसे देखा था, उन्होंने इसे दुर्लभ ग्रन्थ कहा है। उन्होंने लिखा है—'जिन कवियों की रचनाएँ इस विशालकाय ग्रन्थ में संकलित हैं, उन सबका नाम एकत्र करना स्वयं बड़े परिश्रम का काम है।·····मैंने इस भूमिका से हिन्दी कवियों और हिन्दी ग्रन्थों का नाम ले लिया है। कइयों को तो मैं पहचानने में असमर्थ रहा और कई ग्रन्थ जो इस सूची में हैं, मेरे इस ग्रन्थ में अन्यत्र कहीं नहीं उल्लिखित हैं।'[1] इसो सिलसिले में ग्रियर्सन ने उक्त ग्रन्थ के

१. ग्रियर्सन–हिन्दो साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० २७२

आधार पर दो सूचियाँ दी हैं—

(अ) हिन्दुस्तानी लेखक और (ब) हिन्दुस्तानी ग्रन्थ ।

(अ) सूची में उन्होंने १२५ हिन्दी लेखकों के नाम दिए हैं, जिनमें एक सौ सत्रहवें नम्बर पर रूप सनातन का नाम है।[1] इस ग्रन्थ के केवल दो खण्ड ही मुझे देखने को मिले हैं, दूसरे खण्ड के प्रारम्भ में 'रागसागर की सूचना' के अन्तर्गत पृ० २ पर रूप सनातन गुसाईं का नाम है ।

रूप सनातन के हिन्दी कवि होने का अन्य प्रमाण भी मुझे उनके द्वारा रचित एक पद के रूप में मिला है, जो मुझे बड़ौदा विश्वविद्यालय के संगीत महाविद्यालय के संगीताचार्य श्री भरत व्यास जी से प्राप्त हुआ है । उन्होंने सारे भारत में घूम-घूमकर एक हजार से भी अधिक पुराने ध्रुपदों का संग्रह किया है । उनका कहना है कि उन्होंने रूप सनातन के लिखे हुए पाँच ध्रुपद देखे हैं । उसी में से एक यहाँ दिया जा रहा है—

ध्रुपद-सिंधु राग

स्थायी—बगरे लतान युत सगरे विटप वर ।
सुमन सुगंधिमय समीर मयन की ।
अंतरा—चातक चकोर चक्रवाक वाक पिहु पुकार,
ध्वनि विचित्र चात्रक सुवयन चयन की ।
संचारी—पुलिन कालिंदी की सुदेश वेस युवति युथ्थ,
मध्य राधिका सु स्याम रास नाद टेरि मुरलि,
वादित वर राग रति गहन की ।
आयोग—ऐसी न देखि न छवि कहत सनातन रूप,
जीव नायक शोभा शरद रमन की ।

यदि यह ध्रुपद प्रामाणिक है तो इस ध्रुपद में रूप, सनातन, जीव और नायक का एक साथ प्रयोग 'गोविन्द हुलास' नाटक की प्रस्तावना में इन्हीं नामों के अलग-अलग प्रयोग को एक सूत्र में समेटकर उसकी गुत्थी खोलता हुआ प्रतीत होता है । सम्भवतः प्रस्तावना में भी 'नायक' शब्द जीव गोस्वामी अथवा दोनों गोस्वामियों के सुप्रथित एवं रूढ़ विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । संगीत की साधना में भी वैष्णव सम्प्रदाय का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है । कारण, प्रिया-प्रियतम के नित्य विहार के अलौकिक दिव्यानन्द को उनके सम्मुख गान करके अभिव्यक्ति प्रदान करना, इस सम्प्रदाय के भक्तों की एक मुख्य चर्चा रही

१. हिन्दी-ग्रियर्सन का प्रथम इतिहास, पृ० २७४

है। संगीत के क्षेत्र में सनातन, रूप और जीव का क्या रिकथ है, इसका मुझे ठीक-ठीक ज्ञान नहीं। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्य, नाटक, साहित्यशास्त्र एवं नाट्यशास्त्र की ही तरह उन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रभाव से संगीतकला को भी सम्भवतः धन्य अवश्य किया होगा। उक्त ध्रुपद उसका प्रमाण है। बड़े-बड़े संगीतज्ञों की रचनाओं के साथ इस ध्रुपद की तुलना करने पर एक बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि इसकी भाषा-शैली को विशदता और विशिष्टता उस काल के अन्य ध्रुपदों में साधारणतया नहीं मिलती। इस प्रकार की कुछ अधिक रचनाएँ मिल जाने पर उनका यह वैशिष्ट्य स्वतन्त्र अध्ययन की विपुल सामग्री प्रस्तुत करेगा।

ऊपर जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उनसे रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी का हिन्दी का भी कवि होना सिद्ध हो जाता है। अतएव उन्होंने अथवा उनमें से किसी एक ने ही यदि 'गोविन्द हुलास' नाटक की रचना की हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक मानना चाहिए। कम से कम इसे असम्भव मानने का कोई कारण अब नहीं रह गया है। विचारणीय है कि 'विदग्धमाधव' अथवा 'पूर्णमासी की कथा या वार्ता' नाम के जिस गद्य ग्रन्थ की चर्चा ऊपर की गई है, उसकी कथा वस्तु भी ठीक वही है जो संस्कृत के 'विदग्धमाधव नाटक' और हिन्दी के 'गोविन्द हुलास नाटक' की है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मधुर रस के सिद्धान्त का सार अथवा 'सिद्धान्त की खनि' माने जाने वाले 'विदग्धमाधव' के कथा तत्व को ब्रजभाषा में भी अनेक रूपों में लोककल्याण के निमित्त सुलभ बनाने का कार्य स्वयं इन महान् गोस्वामियों ने ही सम्पन्न किया था। यदि 'गोविन्द हुलास नाटक' स्वयं रूप गोस्वामी की रचना है तो यह हिन्दी की पूर्ण मौलिक कृति सिद्ध होती है और हिन्दी के महान् लेखकों की सूची में एक बड़े गौरवशाली नाम की वृद्धि होती है। यदि इसके रचयिता जीव गोस्वामीजी हैं तो इसे अधिक से अधिक रूपान्तर भी कहा जा सकता है। क्योकि इसकी रचना 'विदग्धमाधव' के आधार पर की गई है। प्रायः अनूदित नाटकों में अनुवादकों के मूल लेखक के प्रति किसी न किसी रूप में आभार प्रकट करते हुए अपना नाम भी दिया है। 'गोविन्द हुलास' नाटक में यह बात नहीं मिलती, इससे मौलिक ग्रन्थ होने की सम्भावना बढ़ जाती है। सारांश यह है कि अब तक उपलब्ध सामग्री के आधार पर रूप गोस्वामी अथवा जीव गोस्वामी ही नाटक के प्रणेता कहे जा सकते हैं। श्री अगरचन्द नाहटाजी ने बहुत पहले इन महान् गोस्वामियों के सम्बन्ध में इस सम्भावना को सामने रखा था कि वृन्दावन में निवास करने के कारण अवश्य हो उन्होंने ब्रजभाषा में रचनायें की होंगी।[1]

---

१. दे० डॉ० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० ६६

सम्भव है, नाटक की अन्य प्रति या प्रतियाँ मिल जाने पर इस समस्या का कुछ अधिक निश्चित समाधान प्राप्त किया जा सके।

गद्य कथा या वार्ता के रूप में हिन्दी 'विदग्ध माधव' की जो प्रतियाँ मुझे कांकरोली में प्राप्त हुई हैं, उनका विवरण दिया जा चुका है। विचारणीय यह है कि कांकरोली का विद्या विभाग वल्लभ-सम्प्रदाय का एक भारत-प्रसिद्ध संस्थान है। नाहटाजी ने भी अपने उल्लिखित निबन्ध में लिखा है कि 'इस ग्रन्थ का प्रचार वल्लभ-सम्प्रदाय में रहा होगा।' मेरा विचार है, चैतन्य सम्प्रदाय की मधुरोपासना का प्रभाव जिन अनेक साहित्यिक कृतियों के माध्यम से अन्य भक्ति सम्प्रदायों पर पड़ रहा था, उसमें 'विदग्धमाधव' नाटक प्रमुख है।

इस नाटक का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह भी है कि इसके द्वारा हिन्दी नाटक साहित्य की रचना-परम्परा की प्राचीनता और अखण्डता की पुष्टि होती है। नवीन शोधों से हिन्दी नाट्य-परम्परा उत्तरोत्तर प्राचीन प्रमाणित होती जा रही है। एक अहिन्दीभाषी के आलोच्य रचना के कर्ता होने की सम्भावना से उस समय भी हिन्दी के राष्ट्रव्यापी प्रसार और प्रभाव का प्रमाण मिलता है। इसके अन्य अनेक प्रमाण भी मिल रहे हैं। पन्द्रहवीं शती के मध्य में असम के महाकवि शंकरदेव ने हिन्दी में ही अपना 'कालिय दमन' नाटक लिखा था। और उड़ीसा के महाराज कपिलेन्द्रदेव ने 'परशुराम विजय' नामक संस्कृत व्यायोग की रचना की थी जिसमें हिन्दी का भी एक गीत सन्निविष्ट है।

हिन्दी नाटक-रचना की परम्परा की प्राचीनता के नये-नये प्रमाण मिलते जाते हैं, पर अभी तक 'गोविन्द हुलास' जैसा सर्वांगपूर्ण और साथ ही साथ इतना पुराना कोई दूसरा हिन्दी नाटक उपलब्ध नहीं हो पाया है। हिन्दी नाटक का उद्भव पन्द्रहवीं और सोलहवीं शती में लोकधर्मी नाट्य-परम्परा के नव्योत्थान का सहारा पाकर रासलीला और नौटंकी जैसे अभिनय रूपों के उत्संग में लीलानाटक आदि के रूप में हुआ था। उसी अवधि में 'गोविन्द हुलास' जैसे नाटक का लिखा जाना, जो नाट्यशास्त्र की दृष्टि से सर्वांग-सम्पन्न है, एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना है। इसके अतिरिक्त इस नाटक की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि यह गौड़ीय वैष्णव आचार्यों के रसशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों के सिद्धान्तों का समन्वित रूप हिन्दी में प्रस्तुत करता है। उक्त वैष्णव आचार्यों ने यह प्रयत्न भी किया था कि उनके सिद्धान्तों के अनुकूल नाटक लिखे और अभिनीत किये जायँ और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए मार्गदर्शन के निर्मित रूप गोस्वामीजी ने 'नाटकचन्द्रिका' नामक नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ भी लिखा था। संस्कृत में 'नाटकचन्द्रिका' में निरूपित सिद्धान्तों का अनुसरण करनेवाले 'विदग्ध माधव', 'ललित माधव', 'दानकेलि कौमुदी', 'चैतन्य चन्द्रोदय' जैसे

कई नाटक हैं। 'गोविन्द हुलास' हिन्दी में नाट्यशास्त्र की उसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है।

आनंद रघुनंदन नाटक :

'आनंद रघुनंदन नाटक' को प्राय: सभी विद्वानों ने संस्कृत शैली का हिन्दी का प्रथम नाटक माना है। 'गोविन्द हुलास' की उपलब्धि और प्रकाशन से उसके सम्बन्ध का यह दावा अब असिद्ध हो जाता है। फिर भी 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' का महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता। विद्वद्वर डॉ० दशरथ ओझा ने ठीक ही लिखा है—'विश्वनाथ जी ने वैदिककाल से चली आती हुई धार्मिक परम्परा को रामभक्ति-धारा में जोड़कर दीर्घकालीन इतिहास का दिग्दर्शन करा दिया है।' वस्तुत: इस नाटक में रामलीला की परम्परा को साहित्यिक रूप प्रदान करने का बड़ा विराट् उद्योग किया गया है। यद्यपि यह सात अंकों का नाटक है और इसमें पात्रों की संख्या भी बहुत अधिक है, फिर भी इसमें रामलीला की परम्परा के समसामयिक रंगमंच का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। यदि हम यह ध्यान में रखें कि रामलीला नाटक पूरे पक्ष भर धारावाहिक रूप में चलते हैं, तो 'आनन्द रघुनन्दन' नाटक के सात अंक और बहुसंख्यक पात्र अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होंगे। परम्परा से विच्छिन्न करके देखने पर इस नाटक के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। महाराज विश्वनाथ सिंह रससिद्ध कवि और नाटककार थे। ओझा जी का यह कथन यथार्थ है कि उनके इस नाटक में 'नाटकत्व काव्यतत्व से बाजी मार ले गया है।'[1] आगे चलकर भारतेन्दु जी ने भी महाराज विश्वनाथ सिंह जी के मार्ग का अनुसरण किया और लीला नाटकों एवं लोकनाट्य परम्पराओं को साहित्यिक स्वरूप प्रदान करने का सफल उपक्रम किया।

नहुष :

'आनन्द रघुनन्दन' के बाद दूसरा उल्लेखनीय नाटक भारतेन्दु जी के पिता गिरिधरदास जी का लिखा हुआ 'नहुष' नाटक है। यह नाटक पूरा प्राप्त नहीं हुआ है। उसका प्रथम अंक 'कविवचनसुधा' में छपा था, उतना ही अंश उपलब्ध है। यह नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' की प्राविधि का अनुकरण करता है।



---

१. डॉ० दशरथ ओझा—हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास, पृ० १४२

नाटककार भारतेन्दु

पृष्ठभूमि

रीतिकाल के अन्त एवं पूर्व-भारतेन्दु काल तक हिन्दी में आधुनिक शैली के साहित्यिक नाटक का स्वतंत्र विकास न हो सका था। हिन्दी में नाटक और अभिनय की धार्मिक और साहित्यिक परम्परा जिस रूप में थी, उसका सविस्तार विवेचन किया जा चुका है। वस्तुतः हिन्दी में संस्कृत के अनुवाद या अनुकरण की प्रवृत्ति से स्वतंत्र साहित्यिक नाटक का अभ्युदय भारतेन्दु की कला के प्रकाश में ही हुआ। हिन्दी में अभिनय और रंगमंच की नाट्यधर्मी-परम्परा का अभ्युदय भारतेन्दु के उदय की प्रतीक्षा कर रहा था। "भारतेन्दु" ने नाटक लिखने की नयी परम्परा को जन्म दिया, उन्होंने नाटक खेलने की परिपाटी आरम्भ की और स्वयं अभिनय करके लोगों के सामने एक आदर्श भी स्थापित किया। अकेले इस नाट्य-परम्परा के प्रवर्त्तन की दृष्टि से ही भारतेन्दु का उदय हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।

भारतेन्दु को नाटक-रचना की प्रेरणा अपने समय और समाज से मिली। अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने तथा अंगरेजी शिक्षा के प्रचार के परिणाम-स्वरूप पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान से जो संपर्क हुआ था, उससे देश में एक नवीन चेतना ने जन्म लिया। यह चेतना भारतीय साहित्य में क्रमशः उद्वेग और विक्षोभ के बीज बोने लगी। कारण, महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र, जिसने भारतीय हृदयों में अनेक सुखाशाओं का सृजन किया था, ढोंग सिद्ध हो चुका था। शासन की शोषण-नीति प्रकाश में आने लगी थी। अकाल, महामारी, टैक्स तथा बेकारी के रूप में जनता को उसके असली स्वरूप का परिचय मिलने लगा था। अंग्रेजों के शासन-प्रबन्ध तथा आर्थिक नीति और भारत के अकालों का घनिष्ठ संबंध है। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों के राज्य के फैलने के साथ भारतवर्ष में अकालों का डेरा जमता गया। जब कभी अकाल पड़ा, देश के लाखों आदमी काल के ग्रास बन गए। गाय, भैंस आदि पशुओं का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। सन् १८५८ ई० में कम्पनी के अत्याचारपूर्ण शासन का अन्त हुआ, विक्टोरिया ने भारत को इंगलैंड के राज्य के अधीन घोषित करते हुए अनेक मधुर आश्वासनों से परिपूर्ण घोषणापत्र प्रचारित किया। दुर्भाग्य से इस घोषणापत्र के बाद से ही देश में अकालों का ताँता लग गया। सन् १८६६ ई० में मन्दी और

अकाल दोनों का साथ-साथ प्रकोप हुआ, जिसमें १० से २० लाख तक मनुष्यों ने प्राण गँवाए। इसके दो ही वर्ष बाद ६८-६९ ई० में फिर भयानक अकाल पड़ा। सन् १८७७ में इंग्लैण्ड के युवराज के भारत आने के उपलक्ष्य में दिल्ली में एक बड़ा भारी दरबार हुआ, जिसमें भारत के राजा-महाराजाओं ने विक्टोरिया को साम्राज्ञी स्वीकार किया। ठीक इसी वर्ष दक्षिण भारत नए अकाल से पीड़ित हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप लाखों स्त्री, पुरुष और बच्चे कुत्ते की मौत मरे। सन् १८९४ से १८९९ ई० तक संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रदेश, पंजाब और बिहार सब भयानक दुर्भिक्ष से पीड़ित रहे, और १९०० ई० में गुजरात अकाल-कवलित हुआ। निरीह मनुष्यों के प्राण लेने में इस समय भुखमरी और महामारी दोनों में होड़ सी लगी थी। ऊपर से देश के विभिन्न भागोंमें जो बन्दोबस्त हो रहे थे, उनमें लगान इतना बढ़ा दिया गया था कि कर देकर किसान के पास कुछ रह ही नहीं जाता था। ये बन्दोबस्त दुर्भिक्ष को स्थायी बना देने के साधनमात्र थे। टैक्स पर टैक्स, अकाल पर अकाल और मरी पर मरी, यहीं देखी जाती है। नित्य नये-नये आईनों से बेधा जाता है और नित्य नयी स्पीचों से नोन छिड़का जाता है। "सारसुधानिधि" में प्रकाशित एक पत्र के इस अंश में परिस्थिति का मर्म भरा है। इस परिस्थिति में अंग्रेजी साम्राज्यवाद का असली रूप घोषणाओं के पर्दे में छिपाया नहीं जा सकता था। भूटान राज्य का उपजाऊ प्रदेश लेकर, बर्मा को जीतकर और अफगानिस्तान को व्यापारिक संधि के लिये विवश करके अंग्रेजों ने अपनी साम्राज्यलिप्सा का वास्तविक स्वरूप और भी स्पष्ट कर दिया था। अंग्रेजों के साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ा हुआ यह मुमूर्षु देश ही भारतेन्दु के साहित्य की मूल प्रेरणा है।

गोस्वामी तुलसीदास जी की तरह भारतेन्दु ने भी लोकहित-साधन और साहित्य-साधना को एकरूप कर दिया था। "कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहँ हित होई", साहित्य-साधना का यही उदात्त आदर्श भारतेन्दु ने भी अपनाया था। अपने साहित्य द्वारा जन-जागरण के लिये वह एक विशाल आन्दोलन चलाना चाहते थे, परन्तु अपने साहित्य द्वारा जिस समाज को उन्हें प्रबुद्ध करना था, वह दो प्रकार का था। एक ओर असंख्य अशिक्षित जनता थी, जिसको अक्षरज्ञान भी नहीं था। ऐसे लोगों के लिए नाटक, उपन्यास और काव्य आदि की रचना व्यर्थ ही थी। इन लोगों के कल्याण को दृष्टि में रखकर ही भारतेन्दु जी ने मई १८७९ ई० की "कवि-वचन-सुधा" में लिखा था—"भारतवर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं, उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है। इस विषय के बड़े-बड़े लेख और काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण की दृष्टिगोचर नहीं होते।

इसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जायँ।

यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रचार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है कि जितना ग्रामगीत शीघ्र फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता। साधारण लोगों के चित्त पर भी इन बातों का अंकुर जमाने को इस प्रकार से जो संगीत फैलाया जाय तो बहुत कुछ संस्कार बदल जाने की आशा है। इसी हेतु मेरी इच्छा है कि मैं ऐसे-ऐसे गीतों का संग्रह करूँ और उनको छोटी-छोटी पुस्तकों में मुद्रित करूँ। इस विषय में मैं, जिनको कुछ भी रचनाशक्ति है, उनसे सहायता चाहता हूँ कि वे लोग भी इस विषय पर गीत या छन्द बनाकर स्वतंत्र प्रकाश करें या मेरे पास भेज दें, मैं उनको प्रकाश करूँगा और सब लोग अपनी मंडली में गाने वालों को यह पुस्तक दें। जो लोग धनिक हैं, वह नियम करें कि जो गुनी इन गीतों को गावेगा उसी का वे लोग गाना सुनेगें।....ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छन्दों में और साधारण भाषा में बनें, वरंच गँवारी भाषाओं और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों। कजली, ठुमरी, खेमटा, कहरवा, अद्धा, चैती, होली, साँझी, लंबे, लावनी, जाँते के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्रामगीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो, अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखंड में बुन्देलखंडी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिस भाषा का प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।" जन-जागृति के लिए जनपदीय भाषाओं में जिस प्रकार के लोकगीत अथवा जन-साहित्य की रचना का आन्दोलन चल रहा है, उसकी कैसी प्रशस्त योजना भारतेन्दु ने बनाई थी 'हिन्दी में जब इस जन-साहित्य की माँग हो रही थी, तब रूस और इंगलैंड में पुराने प्रतिक्रियावादी साहित्य का दौर दौरा था।

भारतेन्दु-कालीन समाज का दूसरा वर्ग वह था जो संख्या में अल्प होते हुए भी शिक्षित था। प्राचीन काल से भारत में उच्च शिक्षा की जो प्रणाली चली आ रही थी वह विघटित कर दी गयी थी। अंग्रेजी शासन के सूत्रधारों ने अपने साम्राज्य के हित के लिए ही इस प्राचीन शिक्षा-विधि को बदल कर उसके स्थान पर अंग्रेजी की शिक्षा के प्रचार और प्रसार का व्यापक उद्योग किया था। माध्यमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक, सबका माध्यम अंग्रेजी भाषा ही मान ली गयी थी, जिसका उद्देश्य हिन्दू सभ्यता और संस्कृति का उन्मूलन और उसके स्थान पर देश में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति की प्रतिष्ठा करना था। अतएव इस समय का शिक्षित समाज अंग्रेजी शिक्षा की परम्परा में पलने के कारण धीरे-धीरे

अपने साहित्य, सभ्यता और संस्कृति से विमुख होता जा रहा था। इस शिक्षित वर्ग की आवश्यकताओं को तत्कालीन हिन्दी साहित्य पूरा नहीं कर पा रहा था, इसलिए दोनों के बीच एक गहरी खाई बन गयी थी। इस खाई को पाट कर इस वर्ग को हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान की ज्योतिर्मयो परम्पराओं में दीक्षित करना, वर्तमान की विषम समस्याओं और देश के क्लेशों का उन्हें परिचय और अनुभव कराना, और भविष्य के नव-निर्माण के लिए उन्हें अग्रसर करना, भारतेन्दु के साहित्य के सामने जातोय जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति की समस्या थी। भारतेन्दु जी ने अपनी यात्राओं के बीच अनुभव किया कि बंगाल में नाटक और रंगमंच सफलतापूर्वक यह कार्य सम्पादन कर रहे हैं। अतएव उन्होंने बड़े उत्साह से हिन्दी में नाटक-प्रणयन का श्रीगणेश किया। भारतेन्दु जी ने स्वयं अपने ''नाटक'' नामक निबन्ध में समाज-संस्कार और देश-वत्सलता को नाटक-रचना के मुख्य उद्देश्यों में गिनाया है, जो भरतोक्त-नाट्यादर्श-वेद-व्यवहार को सार्ववर्गिक बनाना-के अनुकूल ही है। समाज-संस्कार और देश-वत्सलता का यह सन्देश जनता तक नाटक द्वारा जिस सरलता से पहुँचाया जा सकता है, उतना अन्य किसी साहित्यिक माध्यम द्वारा नहीं, और नाटक शिक्षित ही नहीं अशिक्षित वर्ग को भी प्रभावित कर सकता है, दृश्यकाव्य की इस प्रभविष्णुता का अनुभव भी भारतेन्दु जी ने किया। संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार कालिदास की तरह भारतेन्दु जी भी यह अच्छी तरह से समझते थे कि नाटक ही एक ऐसा साधन है जो विभिन्न रुचि रखने वाले व्यक्तियों का समान रूप से मनोरंजन कर सकता है—''नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकंसमाराधनम्।''

देश और समाज के हित के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के नव-निर्माण की भी समस्या थी। हिन्दी साहित्य इस समय रीतिकाल की रूढ़ियों में जकड़े होने के कारण एकांगी और निर्जीव था। उसमें और सब कुछ होते हुए भी नई शैली के साहित्यिक नाटक नहीं थे, और गद्यफोर्ट विलियम कालेज में पल कर तथा राजा लक्ष्मण सिंह और शिवप्रसाद सितारे हिन्द की लेखनी का अवलम्ब पाकर भी अभी तक अर्द्धविकसित और अनिश्चित दशा में था। नाटक-रचना द्वारा भारतेन्दु ने अपनी प्यारी हिन्दी के इन सब अभावों की एक साथ पूर्ति की। नाटक-साहित्य की नवीन परम्परा के प्रवर्त्तन के साथ ही साथ गद्य-साहित्य की परम्परा का भी धूमधाम से अबाध प्रवाह बह चला, और 'हिन्दी नई चाल में ढली'। भूषण के प्रायः दो सौ वर्ष पश्चात् हिन्दी साहित्य पुनः राष्ट्रीय चेतना के जीवन-स्वप्नों से पुलकित और जाग्रत् हो उठा। हिन्दी के स्थान पर उर्दू को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का जो षड्यन्त्र चल रहा था, भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के नाटकों के प्रचार से वह भी विफल हो गया और भारत की

प्रकृत राष्ट्रभाषा हिन्दी की विजयिनी प्रतिभा का प्रकर्ष पुनः जनजीवन का अन्धकार दूर करने में समर्थ हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु की साहित्य-साधना के मूल में राष्ट्र के सर्वोदय की कामना निहित थी। अकेले उनके नाटकों से ही भाषा, साहित्य, समाज और राष्ट्र सब का बहुमुखी हित साधित हुआ।

(२)

भारतेन्दु का नाट्यादर्श और उनके मौलिक तथा अनूदित नाटक

भारतेन्दु एक नवीन नाट्यादर्श की प्रतिष्ठा भी करना चाहते थे, जिसमें प्राचीन और नवीन अर्थात् पूर्वी और पश्चिमी नाट्यधर्म का समन्वय हो। उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में लिखा है—''प्राचीनकाल के अभिनयादि के सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगों की और दर्शक-मण्डली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य रचना करके सामाजिक लोगों का चित-विनोदन कर गये हैं। किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इसमें सम्प्रति प्राचीन मत का अवलम्बन करके नाटक आदि दृश्यकाव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता। जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप में चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है। नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी, वह सब अवश्य ग्रहण होगी। नाट्यकला-कौशल दिखलाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप में दृष्टि रखनी चाहिए (भारतेन्दु नाटकावली प्र० भा०, पृ० ४३१, सं० ब्रजरत्नदास बी० ए० एल-एल० बी०) इस अवतरण में सबसे पहले ध्यान इस बात पर जाता है कि भारतेन्दु नवीनता के लिए नवीन का आग्रह नहीं कर रहे थे। उनकी दृष्टि अपने समय के समाज और उसकी बदली हुई विलक्षण रुचि पर थी। साथ ही वे अपने नाटकों में प्राचीन समस्त रीति को परित्याग करने के पक्ष में नहीं थे। देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखते हुए एक मध्यम मार्ग की खोज में थे। भारतीय साहित्य में पहले-पहल भारतेन्दु के द्वारा ही भारतीय और यूरोपीय नाट्यकलाओं के समन्वय का यह सजग उद्योग हुआ था। इस समय का बंगला नाटक अपनी प्राचीन नाट्यपरम्परा

से सर्वथा विच्छिन्न हो गया था, और उसमें अंगरेजी का अन्धानुकरण चल रहा था।

इस नवीन नाट्यादर्श की स्थापना के लिए भारतेन्दु ने जिस कौशल का प्रयोग किया, वह उनके नाटकों के विषय, भेद और स्वरूप पर दृष्टि डालने से प्रकट हो जाता है। उनके नाटक अनूदित और मौलिक दोनों प्रकार के हैं, जिनकी सूची यह है—

	भेद	रचनाकाल	विशेष
१. विद्यासुन्दर	नाटिका	सं० १९२५	संस्कृत के सुप्रसिद्ध कवि चौर की "चोर-पंचाशिका" के आधार पर बंगला में महाराजा यतीन्द्र मोहन ठाकुर ने "विद्यासुन्दर" नाटक की रचना की। यह उसी का छाया-नुवाद है।
२. रत्नावली	नाटिका	सं० १९२५	मूल ग्रन्थ संस्कृत में है जिसके रचयिता संस्कृत के सुप्रसिद्ध महाकवि सम्राट् हर्ष हैं। इसकी प्रस्तावना तथा विष्कंभक मात्र का अनुवाद मिलता है। मूल का रचनाकाल ईसा की सातवीं शती है।
३. पाखण्ड विडम्बन	नाटक (एकांकी)	सं० १९२५	कृष्णमिश्र कृत "प्रबोध-चन्द्रोदय" नामक प्रतीक नाटक के पाखंड-विडम्बन नामक तृतीय अंक का यह अनुवाद है। मूल का रचना काल वि० की ११वीं शती है।
४. धनंजय विजय	व्यायोग	सं० १९३०	मूल कृति संस्कृत में है, जिसके रचयिता कांचन पंडित हैं। मूल का रचना-काल १६ वीं शती का पूर्वार्द्ध अथवा इससे पहले हो सकता है।
५. मुद्राराक्षस	नाटक	सं० १९३१–३२	यह विशाख कृत संस्कृत के संसार प्रसिद्ध नाटक "मुद्राराक्षस" का अनुवाद है। मूल का रचना काल ईसवी छठी शती का उत्तरार्द्ध है।

६.	कर्पूर मंजरी सट्टक	सं० १९३६	मूल नाटिका प्राकृत में है जिसके रचयिता महाराष्ट्र देश के कवि राजशेखर हैं। इनका रचना काल विक्रम की १० वीं शती है।
७.	दुर्लभबन्धु नाटक	सं १९३७	यह अंग्रेजी के सर्वश्रेष्ठ नाटककार विश्वविख्यात शेक्सपियर के "मर्चेण्ट ऑफ वेनिस" का रूपान्तर है।

"मौलिक"

८.	प्रवास	नाटक	सं० १९२५	अप्राप्य
९.	वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	प्रहसन	सं० १९३०	
१०.	सत्य हरिश्चन्द्र	नाटक	सं० १९३२	
११.	प्रेमजोगिनी	नाटिका	सं० १९३२	अपूर्ण
१२.	विषस्य विषमौषधम्	भाण	सं० १९३३	
१३.	श्रीचन्द्रवली	नाटिका	सं० १९२३	
१४.	भारतदुर्दशा	नाट्यरासक व लास्यरूपक	सं० १९३३	
१५	भारत जननी	औपेरा	सं० १९३४	
१६.	नीलदेवी	गीतिरूपक	सं० १९३४	
१७.	अंधेरनगरी	प्रहसन	सं० १९३५	
१८.	सतीप्रताप	गीतिरूपक	सं० १९४१	इसके अन्तिम तीन दृश्य बा० राधाकृष्ण-दास ने लिखे हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भारतेन्दु के नाटकों की जो सूची दी है, उसमें "सत्य हरिश्चन्द्र" को अनुवाद ग्रन्थ माना गया है और "दुर्लभबन्धु" तथा "भारत जननी" का उसमें उल्लेख ही नहीं है। शुक्ल जी ने लिखा है—"सत्य हरिश्चन्द्र" मौलिक समझा जाता है, पर हमने एक पुराना बंगला नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है। किन्तु शुक्ल जी ने उस बंगला-नाटक के सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है, न तो उसका नाम दिया है और न उसके लेखक का। ऐसी स्थिति में शुक्ल जी के व्यक्तित्व की गुरुता स्वीकार करते हुए भी, जब तक वह बंगला नाटक प्रकाश में नहीं आता, हम सहसा इसको शत प्रतिशत अनूदित मान लेने के पक्ष में नहीं हैं। कारण "सत्य

हरिश्चन्द्र'' के कुछ दृश्य और दृश्यांश तो सर्वथा भारतेन्दु जी की मौलिक कृति हैं। उनको किसी अन्य लेखक का अनुवाद क्या छायानुवाद भी नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह भी है कि भारतेन्दु ने अपने सब ग्रन्थों में मूल कृति का विवरण दिया है, इसी एक नाटक में उसे छिपा रखने की प्रवृत्ति उनमें क्यों आ जाती ? निःसन्देह उन्होंने ''सत्य हरिश्चन्द्र'' के उपक्रम में आर्य क्षेमीश्वर कृत सस्कृत ''चंड कौशिक'' का उल्लेख किया है, जिससे उन्हें प्रेरणा मिली। इस सम्बन्ध में ब्रजरत्नदास जी का कथन महत्वपूर्ण है—''संस्कृत साहित्य में आर्य क्षेमीश्वर कृत ''चंड कौशिक'' और रामचंद्र कृत ''सत्य हरिश्चन्द्र नाटकम्'' नाम के दो रूपक मिलते हैं जो राजा हरिश्चन्द्र की आख्यायिका लेकर निर्मित हुए हैं। यद्यपि भारतेन्दु जी का ''सत्य हरिश्चन्द्र'' नाटक इन दोनों में से किसी का पूरा अनुवाद नहीं है, पर प्रथम का कुछ भाग इसमें अनूदित करके लिया गया है। इन सभी नाटकों का आधार एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान है और उसमें कुछ हेर फेर कर इन सभी नाटकों की रचना हुई है। यह सम्भव है कि जिस बँगला नाटक को शुक्ल जी ने देखा था, उसके लेखक को भी क्षेमीश्वर कृत ''चंड कौशिक'' से प्रेरणा मिली हो। इसीलिये उसमें और भारतेन्दु कृत ''सत्य हरिश्चन्द्र'' में शुक्ल जी को साम्य दिखाई पड़ा। तात्पर्य यह कि उस अज्ञात बँगला नाटक को महत्व देने से पहले इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु जी ने ''चंड कौशिक'' का तो उल्लेख किया है, पर किसी बँगला नाटक का नहीं। ''भारत जननी'' के सम्बन्ध में शुक्ल जी लिखते हैं—''कहते हैं कि ''भारत-जननी'' उनके एक मित्र का किया हुआ बंग भाषा में लिखित ''भारतमाता'' का अनुवाद था जिसे उन्होंने सुधारते-सुधारते सारा फिर से लिखा है। इसीलिए शुक्ल जी ने उसे भारतेन्दु जी के मौलिक अथवा अनूदित किसी भी प्रकार के नाटकों में स्थान नहीं दिया। ''भारत जननी'' के विषय में भी ब्रजरत्नदास जी के विचार उद्धृत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पाता। उन्होंने लिखा है—''यह रूपक बँगला भाषा की ''भारतमाता'' के आधार पर लिखा गया है। यह सन् १८७७ के दिसम्बर मास की ''हरिश्चन्द्र चंद्रिका'' की संख्या में प्रकाशित हुआ था। सन् १८७८ ई० के ''कविवचन सुधा'' में यह विज्ञापन निकला था जिससे यह ज्ञात हो जाता है कि यह भारतेन्दु जी ने इसमें पद आदि देकर तथा संशोधन कर इसे प्रकाशित कर दिया होगा। यदि इनके मित्र साहित्यिक होते तो उनका नाम अज्ञात न रह जाता और यदि ''भारत जननी' उन मित्र की सम्पूर्ण कृति होती तब भी उनका नाम न छिपा रहता। वास्तव में साहित्यिक क्षेत्र में आने का उनका यह प्रथम प्रयास था और जब उन्होंने इसमें अपने को इतना असफल देखा तब अपना नाम तक देना अनुचित

समझा। भारतेन्दु जी ने दूसरी ओर अपनी सहज उदारता के कारण यह बात छिपा न रखी। स्यात् मित्र के अनुरोध के कारण ही उनका नाम नहीं दिया गया, नहीं तो क्या वे अपने मित्र का नाम तक न जानते रहे होंगे। तात्पर्य यह कि नाममात्र को दूसरे को होते हुए भी "भारत जननी" भारतेन्दु की रचना है। जब स्वयं शुक्ल जी भी यह मानते हैं कि भारतेन्दु जी ने "भारत-जननी" को सुधारते-सुधारते सभी कुछ फिर से लिख डाला, तो मुझे भी यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती कि "भारत-जननी" भारतेन्दु की ही कृति है। इसीलिए मैंने उसे भी एक मौलिक ग्रन्थ माना है। "दुर्लभ बन्धु" के सम्बन्ध में शुक्ल जी मौन हैं। कदाचित् इसके भी भारतेन्दु द्वारा अनूदित होने में शुक्ल जी को सन्देह है। सन्देह का कारण यह टिप्पणी हो सकती है, जो इसके प्रथम दृश्य के साथ छपी थी, जब यह ज्येष्ठ शु० सं० १९३७ की "हरिश्चन्द्र चंद्रिका" और "मोहन चन्द्रिका" में प्रकाशित हुआ था। टिप्पणी इस प्रकार थी—"निजबन्धु बा० बालेश्वर प्रसाद बी० ए० की सहायता से और बँगला पुस्तक 'सुरलता' की छाया से हरिश्चन्द्र ने लिखा। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि यह अनुवाद अधूरा रह गया था, जिसे आगे चल कर पं० रामशंकर व्यास तथा बाबू राधाकृष्णदास ने पूरा किया। इन कारणों से इस रचना को शुक्ल जी के अतिरिक्त अन्य लोग भी भारतेन्दु की असंदिग्ध रचना नहीं मानते होंगे, जिसका प्रतिवाद करते हुए बा० ब्रजरत्नदास जी ने लिखा है—"यह कथन कि यह अनुवाद भारतेन्दु जी का न होकर बा० बालेश्वर प्रसाद कृत है, भ्रम मात्र है क्योंकि उक्त सज्जन ने, जो फारसी के अच्छे ज्ञाता थे, इसका अनुवाद "वेनिस के सौदागर" नाम से किया था। वह अनुवाद 'काशी' पत्रिका में छपा था। भारतेन्दु जी ने स्वयं इसका अपने 'नाटक' निबन्ध में उल्लेख किया है।" शेक्सपियर ने इस नाटक में मैत्री के जिस उदात्त आदर्श को अवतारणा की है, वह भारतेन्दु जी की मित्र-वत्सलता से पूर्णतया मेल खाता है। इसीलिए भारतेन्दु इस नाटक के प्रति अनुरक्त हुए होंगे।

अनुवाद के लिए नाटक-ग्रन्थों के चुनाव में भी भारतेन्दु जी ने नवीन नाट्यादर्श की स्थापना का लक्ष्य रखा है। जिन संस्कृत नाटकों का उन्होंने अनुवाद किया है वे संस्कृत नाट्य-साहित्य के इतिहास के विभिन्न युगों की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। संस्कृत के सर्वप्रसिद्ध नाटक कालिदास की शकुन्तला का अनुवाद हो ही चुका था। "रत्नावली" की भूमिका में भारतेन्दु जी ने लिखा है—"शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में "रत्नावली नाटिका" बहुत अच्छी और पढ़नेवालों को आनन्द देनेवाली है। इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटिका का तर्जुमा किया है और जो ईश्वरेच्छा अनुकूल है और आप गुणग्राहकों की अनुग्रह दृष्टि है तो धीरे-

धीरे कुछ नाटकों का तर्जुमा कर प्रकाशित हो जायगा'' । निःसन्देह ''रत्नावली'' का स्थान संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा माना गया है, वह संस्कृत में अपनी कोटि की प्रथम कृतियों में है । 'रत्नावली' और 'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाटक के अभ्युदयकाल की रचनाएँ हैं । 'मुद्राराक्षस' का रचनाकाल अनुमानतः ईसा की छठीं शती है। उसके रचयिता विशाखादत्त दर्शनशास्त्र न्याय, ज्योतिष, राजनीति विशेषतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति के पंडित थे । उनका यह असाधारण पाण्डित्य उनकी रचना में सफलता से प्रतिफलित हुआ है । 'मुद्राराक्षस' की प्रसिद्धि विदेशों में शाकुन्तल के ही समान है । विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव में अद्वितीय है । इसका विषय राजनीति या कूटनीति है । वह इतनी पेचीदी है जितनी मानवबुद्धि कल्पना कर सकती है । इसकी शैली 'रत्नावली' और 'शकुन्तला' की तरह कोमल और सुकुमार नहीं, अपितु ओज, तेज और पौरुष से दृप्त है । 'कर्पूर मंजरी' भी अनेक दृष्टियों से विशिष्ट कृति है । वह अपने को वाल्मीकि, भवभूति और भर्तृमेण्ठ का अवतार मानने वाले राजशेखर की कृति है । इनका समय नवम शती का अन्त तथा दशम शती का पूर्वार्द्ध माना जाता है, जो संस्कृत नाटक के अभ्युदय और ह्रास का संधिकाल कहा जा सकता है । 'कर्पूर मंजरी' एक सट्टक है । प्राकृत् भाषा में लिखी गयी नाटिका ही जिसमें प्रवेशक और विष्वंभक न हों सट्टक कहलाती है । सट्टकों में 'कर्पूरी मंजरी' सर्वश्रेष्ठ है । 'धनंजय विजय' कांचनाचार्य कृत व्यायोग है, जिसकी रचना १२ वीं-१३ वीं शती में हुई थी, जो संस्कृत नाटक का ह्रास काल है । व्यायोग स्त्री पात्र रहित एकांकी रूपक होता है जिसमें एक ही दिन की कथा में युद्ध का निदर्शन रहता है । 'धनंजय-विजय' की कथा महाभारत के विराट पर्व से ली गई है, और इसमें उत्तरा को सारथी बनाकर अर्जुन द्वारा राजा विराट की गायों का कौरवों के पंजे से छुड़ाने का वर्णन है । ठीक यही कथानक लेकर कुछ पूर्व प्रह्लादन देव ने संस्कृत में 'पार्थ पराक्रम' नामक एक सुन्दर व्यायोग लिखा था, जो बहुत लोकप्रिय हुआ था । 'पाखंड-विडंबन' कृष्ण मिश्र कृत 'प्रबोधचंद्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है । अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि वह अपने में पूर्ण एक स्वतंत्र एकांकी नाटक प्रतीत होता है । कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चंद्रोदय' संस्कृत में प्रतीक नाटकों की परम्परा का प्रवर्त्तक है । बौद्धकाल में भी यह प्रतीक नाटकों की परम्परा विद्यमान थी, किन्तु वह कालांतर में टूट गयी थी जिसको कृष्ण मिश्र ने पुनरुज्जीवित किया । प्रतीक नाटकों में पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक होते हैं, उनमें शान्ति, करुणा, श्रद्धा, भक्ति आदि मानवीय वृत्तियों और भावनाओं को नाटकीय पात्र बना दिया जाता है । कृष्ण मिश्र का

यह नाटक प्राचीन हिन्दी कवियों में भी बहुत लोकप्रिय हुआ था, और उसके अनेक अनुवाद अथवा छायानुवाद भक्तिकाल और रीतिकाल में हुए थे, जिनकी समीक्षा की जा चुकी है। 'प्रबोध चंद्रोदय' की रचना ईसा की ११ वीं शती में हुई थी।

संस्कृत से अनुवाद के लिए चुने गये ग्रन्थों की शैली और स्वरूप में भी विविधता है। इनके द्वारा जहाँ संस्कृत साहित्य के विभिन्न युगों की प्रतिनिधि रचनाओं को भारतेन्दु हिन्दी को भेंट करना चाहते थे, वहाँ वे दृश्यकाव्य के अनेक भेदोपभेदों का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ भी हिन्दी में लाना चाहते थे। संस्कृत में नाटक मात्र की संज्ञा दृश्यकाव्य है। दृश्यकाव्य के दो भेद हैं—(१) रूपक और (२) उपरूपक। पुनश्च, रूपक के दस और उपरूपक के अट्ठारह भेद हैं। रूपक के दस भेदों में प्रधान और सर्वाधिक लोकप्रिय नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग और प्रहसन हैं, और उपरूपकों में नाटिका और सट्टक ही अधिक लोकप्रिय रहे हैं। 'मुद्राराक्षस' और 'धनंजय विजय' के रूप में रूपक के दो प्रधान भेद नाटक और व्यायोग हिन्दी में आ गए, और रत्नावली तथा कर्पूर मंजरी के रूप में उपरूपकों के प्रकार नाटिका और सट्टक भी। संस्कृत नाटक के प्रधान रस वीर और श्रृंगार हैं, अन्य रस गौण माने गए हैं। 'मुद्राराक्षस' और 'धनंजय विजय' सारस्वती और आरभटी वृत्तिवाली वीर रस की रचनाएँ हैं, जिनके नायक चाणक्य, चन्द्रगुप्त और अर्जुन, धीर, शांत तथा धीरोदात्त हैं। 'रत्नावली' और 'कर्पूर मंजरी' कैशिकी-वृत्ति-बहुला श्रृंगार-रस की कृतियाँ हैं, जिनके नायक उदयन और कुमार चंद्रपाल दोनों धीरललित हैं। 'धनंजय विजय' रूपक का एक अंक वाला सबसे छोटा भेद है, और 'मुद्राराक्षस' उसका एक सबसे बड़ा भेद सात अंक वाला नाटक है। 'प्रबोध चंद्रोदय' (पाखंड-विडंबन) में शांत रस लक्ष्य है। साथ ही यह भी ध्यान रखने योग्य है कि 'मुद्राराक्षस', 'धनंजय विजय' और 'प्रबोध चंद्रोदय' के अनुवाद संस्कृत से हुए हैं और 'कर्पूरी मंजरी' का प्राकृत से, जिससे संस्कृत और प्राकृत दोनों की नाट्यकला के आदर्श रूप का परिचय हिन्दी जनता को हो सका। इनके अतिरिक्त 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद उन्होंने महाराजा यतींद्रमोहन ठाकुर की इसी नाम की कृति की छाया ग्रहण करके प्रस्तुत किया। 'विद्यासुन्दर' के कथानक का आधार चौर कवि की सरस रचना चौरपंचाशिका है। यह कथा बंगाल में बहुत लोकप्रिय है, और उसके आधार पर कई काव्य ग्रंथ और नाटक बँगला में लिखे गये हैं। नवीन शैली के नाटक की रचना का श्रीगणेश पहले-पहल बंगला में ही हुआ, इसलिए भारतेन्दु ने उस भाषा का एक नमूना भी हिन्दी को भेंट किया। 'विद्यासुन्दर' नाटक यद्यपि बंगला के इसी नाम के नाटक का छायानुवाद है, फिर भी उसमें भारतेन्दु

की मौलिक प्रतिभा की स्थान-स्थान पर झलक मिलती है। कहीं-कहीं वह बंगला नाटक से अधिक सरस बन पड़ा है, और मौलिक जैसा लगता है। भारतेन्दु जी ने अपने 'नाटक' निबन्ध में स्वयं लिखा है—'आजकल योरप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंगदेश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं, वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं। प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परम मुख्यता बारम्बार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक-एक अंक में अनेक-अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है, क्योंकि इस समय में नाटक के खेलों के साथ विभिन्न दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया है। विद्यासुन्दर में तीन अंक हैं, और प्रत्येक अंक अनेक गर्भांकों में विभाजित है। योरोपीय नाटक के स्वरूप का अधिक निकट परिचय कराने के लिये भारतेन्दु जी ने 'दुर्लभ बन्धु' नाम से 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' के अनुवाद का प्रारम्भ किया। घटनावैचित्र्य, व्यक्ति-वैचित्र्य-चित्रण यथार्थवाद, संघर्ष आदि पाश्चात्य नाट्यकला के प्रधान गुण हैं। 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' के अनुवाद द्वारा भारतेन्दु हिन्दी नाटक में भी इन गुणों के यथोचित समावेश के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना चाहते थे। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु नवयुग की चेतना के अनुरूप नवीन नाट्यधर्म के अभ्युत्थान के लिये एक सुनिर्धारित योजना के अनुसार काम कर रहे थे, उनका अनुवाद कार्य इस योजना का प्रधान अंग था।

भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में भी हम उनकी यह योजना व्यवहृत होते देखते हैं। उनके कुछ मौलिक नाटक अपनी स्वरूप-योजना में भारतीय नाट्य-शास्त्र का अनुकरण करते हैं और कुछ में पाश्चात्य नाट्यशैली का अनुसरण किया गया है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक है, चन्द्रावली नाटिका है, 'विषस्य विषमौषधम्' भाण है, 'भारत-दुर्दशा' नाट्यरासक है, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'अन्धेर नगरी' प्रहसन हैं। इनमें रूपक के दो नए भेद–भाण और प्रहसन और उपरूपक का एक भेद गेय नाट्यरासक और आ गए हैं, जो अनुवाद ग्रन्थों में नहीं थे। भारतेन्दु जी ने 'भारत जननी' को औपेरा और 'नीलदेवी' तथा 'सतीप्रताप' को गीति-रूपक कहा है, ये दोनों ही पाश्चात्य नाटक के प्रकार हैं। ''ये नवीन नाटक मुख्य दो भागों में बँटे है—एक नाटक, दूसरा गीति-रूपक, जिनमें कथाभाग विशेष और गीति न्यून हों नाटक और जिसमें गीति विशेष हों वह गीतिरूपक।'' (भारतेन्दु—'नाटक' निबन्ध) इस प्रकार भारतेन्दु बाह्यतः भारतीय दृश्यकाव्य और पाश्चात्य नाटक के अनेक रूपों की अवतारणा तो हिन्दी में कर सके, पर इनमें किस प्रकार और किस अंश तक भारतीय और पाश्चात्य नाट्यकलाओं का समन्वय करने में वे सफल हुए, यह विचारणीय है।

वस्तु नेता और रस ही भारतीय दृष्टि से नाटक की मुख्य धातुएँ हैं। भारतेन्दु के अनूदित ग्रन्थों में इनकी समीक्षा की आवश्यकता नहीं। कारण, मौलिक न होने से उनमें भारतेन्दु की नाट्यकला की विशेषताओं के प्रवेश के लिये स्थान ही नहीं था। फिर भी इन अनूदित ग्रन्थों की वस्तु, नेता और रस के अनुशीलन से भारतेन्दु की रुचि और प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। विद्या-सुन्दर का कथानक कविकल्पित ही प्रतीत होता है, वह सरल है और उसमें आधिकारिक कथा के अतिरिक्त प्रासंगिक कथावस्तु का योग नहीं है। उसका नायक धीरोदात्त और नायिका स्वकीया है, प्रधान रस शृंगार है। 'कर्पूरीमंजरी' और 'रत्नावली' की कथावस्तु का आधार ऐतिहासिक है, किन्तु दोनों के कथानक सरल हैं और पताका, प्रकरी आदि की योजना उनमें नहीं है, नायक दोनों के ही धीरललित हैं और प्रधान रस शृंगार है। 'पाखण्ड-विडम्बन' एक आध्यात्मिक रूपक है। 'धनंजय-विजय' व्यायोग की कथावस्तु पौराणिक है। इसके नायक अर्जुन धीरोदात्त हैं और प्रधान रस वीर है। मुद्राराक्षस नाटक की कथावस्तु ऐतिहासिक और राजनीतिक है। वैसे इस नाटक का चरित्रचित्रण विलक्षण और असाधारण है, परन्तु उसका सर्वप्रधान पात्र चाणक्य, जिसकी अन्तःप्रकृति के निर्णय में अब तक इतिहास असफल रहा है, आपततः धीरशान्त कोटि का है। चन्द्रगुप्त और राक्षस धीरोदात्त नायक हैं और मलयकेतु के चरित्र में धीरोदत्त नायक की झलक मिलती है। इस नाटक का मुख्य रस वीर है सम्पूर्ण नाटक में वीररस के स्थायी भाव उत्साह का महासमुद्र हिलोरें लेता हुआ प्रतीत होता है, और विभिन्न पात्र उसकी बड़ी-छोटी तरंगों से लगते हैं। 'धनंजय-विजय' और 'मुद्राराक्षस' में स्त्री पात्रों के लिए स्थान ही नहीं है। मुद्राराक्षस में जो एकाध स्त्री पात्र रंगमंच पर कभी दर्शन भी देते हैं, तो केवल निर्मम राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली बन कर। इस अनूदित नाटकों से जीवन के विविध स्वरूपों के प्रति भारतेन्दु के अनुराग और व्यापक रुचि का पता चलता है। कल्पित प्रेमाख्यानों से लेकर राजनीतिप्रधान ऐतिहासिक और पौराणिक सभी प्रकार के नाटकों पर उनका समान अनुराग रहा है। उनके सर्वप्रिय रस शृंगार और वीर हैं। इन नाटकों में यद्यपि धीरोदात्त, धीरललित और धीरोद्धत सभी प्रकार के पात्र हैं परन्तु भारतेन्दु जी का प्रधानतया धीरोदात्त और धीरललित पर ही विशेष अनुराग लक्षित होता है। इनके स्त्री पात्र प्रायः सभी स्वकीय कोटि के हैं। एक बात और ध्यान में रखने की है कि अनुवाद के लिए चुने गए इन नाटकों में कोई दिव्य नायक नहीं है, सब अदिव्य (लौकिक महापुरुष चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि) और दिव्यादिव्य (अर्जुन) ही हैं। अनूदित नाटकों में लक्षित भारतेन्दु की इन प्रवृत्तियों का प्रतिफल हम उनके मौलिक नाटकों में देखेंगे।

इन नाटकों के अनुवाद में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। गद्यांशों का अनुवाद खड़ी बोली में किया गया है जिसके रूप की चर्चा आगे होगी, पद्यांशों का अनुवाद भारतेन्दुजी ने ब्रजभाषा में किया है, जो उस समय तक कविता की सर्वमान्य भाषा थी। उनके अनुवाद के लिये अत्यन्त प्रौढ़ कवि-प्रतिभा अपेक्षित है। सौभाग्य से भारतेन्दु को उच्चकोटि की कवित्व-शक्ति प्राप्त थी। फलस्वरूप उनके द्वारा किए गए पद्यांशों के अनुवाद में मौलिक रचनाओं का सा आनन्द आता है। संस्कृत रचनाओं के इतने सफल अनुवाद हिन्दी में राजा लक्ष्मण सिंह और कविरत्न सत्यनारायण जी के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सका। गद्यांशों के अनुवाद में भी भारतेन्दु जी सफल हैं। गद्य, चाहे तथ्य निरूपण-प्रधान हो और चाहे वस्तु-वर्णनात्मक, उसके अनुवाद में भारतेन्दु की लेखनी में कहीं भी जड़ता के दर्शन नहीं होते। अन्य बहुत से लेखकों ने भी संस्कृत नाटकों के अनुवाद किए हैं। उनका गद्य भले ही भारतेन्दु के गद्य से कुछ प्रौढ़ हो, पर पद्यानुवाद नीरस और फोके हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दु में विशाख, राजशेखर और हर्ष की कोटि की कवि प्रतिभा थी, तभी उनके सब अनुवादों में मूल की सी सरसता है।

शेक्सपियर के 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' में मैत्री के अति उदात्त आदर्श की अवतारणा की गयी है, इसलिए भारतेन्दु जी ने 'दुर्लभबन्धु' नाम से उसका हिन्दी अनुवाद किया। इसका दूसरा नाम उन्होंने 'वंशपुर का महाजन' भी रखा। इस अनुवाद की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें भारतेन्दु ने शेक्सपियर के नाटक के कथानक और वातावरण के भारतीयकरण की चेष्टा की है। इसमें वेनिस तो वंशपुर हो ही गया, नाटक के पात्रों के नामों का भारतीयकरण बड़ी सफलता से हुआ है। ऐण्टानिओ को अनन्त, सैसानिओ को बसन्त, शाइलाक को शैलाक्ष, पोर्शिया को पुरश्री, जेसिका को यशोदा आदि कर दिया गया है। नामकरण-संस्कार द्वारा वातावरण को भारतीय बनाने में अवश्य सहायता मिली है, पर उस नाटक में चित्रित योरप के धार्मिक और सामाजिक जीवन की समस्याओं का ठीक-ठीक भारतीय रूप उपस्थित नहीं किया जा सका है। मूल नाटक के ईसाई और यहूदियों के पारस्परिक विद्वेष को अनुवाद में आर्यों और जैनियों के धार्मिक द्रोह और घृणा का रूप दिया गया है। यहूदी महाजन मारवाड़ का बनिया बना दिया गया है। पर यह रूपान्तर सब दृष्टियों से सदोष है। हमारे देश में जैन धर्म भी उदार आर्यधर्म का ही एक सुन्दर विकास मात्र है। आर्यों और जैनों में यहाँ सौहार्द और सौभ्रातृ का ही भाव सदा रहा है। उनके बीच यूरोप के ईसाई और यहूदियों के पारस्परिक द्वेष और घृणा, जो पश्चिमी सभ्यता, साहित्य और

इतिहास के कलंक हैं, का आरोप बड़ी भारी ऐतिहासिक असंगति है। पता नहीं किस असावधानी के क्षण में भारतेन्दु ने यह भूल की। शेक्सपियर आदि योरप के साहित्यकारों ने यहूदियों के प्रति अपने साहित्य में जिस घृणा का प्रचार किया है, उसी का परिणाम वहाँ के इतिहास में समय-समय पर ईसाइयों द्वारा यहूदियों पर किये गए अमानुषिक अत्याचारों के रूप में प्रकट हुआ है। आर्य और जैनधर्म के बीच भेद और घृणा के भाव को प्रश्रय देना समन्वयमूलक भारतीय साहित्य के लिए एक परिपन्थी वृत्ति है। यहूदी शायलाक शैलाक्ष नाम धारण करने से ही मारवाड़ का महाजन नहीं बन सका। शायलाक अथवा शैलाक्ष में जिन लोक और धर्म विरोधी अमानुषिक वृत्तियों की विवृत्ति की गयी है, वे मारवाड़ के धर्मभीरु वणिकों के चरित्र और व्यवहार का अंग कभी नहीं रही। मारवाड़ी वणिकों के बीच कोई शायलाक यदि हुआ हो, तो इतिहास और साहित्य उससे परिचित नहीं पर उनमें भामाशाह अवश्य हुए हैं जिनका आदर्श इतिहास की विभूति है। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के नाटक के अन्तर्गत यूरोप के समाज की जिन वैवाहिक रस्मों और अन्य रीति-नीतियों का वर्णन किया गया है, अनुवाद में भी उनको उसी रूप में रहने दिया गया है। इससे नाटक का वातावरण भारतीय नहीं बन पाया है, और उस दिशा में किया गया प्रयत्न अधूरा ही रह गया है। इस अनुवाद की भाषा भी कहीं-कहीं कुछ शिथिल और अपरिमार्जित है। इन दोनों का कारण सम्भवतः यह हो कि पूरा अनुवाद भारतेंदु जी ने नहीं किया है।

इन दोषों के होते हुए भी अनुवाद की कुछ विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। मूलनाटक के नाम 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' से स्पष्ट है कि शेक्सपियर शायलाक के चरित्र को प्रमुखता देना चाहता है। पर, भारतेन्दु ने अनुवाद को 'दुर्लभ बन्धु' नाम देकर अनन्त के चरित्र को प्रधान बनाने का सफल उद्योग किया है। पुस्तक के आमुख-स्वरूप जो दो पद्य उन्होंने उद्धृत किये हैं, उनसे एण्टानिओ अथवा अनन्त के चरित्र के प्रति उनका अनुराग प्रकट होता है:—

दुर्लभा गुणिनो शूराः दातारश्चातिदुर्लभाः।
मित्रार्थे त्यक्तसर्वस्वोः बन्धुस्सर्वैस्सुदुर्ल्लभः।
खुदा मिले तो मिले आशना नहीं मिलता,
किसी का कोई नहीं दोस्त सब कहाते हैं।

भारतेंदु स्वयं जिस देव-दुर्लभ मैत्री के आदर्श के मूर्त रूप थे, उसी की छाया उन्होंने अनन्त के चरित्र में देखी थी। तात्पर्य यह कि जहाँ मूल नाटककार का झुकाव खलनायक शायलाक की ओर है, वहाँ भारतेंदु धीरोदात्त नायक के सब

गुणों से विशिष्ट पात्र अनंत को ही प्रमुख बना देते हैं। इस प्रकार वे विदेशी साहित्य और उसके मानों और आदर्शों को आत्मसात करने का ऐसा मार्ग निकालते हुए दिखाई पड़ते हैं, जो उनके अजनबीपन को दूर कर दे और भारतीय साहित्यादर्श के सर्वथा अनुकूल हो। आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्त्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नये-नये या बाहरी भावों को इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन और नवीन का यही सुन्दर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माधुर्य है। प्राचीन और नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमें सन्देह नहीं।"

मौलिक नाटक

कथावस्तु—उसका स्वरूप और आधार

महर्षि भरत ने नाटक की कथावस्तु के विषय और स्वरूप का विवेचन करते हुए लिखा है—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्॥
न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

अर्थात् नाटक नाना प्रकार के भावों और अनेक अवस्थाओं के विवरण से सम्पन्न लोकवृत्त का अनुकरण है। कोई भी ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म नहीं है जो इस नाट्य में प्रदर्शित न हो सके। तीनों लोकों के सब प्रकार के भावों का अनुकीर्त्तन इसमें रहता है। 'त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम्'—भरत के इस कथन का तात्पर्य यह है कि नाटक का क्षेत्र अत्यन्त विशाल, व्यापक और नानारूपात्मक है, क्योंकि उसका विषय सीमित नहीं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रभाव से जो अनेक प्रकार के लोकचरित्र और अनेक रस-समूह समुद्भूत होते हैं, उन सबका प्रदर्शन नाटक में हो सकता है। वस्तुतः नाटक और उसका रंगमंच इस सृष्टि के महानाटक और उसके अनन्त और असीम संसाररूपी महारंगमंच की पूर्ण प्रतिकृति है। इसलिए संस्कृत नाट्यसाहित्य में रूपक और उपरूपक के अनेक भेदों में कथावस्तु का चयन और गठन जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में होता रहा है। भारतेन्दु भारतीय नाटक की परम्परा, उसके असली स्वरूप और मर्म से पूर्ण परिचित थे। पाश्चात्य नाटकों का ज्ञान प्राप्त करने से उनकी दृष्टि व्यापक और लक्ष्य सुस्पष्ट हो गया था।

उनमें अनेकरूपात्मक जीवन के अनुशीलन और अभिव्यंजन की सहज रुचि थी यह उनके अनुवाद ग्रन्थों की चर्चा करते हुए लिखा जा चुका है। उनकी उसी रुचि और व्यापक सहानुभूति का विकसित रूप हमें उनके मौलिक नाटकों में मिलता है।

पुराण और इतिहास

अध्यात्म और प्रेम, इतिहास और पुराण, धर्म और राजनीति, समाज और शासन की बहुमुखी दुरवस्था से लगा कर देशी राज्यों की कुव्यवस्था तक सबका चित्रण भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों में किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'सती प्रताप' पौराणिक नाटक हैं, जिनमें अयोध्या के सत्यव्रती महाराजा हरिश्चन्द्र और पतिव्रता-शिरोमणि देवी सावित्री के प्रख्यात आख्यानों को नाटकीय रूप दिया गया है। सत्य और पातिव्रत दोनों ही भारत की नैतिक और सामाजिक व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त हैं। सत्यपरायणता के लिये यह देश सदा प्रसिद्ध रहा है। पौराणिक काल को छोड़ दिया जाय, तो भी ऐतिहासिक काल में अनेक विदेशी यात्रियों ने भारतीयों की सत्यवादिता की प्रशंसा की है। अपने समय में जातीय जीवन में उसी सत्य के आदर्श का ह्रास देखकर ही भारतेन्दु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक की रचना की। वह लिखते हैं—'इस भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हम लोगों के पूर्व पुरुष महाराज हरिश्चन्द्र भी थे। यह समझकर इस नाटक के पढ़ने वाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।' ('सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का 'उपक्रम')। इसी प्रकार पातिव्रत का महत्व प्रतिपादन करने के लिये 'सती प्रताप' नाटक लिखा गया है। वास्तव में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विशाल भवन सतीत्व की नींव पर ही टिका है। वही भारतीय संस्कृति को आधार-शिला है। भारतीय संस्कृति मुस्लिम आक्रमणों की बर्बरता और धर्मोन्माद का सफल प्रतिरोध कर सकी थी, अब पाश्चात्य संस्कृति की ओर से नया संकट समुपस्थित था। यह संकट दिन-प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता जाता था। यह लिखा जा चुका है कि अंगरेजी शिक्षा के प्रभाव से लोग अपने धर्म, साहित्य और संस्कृति से विमुख होते जा रहे थे, और इस परिस्थिति से पूरा लाभ उठाने का उद्योग ईसाई मिशनरी कर रहे थे। ये मिशनरी हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना करके अंग्रेजी के नव शिक्षितों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रयत्न करते थे और दूसरी ओर पुष्कल द्रव्य व्यय करके दीन-दुःखियों को अपने धर्म में लाते थे। ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज इस संकट के निवारण के लिये प्रयत्नशील थे। भारतेन्दु जी ने अपने साहित्य के द्वारा वही कार्य किया। उन्होंने देखा कि समाज में उच्च सांस्कृतिक आदर्शों की

पुनः प्रतिष्ठा और नैतिक पुनरुत्थान की बलवती भावना के व्यापक प्रसार से ही यह महाव्याधि—अराजकता दूर की जा सकती है। अतः उन्होंने हरिश्चन्द्र और सावित्री के आदर्शों का अनुकीर्त्तन किया। 'हरिश्चन्द्र' नाटक में दिखाया गया है कि 'सत्यपथ पर चलने वाले कितना कष्ट उठाते हैं।' हरिश्चन्द्र की दृढ़ता में भारतेन्दु अपने धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति से पराङ्मुख होने वाली जनता के लिये एक आदर्श निर्माण कर रहे थे, और सावित्री की शक्ति में भारतीय नारीत्व के मंगलमय ज़ागरण के उपयुक्त वातावरण तैयार कर रहे थे।

भारतीय नारीत्व का यह आदर्श एकांगी नहीं था, पातिव्रत की शक्ति का विकास आवश्यकता पड़ने पर कर्मण्य जीवन के अनेक क्षेत्रों और अनेक रूपों में होता था। लज्जाशीला भारतीय गृहलक्ष्मियाँ समय पड़ने पर कराला, काली और दुष्टदलिनी दुर्गा का रूप भी धारण करती थीं, और सेवा, ज्ञान तथा क्रिया तीनों ही क्षेत्रों में उनका सर्वांगीण विकास हुआ था, यही प्रदर्शित करने के लिये 'नीलदेवी' नामक नाटक लिखा गया है। इस नाटक में पंजाब के एक हिन्दू राजा सूर्यदेव पर मुसलमानों के आक्रमण की कथा है, जिसका आधार ऐतिहासिक कहा गया है। अब्दुल शरीफ नामक एक मुसलमान अमीर पंजाब-नरेश सूर्यदेव पर चढ़ाई करता है। पराजित होने पर रात्रि में सोते समय धोखे से उनके शिविर पर छापा मार कर उन्हें बन्दी बनाता है। बन्दी राजा यवनों से लड़ते हुए मारे जाते हैं। राजकुमार सोमदेव और राजपूत सैनिक सम्मुख युद्ध में अब्दुल शरीफ को इस विश्वासघात का दंड देने का प्रस्ताव करते हैं। पर रानी नीलदेवी उसे अस्वीकार करती हैं और स्वयं गायिका का रूप धारण कर अमीर के शिविर में जाती हैं और अपने हाथों उस कामातुर यवन का वध करती हैं। अपने पति-घातक से इस प्रकार प्रतिशोध लेकर रानी सती होने का उपक्रम करती हैं। किसी इतिहास-ग्रंथ से भारतेन्दु जी ने इस नाटक का कथानक लिया हो, इसका कुछ पता नहीं चलता। ग्रन्थारम्भ में उन्होंने किसी अंगरेजी काव्य की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, लोगों का अनुमान है कदाचित् इस नाटक के कथानक का आधार वही अंगरेजी काव्य है। पर, वह अंगरेजी काव्य भी इन पंक्तियों के अतिरिक्त अधिक नहीं मिलता, और न यही ज्ञात है कि उसका लेखक कौन था, अतएव उसके मूल स्रोत का भी कुछ अनुमान नहीं हो पाता। मुसलमानों के आक्रमण-काल में स्थान-स्थान पर भारतीय शौर्य का जो असाधारण विस्फोट हुआ था, उसकी कथा को अपने अंतरंग में छिपाये न मालूम कितनी हल्दीघाटियाँ और धर्मापोलियाँ हमारे देश के असंख्य गाँवों, अरण्यपथों और उपत्यकाओं में अज्ञातावस्था में प्रसुप्त हैं। वे सब घटनायें दीर्घकाल तक जातीय-जीवन के विश्रृंखल रहने के कारण इतिहास में स्थान नहीं पा सकीं, केवल जनश्रुतियों

अथवा लोकगीतों में अवश्य उनमें से कुछ घटनाओं की स्मृति जीवित है। संभव है, यह कथानक भारतेंदु जी को अथवा अंग्रेजी की उन पंक्तियों के कवि को किसी जनश्रुति से प्राप्त हुआ हो, जिसको उन्होंने अभिनयात्मक रूप दिया। कुछ भी हो, सांस्कृतिक पुनरुत्थान की बड़ी सशक्त प्रेरणा से भारतेंदु जी ने इस ऐतिहासिक गीतिरूपक की रचना की है। शासक अंग्रेजों की स्त्रियों की सम्पन्नावस्था देख कर उन्होंने अपने देश की सीधी-सादी स्त्रियों की हीनावस्था का स्मरण और अनुभव किया। फिर उन्होंने भारतीय नारी के पूर्व गौरव का स्मरण करते हुए लिखा—'आर्यजन मात्र को विश्वास है कि हमारे यहाँ सर्वदा स्त्रीगण इसी अवस्था में थीं। इस विश्वास के भ्रम को दूर करने ही के हेतु ग्रंथ विरचित होकर आप लोगों के कोमल कर-कमलों में समर्पित होता है।' वस्तुतः हमारे साहित्य में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जो आन्दोलन प्रसाद के नाटकों में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ, उसका श्रीगणेश भारतेंदु जी की इन पौराणिक कृतियों द्वारा हुआ था।

धर्म और समाज

भारतेंदु जी को अपने देश के विगत ऐश्वर्य पर जितना गर्व था, उसकी वर्तमान अधोगति पर उतनी ही वेदना और ग्लानि भी। धर्म, समाज और राजनीति तीनों क्षेत्रों में राष्ट्र का पतन चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। धर्म और समाज की जो अराजक अवस्था मुसलमानों के आने के पूर्व थी, जिसके कारण देश निर्बल और मुसलमानों से पराजित हुआ था, उसके निवारण का कुछ प्रयत्न भक्ति-आन्दोलन द्वारा हुआ था, पर कालान्तर में भक्ति-आन्दोलन की वह शक्ति भी क्षीण हो गयी थी और उसका स्वरूप पाखंड से आच्छन्न हो गया था। भक्ति के केन्द्र, जो जातीय-जीवन में शक्ति-संचार के लिए निर्मित हुए थे, अब दुराचार और अनाचार के अड्डे बन गये थे। रूढ़ियों और कुरीतियों से ग्रस्त दुर्बल समाज में इस परिस्थिति के प्रतिकार की भावना की संभावना ही कैसे होती, वह दिन-दिन और गहरे पतन के गर्त में गिरता जा रहा था। अंग्रेजों की राजनीति ने इन समस्याओं को और जटिल बना दिया था और राष्ट्र-शरीर में भयंकर दरिद्रता, भुखमरी, महामारी, टैक्स का बोझ, आर्थिक शोषण आदि अनेक नवीन व्याधियाँ प्रत्युत राजरोग लग गए थे। भीतर और बाहर सब ओर से बन्दी, अनेक यंत्रणाओं से छटपटाते हुए मृतप्राय: देश की दुर्दशा देखकर भारतेंदु का हृदय गहरी वेदना से भर गया था। हम पहले ही लिख चुके हैं कि देश की यह दुरवस्था ही भारतेंदु के साहित्य की प्रेरक शक्ति है। देश के आत्मसम्मान को जगाने के लिये ही उन्होंने उसके प्राचीन गौरव का गान और उच्चादर्शों का

अनुकीर्तन किया। पर वह आशा दुराशा थी, इसका अनुभव भी भारतेंदु जी को हुआ होगा। कारण, राष्ट्र के अश्मीभूत प्राणों में ये गौरव-गान मात्र चेतना का संचार करने को पर्याप्त नहीं थे। अतः उन्हें गहरी निराशा का अनुभव हुआ, और उस निराशापूर्ण वेदना की अभिव्यक्ति "भारत दुर्दशा" और "भारत-जननी" नाटकों में हुई।

"भारत दुर्दशा" छः छोटे-छोटे अंकों वाला एक अत्यन्त प्रभावशाली दुःखान्त नाटक है। इसके पहले अंक में एक योगी आता है, जो एक अत्यन्त मार्मिक गीत में भारत के प्राचीन उत्कर्ष और वर्तमान अधःपतन का वर्णन करता हुआ कहता है—

रोअहु सब मिलि कै, आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

दूसरे अंक में जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों में विषाद की मूर्ति बना हुआ भारत स्वयं आता है, और अपने अतीत की स्मृति में आँसू बहाता है। इसी बीच नेपथ्य से "भारतदुर्दैव" का गर्जन सुनकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। इस स्थिति में निर्लज्जता और आशा आकर उसे अवलम्ब देती है। तीसरे अंक में "भारत-दुर्दैव" के शिविर का दृश्य है। "भारतदुर्दैव" कौन है, यह समझने में किसी को किसी प्रकार का भ्रम नहीं हो सकता। उसका वेष आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी है, और उसने दल-बल से भारत पर आक्रमण किया है। वह कहता है—

उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार खार सब हिंद करुँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच॥

इस प्रकार भारत के सर्वनाश का दृढ़ संकल्प करके वह अपनी विनाशकारी योजना का परिचय देता है—

काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ और बुलाऊँ रोग।
पानी उल्टा कर बरसाऊँ छाऊँ जग में सोग॥
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुःख घनघोर॥
मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सब के ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न॥
मुझे तुम सहज न जानों जी, मुझे इक राक्षस मानों जी।

वास्तव में "भारतदुर्दैव" की यह विनाशकारी योजना अंगरेजों की शासन नीति और उसके कुपरिणामों की ही व्याजनिन्दा है। यह बात "भारतदुर्दैव"

के इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाती है—"ह हा हा ! कुछ पढ़े-लिखे मिल कर देश सुधारना चाहते हैं ? हहा हहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे । ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो बड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो हैं ! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख !" यह योजना कार्यान्वित करने के लिये वह "सत्यानाश फौजदार" को बुलाता है । "सत्यानाश फौजदार" संक्षेप में भारत के सर्वनाश के लिए जयचंद के समय से अब तक किए हुए अपने कार्यों का गर्व के साथ उल्लेख करता है, और कहता है कि वह भविष्य में शराब के द्वारा देश की शेष प्रतिष्ठा को भी मटियामेट कर देगा—

पिलावैंगे हम खूब शराब । करैंगे सब को आज खराब ।

भारत के सर्वनाश का कार्य किस उत्साह से चल रहा है, इसकी सूचना वह "भारतदुर्दैव" को देता है । वह बताता है कि उसे इस कार्य में सबसे अधिक सहायता धर्म से मिली । धर्म के नाम पर मत-मतान्तरों की वृद्धि, जाति-प्रथा, बाल-वृद्धविवाह, बहुविवाह, विधवा-विवाह निषेध, समुद्र-यात्रा-निषेध आदि ने जाति की जीवनी शक्ति को नष्ट कर दिया है । हिन्दू अनेक देवी-देवताओं और भूतप्रेतों की पूजा करते हैं, और छुआछूत तथा चौके-चूल्हे को ही धर्म मानते हैं । वेदान्त के नाम पर वे निष्क्रिय, स्नेहशून्य और अभिमानी हो गए हैं, तथा संतोष की आड़ में आलसी तथा उद्यमहीन बन बैठे हैं । अँगरेजो शासन के सम्पर्क से उनमें अपव्यय, अदालत, फैशन और सिफारिश का व्यसन पैदा हो गया है, जिससे धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली । तोहफे, घूस और चंदे के बमगोलों से इस प्रकार भारत की सम्पत्ति शक्ति का दुर्ग सर्वथा धूलिसात् करके उसने अपने अतिवृष्टि, अनावृष्टि, लाही, कीड़े, टिड्डे, पाला इत्यादि सिपाहियों की सहायता से भारत की कृषि-शक्ति को भी छिन्न-भिन्न कर दिया है, नील ने नील बन कर लंकादहन किया है । ऐक्य अथवा संघठन शक्ति से पुनः उसके उत्थान की संभावना ही न रहे, इसलिए उसने फूट, डाह, लोभ, भय, उपेक्षा, स्वार्थपरता, पक्षपात, हठ, शोक, अश्रुमार्जन, निर्बलता आदि एक दर्जन दूती-दूतों को भेजकर भारत की भाषा, धर्म, व्यवहार, चाल, खान-पान सब को काई की तरफ फाड़ दिया है । अपने प्रधान सेनापति से भारत के सर्वनाश का यह समाचार पाकर 'भारतदुर्दैव' सुख और संतोष की साँस लेता है—'अब उसको कहीं शरण न मिलेगी । धन, बल और विद्या तीनों गई । अब किसके बल कूदेगा ?"

चौथे अंक में एक अंग्रेजी ढंग से सजे हुए कमरे में भारतदुर्दैव बैठा हुआ दिखाई पड़ता है। उसी समय रोग गाता हुआ प्रवेश करता है—

मृत्यु कलंक मिटावत मैं ही मो सम और न आन।
परम पिता हमहीं वैद्यन के अत्तारन के प्रान॥

इस प्रकार आत्मप्रशंसा के बहाने वैद्यों और हकीमों का उपहास करता हुआ वह अपने प्रकृत रूप का परिचय देता है। वह बताता है कि "नजर, शाप, भूत, प्रेत, टोना, टनमन, देवी-देवता सब उसी के नामान्तर हैं और उसी की बदौलत ओझा दरसनिये, सयाने, पंडित सिद्ध आदि लोगों को ठगते और अपनी जीविका चलाते हैं।" म्युनिसिपैलिटी के रोग-निवारण के अधकचरे प्रयत्नों की हँसी उड़ाता हुआ वह कहता है—"ह ह ! चुंगी को कमेटी सफाई करके मेरा निवारण करना चाहती है, यह नहीं जानती कि जितनी सड़क चौड़ी होगी उतने ही हम भी "जस जस सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा।" भारतदुर्दैव की आज्ञा से भारत को मारने के लिये वह विस्फोटक, हैजा, डेंगू, अपाप्लेक्सी आदि अंग्रेजों के साथ आई हुई नयी व्याधियों को आक्रमण करने की आज्ञा देता है, जिनका हिन्दुओं ने कभी नाम भी नहीं सुना। उसको सफलता का पूर्ण विश्वास है, क्योंकि वह जानता है कि धन्वन्तरि, दिवोदास, सुश्रुत-वाग्भट्ट-चरक का युग तो बीत ही गया है, और उदरभरि वैद्यों के हाथों में वैद्य-विद्या भी मर गयी है। दूसरी ओर मूर्ख जनता डाक्टरों के बताए हुए टीका आदि रोग निवारण के उपायों की उपेक्षा करती है रोग के चले जाने पर आलस्य आता है, उसे भी भारतदुर्दैव "अपनी जोगनिद्रा से" भारतवर्ष को अपने वश में करने की आज्ञा देता है। तत्पश्चात् मदिरा आती है, जो अपने उद्भव और प्रभाव का वर्णन कुछ मदिरासेवी शिक्षितों की दार्शनिक और साहित्यिक शब्दावली में और कुछ अशिक्षित पियक्कड़ों की प्रलाप-शैली में करती है। मदिरा के उद्गारों में जहाँ एक ओर पियक्कड़ों पर कठोर व्यंग्य है, तो दूसरी ओर अंग्रेजी शासन की मादक-द्रव्य सम्बन्धी नीति की पोल भी खोल दी गयी है :—

सरकारहि मंजूर जो मेरो होत उपाय।
तो सब सौं बढ़ि मद्य पैं देती कर बैठाय।
हम ही कों या राज की परम निसानी जान।
कीर्ति खंभ सी जग गड़ी जब लौ थिर ससि भान।
राजमहल के चिंह नहिं, मिलिहैं जग इन कोय।
तबहू बोतल टूक बहु मिलिहै कीरति होय।

वस्तुतः भारतेन्दु अंग्रेजी सरकार की कूटनीति का भंडाफोड़ करने का कोई भी अवसर नहीं चूकते हैं। उनकी पैनी दृष्टि से अंग्रेजों की कपट-नीति का कोई भी पहलू छिपा नहीं था, भले ही वे कानून के शिकंजे से बचने के लिये कभी-कभी महारानी विक्टोरिया के नाम की दुहाई भी दे दें। मदिरा तथा उसके पूर्व के सब वक्ताओं के कथन में यह विशेषता पाई जाती है। मदिरा को हिन्दुस्तान में जाकर हिन्दुओं से समझने की आज्ञा मिलती है। उसके चले जाने पर अंधकार आता है, जिसका जन्म सृष्टि-संहार-कारक तमोगुण से हुआ है। अंधकार अज्ञान का ही दूसरा नाम है। भारतदुर्दैव उसे भारत की अवशिष्ट विवेक बुद्धि को भी नष्ट करने को आज्ञा देता है। उसके चले जाने पर बैतालिकों के गान और गीत के साथ चौथा अंक समाप्त होता है। पाँचवें अंक में एक पुस्तकालय का दृश्य है, जिसमें सात सभ्यों की समिति में "भारतदुर्दैव" का आक्रमण रोकने के उपायों पर विचार-विमर्श हो रहा है। समिति में सभापति के अतिरिक्त एक बंगाली, एक महाराष्ट्री, दो देशी, एक कवि तथा एक सम्पादक हैं। समिति उस समय के शिक्षित भारत की प्रतिनिधि है, जिसके विवादों में प्रत्येक प्रान्त के अंग्रेजी शिक्षितों की अकर्मण्य राजनीतिक चेतना का उपहास किया गया है।

देश की दशा के सुधार के सम्बन्ध में सब के मत भिन्न-भिन्न हैं। दोनों देशी सज्जन विवाद में खुलकर भाग नहीं लेते हैं, क्योंकि उन्हें हाकिमों की अप्रसन्नता का डर है। महाराष्ट्री सज्जन सार्वजनिक सभाओं की स्थापना, कपड़े की मिलें खोलने तथा स्वदेशी के व्यवहार का आन्दोलन चलाने की सलाह देते हैं। सम्पादक जी की राय है, "एडूकेशन की एक सेना, कमेटी की फौज, अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले" मार मार कर "भारतदुर्दैव" के आक्रमण को विफल किया जाय। ये सम्पादक महोदय उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं, जो आगे चलकर विधानवादी सुधारक दल में परिणत हो गए। कवि जी की राय है— "जमुना किनारे कनात खड़ी कर दी जाय, कुछ लोग चूड़ी पहने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकाल कर उँगली चमका कर कहें "मुए इधर न आइयो, इधर जनाने हैं।" ये कवि जी उस समय की स्त्रैण रीतिकालीन काव्य परम्परा के प्रतिनिधि हैं। समिति के सबसे सक्रिय सदस्य बंगाली महानुभाव हैं। उनके उर्वर मस्तिष्क से देशोद्धार की नयी-नयी योजनाएँ प्रसूत होती हैं। वे सबसे पहले अखबारों में शोरगुल मचाने की सलाह देते हैं। यदि उससे काम न बने, तो "भारत-उद्धार" नामक बँगला नाटक में बताए गए मार्ग का अवलम्बन करने को कहते हैं, जिसमें पिसान लेकर स्वेज

नहर पाट देने और पियरीनाम जलयंत्र से अंगरेजों की आँख में धूल और पानी डालने का अमोघ उपाय बताया गया है। अस्तु, जिस समय वे सब सदस्य इस प्रकार तर्क-वितर्क कर रहे होते हैं, उसी समय पुलिस के वेश में 'डिसलायलटी' आ उपस्थित होती है, और कहती है कि इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की 'हाकिमेच्छा' नामक दफ़ा में सबके सब बन्दी किए गए। इस प्रकार पाँचवाँ अंक समाप्त होता है। छठे अंक में एक वन के मध्य भाग में 'भारत' एक वृक्ष के नीचे अचेत पड़ा दिखायी पड़ता है। 'भारत भाग्य' आता है, और अनेक प्रबोध-वाक्यों और उत्साहपूर्ण उद्‌बोधनों से उसे जगाने की चेष्टा करता है। पर, जब भारत किसी प्रकार अपनी मोह-निद्रा का परित्याग नहीं करता, तो वह निराश होकर आत्महत्या कर लेता है।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण मिश्र ने "प्रबोध चन्द्रोदय" नाटक द्वारा आध्यात्मिक प्रतीक नाटकों की परम्परा चलायी, उसी प्रकार "भारत दुर्दशा" नाटक से राजनीतिक प्रतीक नाटकों की परम्परा चली। इस दृष्टि से इस नाटक का महत्व बहुत अधिक है। विषय और उद्देश्य की दृष्टि से "भारत दुर्दशा" और "भारत जननी" नाटकों का आधार एक है, और दोनों में ही प्रतीक शैली को ग्रहण किया गया है।

"भारत जननी" नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार कहता है कि भारत भूमि और भारत संतान की दुर्दशा का अनुभव कराना ही इस नाटक की इतिकर्तव्यता है। यह एक संगीतप्रधान एकांकी रूपक-औपेरा है। एक टूटे देवालय के सहन में मलिनवेशा भारत जननी निद्रित-सी बैठी हैं, भारत संतान इधर-उधर सो रहे हैं। "भारत सरस्वती", "भारत दुर्गा" और "भारत लक्ष्मी" क्रमशः आती हैं, और "भारत जननी" को जगाने का प्रयत्न करती हैं। पर जब उनकी निद्रा नहीं टूटती, तो निराश होकर आँसू बहाती हुई चली जाती हैं। तीनों के चले जाने पर 'भारत जननी' की मोह निद्रा भंग होती है, और वह अपनी तीनों शक्तियों के विदा हो जाने पर विलाप करती हैं। फिर वह चारो ओर निद्रितावस्था में पड़ी हुई अपनी संतान को जगाती हैं। किन्तु उनकी निद्रा इतनी गहरी है कि वे माता की पुकार पर ध्यान ही नहीं देते। जब कभी कुछ चेतना लौटती भी है, तो वे भोजन माँगते हैं। भुखमरी से पीड़ित भारत की दुर्दशा की व्यंजना इस दृश्य में है। भारत जननी अपने पुत्रों को महारानी विक्टोरिया से पुकार मचाने और आत्म निवेदन करने को कहती हैं, वे कुछ कर भी नहीं पाते कि अविलंब एक अंगरेज, जो "भारत दुर्दशा" में उल्लिखित इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की 'हाकिमेच्छा' नामक दफा का प्रतीक है, आकर उनकी भर्त्सना करता है। उसी समय एक दूसरा अंगरेज जो उस क्रूर स्वदेशवासी को निकाल देता है और

भारतमाता तथा भारतसंतान को महारानी विक्टोरिया की दयालुता का विश्वास दिलाता है, और अंगरेज जाति की प्रशंसा करता है जिसमें ग्लैडस्टन, फासेट, मानियर विलियम्स इत्यादि महात्मा हैं "जो अभागे भारत संतानों के शोक निवारण के हेतु तन-मन सब अर्पित कर चुके हैं, और रात-दिन उसी का प्रयत्न किया करते हैं।" किन्तु भारतेंदु जी का व्यंग्य यहाँ भी स्पष्ट है क्योंकि उसके इस कथन में अंगरेजों की महत्ता और उदारता के विज्ञापन की भावना ही अधिक है, भारत का वास्तविक हित-साधन करने की कामना कुछ नहीं। कारण, अंत में वह भारतीयों को अपनी वर्तमान दशा से संतुष्ट हो भगवान् पर निर्भर रहने की सलाह देता है—"भाई इसमें कोई क्या कर सकता है। सब उस सृष्टि-कारक परमेश्वर के अधीन हैं, उसी को पुकारो, वही समस्त जगत और सब दीन-दुःखियों का रक्षक है।" उसके चले जाने पर धैर्य आता है, और भारत-संतान को जातीय दुर्गुण छोड़ कर धैर्य के साथ मंगलमय भविष्य की प्रतीक्षा करने को कहता है। अंत में भारतमाता अपने पुत्रों से धैर्य, उत्साह और ऐक्य आदि सद्‌गुणों को वरण करने का अनुरोध करती हैं। इस नाटक का ढाँचा भारतेंदु का अपना नहीं है, इसलिये इसमें अभिव्यंजित सब भावों के लिये वे उत्तरदायी नहीं हो सकते। फिर भी विक्टोरिया और अंगरेजों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा को उन्होंने कोरा व्यंग्य बना दिया है। अंगरेजों की राजनीति से सुपरिचित, बहुश्रुत, बहुज्ञ, भारतेंदु इंग्लैंड की शासन-व्यवस्था के स्वरूप और महारानी विक्टोरिया की वास्तविक शक्ति और चरित्र से परिचित न हों, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती। यह समझ लेने के बाद उनके द्वारा विक्टोरिया और उनके शासन की प्रशंसा का व्यंग्य खुल जाता है—"उनके गुण अनंत हैं। उनके समान सच्चरित्रा, साध्वी, पतिव्रता और धर्मपरायणा स्त्री कुल में उत्पन्न होना अति दुर्लभ है। वह रामचंद्र से भी अधिक प्रजापालन में सदैव तत्पर रहती हैं।" मूल बँगला नाटक में भारतेंदु के व्यंग्य की यह मीठी कटुता नहीं। व्यंग्य की सजीवता होते हुये भी "भारत दुर्दशा" की ही भाँति इस नाटक का वातावरण भी करुण है। इन दोनों नाटकों में मुख्य अंतर इनके चित्रण में है। "भारत दुर्दशा" नाटक का चित्रण यथार्थवादी है, और "भारत जननी" का दृष्टिकोण आदर्शवादी है।

भारतेन्दु अनुभव करते थे कि एक निरक्षर देश में कोरी साहित्य-रचना अरण्य-रोदन मात्र है। इसलिये यह सम्भव नहीं था कि इन नाटकों में देश की दुरवस्था की करुण अभिव्यक्ति मात्र से उनका हृदय हलका होता, उन्हें सन्तोष मिलता। अतएव वे प्रहसन-रचना में प्रवृत्त हुए। वैसा होना स्वाभाविक भी था। कारण, देश के भयंकर पतन को देखकर उनको दुख और निराशा की जो चेतना हो रही

थी, उसकी दुर्वह पीड़ा से त्राण पाने का कुछ न कुछ मार्ग उन्हें खोजना ही था। हास-परिहास के अतिरिक्त इस पीड़ा के बहलाने का और उपाय हो ही क्या सकता था ?[1] बायरन ने लिखा है कि यदि मैं किसी मारणधर्मा वस्तु पर हँसता हूँ, तो केवल इसलिए कि मैं रोऊ नहीं।[2] राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र—धर्म, समाज, राजनीति—में विषमता का साम्राज्य था। भारतेन्दु इस विषमता का अनुभव कर रहे थे, वे देख रहे थे कि धर्म में पाखण्ड, शासन में शोषण और समाज में रूढ़िवाद और अज्ञान व्याप्त है। सामाजिक जीवन के इस असामंजस्य और वैषम्य के बोध से उत्पन्न वेदना की परिणति परिहास और व्यंग्य में होना स्वाभाविक थी। भारतेन्दु यह भी जानते थे कि उस परिस्थिति में परिहास और व्यंग्य सामाजिक अनुशासन के भी अच्छे साधन बनाए जा सकते हैं, क्योंकि समाज की जड़ता पर उनके द्वारा सफलतापूर्वक आघात किया जा सकता है। अत्यन्त भावुक, प्रज्ञावान् और प्रखर कल्पनाशक्ति-सम्पन्न होने के कारण उनकी हास-संज्ञा भी अत्यन्त विकसित थी। वैसे तो उनके प्रत्येक नाटक में हास-परिहास और व्यंग्य की सजीवता है, पर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति", "अन्धेर नगरी" और "विषयस्य विषमौषधम्" में इनकी प्रधानता है। 'वैदिकी हिंसा' और 'अंधेर नगरी' प्रहसन हैं तथा 'विषस्य विषमौषधम्' भाण है।

'वैदिकी हिंसा' प्रहसन में धर्म के नाम पर होने वाले मांसाहार-दुराचार-अनाचार आदि का खुलकर उपहास किया गया है। उसके नांदी में ही भगवान् के लिये होने वाली नृशंस पशु-हिंसा पर व्यंग्य है

बहु बकरा बलि हित कटैं जाके बिना प्रमान।
सो हरि की माया करै सब जग को कल्यान।

इस व्यंग्य के रंग को गहरा करता हुआ सूत्रधार कहता है—"अहा हा ! आज की संध्या की कैसी शोभा है। सब दिशा ऐसी लाल हो रही है, मानों किसी ने बलिदान किया है और पशुरक्त से पृथ्वी लाल हो रही है।" पहले अंकी में सपरिकर महाराज गृध्रराज की सभा का दृश्य है, जिसमें महाराज, मन्त्री और पुरोहित सभी मद्य, मांस, मैथुन आदि की प्रशंसा कर रहे हैं। पुरोहित उनके समर्थन में शास्त्रों के स्वकल्पित प्रमाण देता है। उसी समय एक विधवा-

1. Laughter was created by nature as an antidate to sympathy—Macdougall. हास और अश्रु वेदना के रक्षण-विधान (Safety-Valve) हैं।—बर्गसाँ
2. If I laugh at any mortal thing, it is that I may not weep. —Byron.

विवाह के प्रचारक बंगाली महानुभाव आते हैं। पुरोहित भी गृध्रराज के पूछने पर विधवा-विवाह की व्यवस्था देता है, क्योंकि 'न स्त्री जारेण दुष्यति' और 'व्यभिचारदृतौ शुद्धि' आदि अनेक श्रुतियाँ और शास्त्राज्ञायें इसके पक्ष में हैं। इसलिये 'इनके हेतु तो कोई विधि निषेध है ही नहीं, जा चाहें करें, चाहे जितने विवाह करें, यह तो केवल एक बखेड़ा मात्र है।' सभा समाप्त होने पर दूसरे अंक में सब पूजाघर में एकत्र होते हैं जहाँ एक लाख बकरों की बलि दी जाने वाली है। इस अंक में विदूषक भी है, जो हिंसापरायण पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणों की हँसी उड़ाता है। इस सभा में एक वेदान्ती, एक वैष्णव और एक शैव आते हैं, जिनकी सब लोग मिलकर हँसी उड़ाते हैं। परन्तु महन्त गंडकी दास, जो 'रण्डामण्डलमण्डनेषु पटवो धूर्ता कलौ वैष्णवः' वर्ग के प्रतिनिधि हैं, का सब लोग स्वागत करते हैं। तीसरे अंक में मदिरा पीकर उन्मत्त पुरोहित, राजा, मन्त्री आदि आते हैं। सब मदिरा की प्रशंसा में नाचते-गाते हैं, जिनमें पुरोहित सबसे आगे है। ये सब मतवाले मांसभक्षण तथा मद्य-पान के समर्थन में पुनः शास्त्र-वाक्यों का मनमाना अर्थ करते हैं और सब धार्मिक आडम्बर छोड़कर-मद्य-मांस-सेवन को निर्दोष बताते हैं। चौथे अंक में यमराज के दरबार में नाटक के सब प्रधान पात्र एकत्र दिखायी पड़ते हैं। उनमें से शैव और वैष्णव को कैलाश तथा बैकुण्ठ का वास मिलता है और राजा, मन्त्री, पुरोहित और गंडकीदास को नरक का दण्ड दिया जाता है। इस अंक का सबसे सजीव स्थल वह है, जहाँ मन्त्री चित्रगुप्त को अपनी सब अर्जित सम्पत्ति देकर नरक यातना से बचना चाहता है। जन्म भर घूस खाने वाला अन्त में यमराज के प्रचण्डदण्ड से बचने के लिये घूस देने की ही बात सोचता है। अन्त में भरत-वाक्य से यह प्रहसन समाप्त होता है।

कहा जाता है कि 'अंधेर नगरी' प्रहसन बिहार प्रान्त के किसी राजा अथवा बड़े जमींदार के आचरण को लक्ष्य करके लिखा गया था। पर इसमें जिन प्रतीकों का ग्रहण किया गया है, वे विवेकहीन समाज और शासन की व्यापक वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालते हैं। आरम्भ में उद्धृत श्लोक और समर्पण के रोलाओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह नाटक लिखने की प्रेरणा भारतेंदु को किसी व्यक्ति-विशेष से चाहे मिली हो, पर लिखते समय उसका साधारणीकरण हो गया था। इस नाटक में मंगलाचरण आदि कुछ भी नहीं है, केवल समर्पण में नाटक का उद्देश्य बताते हुए कवि ने लिखा है कि देशवासियों को स्वार्थ छोड़ सच्चे गुणग्राही बनना चाहिये :—

जे स्वारथरत धूर्त हंस से काक चरित रत ।
ते औरन हति बचि प्रभुहिं नित होहिं समुन्नत ।
जदपि लोक की रीति यही पै अंत धर्म जय ।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय ।

× × ×

तासों अब लौं करो, करी सो, पै अब जागिय ।
गो श्रुति, भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय ।

प्रहसन के पहले अंक में एक महन्त जी अपने शिष्य गोवर्द्धनदास और नारायणदास के साथ आते हैं। वह अपने दोनों शिष्यों को लोभ छोड़ कर सात्विक भिक्षा करने के लिए नगर में जाने की आज्ञा देते हैं। दूसरे अंक में 'अन्धेर नगरी' के बाजार का दृश्य है, जहाँ प्रत्येक वस्तु टके सेर बिक रही है। गोवर्धनदास इस बाजार में भिक्षा से प्राप्त थोड़े से पैसों से बहुत सी मिठाई खरीद कर गुरूजी के पास जाता है। तीसरे अंक में गुरूजी अन्धेर नगरी का हाल देखकर प्रातःकाल ही वहाँ से चले जाने का निश्चय करते हैं। पर गोवर्धन दास थोड़ी सी भिक्षा से अनन्त सुख-भोग को सुविधा प्रदान करने वाले उस नगर को छोड़ना नहीं चाहता। अतएव गुरू के उपदेश को न मानकर वहीं रह जाता है।

चौथे अंक में राजा चौपटचन्द के दरबार का दृश्य है, जिसमें न्याय का नाटक खेला जा रहा है। कल्लू बनिया की दीवार गिरने से एक व्यक्ति की बकरी मर गयी है, इसलिए बेचारे कोतवाल को मृत्युदण्ड दिया जाता है। पाँचवें अंक में कोतवाल को फाँसी नहीं लगती, क्योंकि इसकी गर्दन पतली है। एक मोटे-ताजे आदमी की तलाश होती है और गोवर्धनदास जी पकड़े जाते हैं क्योंकि वे टके सेर माल छक छक कर खूब हृष्ट-पुष्ट हो गये हैं। जब वे पकड़े जाते हैं, उस समय वे प्रसन्न मन अन्धेर नगरी और चौपट राजा के शासन, न्याय और नीति के गुण गाते हुए वनमार्ग पर जा रहे थे। उनके इस गायन में इस प्रहसन के व्यंग्य का लक्ष्य स्पष्ट हो जाता है—

धर्म अधर्म एक दरसाई। राजा करे सो न्याय सदाई।
अंधाधुन्ध मच्यो सब देसा। मानहुँ राजा रहत बिदेसा।
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई। मानहु नृपति विधर्मी कोई।
प्रकट सभ्य अन्तर छल चारी। सोई राजसभा बलभारी।

उस गीत से स्पष्ट है कि भारतेंदु के लिये सारा भारत ही अंगरेजों के चौपट राज्य में अन्धेर नगरी बना हुआ था। अपने शुभागमन के समय से ही वे न्याय

की जो हत्या करते आ रहे थे, चौपट राज के दरबार का न्यायाभिनय उसी पर खुला हुआ व्यंग्य है। यह जान लेने पर इस प्रहसन की प्रतीक-व्यंजना का राजनीतिक स्वरूप भी स्पष्ट हो जाता है। छठे अंक में गोवर्धनदास को फाँसी देने की तैयारी होती है। गोवर्धनदास अपने गुरू का स्मरण करता है। वे आते हैं और कहते हैं कि स्वर्ग जाने का यही मुहूर्त हैं, अतएव वे ही फाँसी पर चढ़ेंगे। यह सुनकर अन्धेर नगरी के सब मूर्ख फाँसी पर चढ़कर तुरन्त स्वर्ग पहुँचने की होड़ करते हैं। परंतु अंत में राजा सबको धमकाकर चुप कर देता है, और स्वयं फाँसी पर चढ़कर सीधे स्वर्ग को प्रस्थान करता है। इस कथानक से मिलती-जुलती अनेक कथायें लोक में प्रचलित हैं, उन सबका सार लेकर भारतेंदु जी ने यह मनोरंजक रूपक रचा है। यह प्रहसन एक ही दिन में लिखा गया था, और 'नेशनल थियेटर' नामक किसी नाटक-मंडली ने इसका अभिनय भी किया था।

'विषस्य विषमौषधम्' एक भाण है, जिसमें भंडाचार्य रंगमंच पर आकर आकाश-भाषित शैली में बड़ौदा-नरेश मल्हारराव गायकवाड़ के गद्दी से उतारे जाने के सम्पूर्ण प्रसंग का वर्णन करता है। वह बड़ौदा में गायकवाड़ राजवंश की प्रतिष्ठा की संक्षिप्त ऐतिहासिक चर्चा करते हुए यह बतलाता है कि किस प्रकार प्रारंभ से ही अंगरेजों की नीति देशी राज्यों के भीतरी-बाहरी सब मामलों में हस्तक्षेप करने की रही है, विशेषतः बड़ौदा के समृद्ध राज्य पर उनकी दृष्टि सदैव रही है। दूसरी ओर वह मल्हारराव गायकवाड़ के चारित्रिक पतन का विवरण देता हुआ कहता है 'सुना है जब महाराज शहर के अमीरों के घर जाते थे तो उनके डर के मारे औरतें कुएँ में उतारी जाती थीं। उसने एक दूसरे मनुष्य की सधवा स्त्री लक्ष्मीबाई के साथ समारोह के साथ विवाह भी किया था।' भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के ?····धन्य भारतभूमि तुझे ऐसे ही पुत्र प्रसव करने थे ! हाय ! मुहम्मद शाह और वाजिदअली शाह तो मुसलमान होके छूटे, पर मल्हारराव का कलंक हिंदुओं से कैसे छूटेगा। विधवा-विवाह सब कराना चाहते हैं, पर इसने सौभाग्यवती विवाह निकाला।' ऐसे चरित्रहीन व्यक्ति के राज्य में सुप्रबन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतएव अंगरेज सरकार ने उसे गद्दी से उतार दिया सरकार ने ठीक ही किया, क्योंकि विष का उपचार विष ही है। इस छोटे से रूपक में देशी राज्यों के कुप्रबन्ध, वहाँ के नरेशों के चारित्रिक पतन, और देशी राज्यों के संबंध की अंगरेजों की नीति की आलोचना की गयी है। यह स्पष्ट है कि अंगरेज देशी राज्यों की दशा सुधारना नहीं चाहते थे, वरन् अप्रत्यक्ष रूप से अनेक षड्यंत्रों को प्रोत्साहन देकर उसे बिगाड़ते ही रहते थे।

अध्यात्म और प्रेम

भारतेंदु जी की नाटकीय कृतियों में 'चन्द्रावली' का स्थान विशिष्ट है। इस कथानक का स्वरूप सर्वथा आध्यात्मिक है। इसके समर्पण में भारतेंदु जी ने स्वयं लिखा है कि 'इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हाँ, एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना होगा। वह यह कि प्रेम की दशा छाप कर प्रसिद्ध की गयी। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या जो अधिकारी नहीं हैं उनकी समझ ही में न आवेगा।...ये लम्बे मनोरथ ! यह बोल-चाल, यह ठिठाई कि तुम्हारा सिद्धान्त कह डालना—

हरि-उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता ज्ञान।
सोधैं जग जन मानि या चन्द्रावलिहि प्रमान॥

रास के प्रसंग में उसके जिस गहन आध्यात्मिक और दार्शनिक रहस्य का विवेचन किया जा चुका है, वस्तुतः वही इस 'चन्द्रावली' नाटिका का भी आधार है। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस नाटिका के निर्माण में रास की प्रेरणा प्रधान रही होगी। रास के अन्तर्गत जिन छद्म-लीलाओं का वर्णन हुआ है, 'चन्द्रावली' उसी कोटि की नाटिका है। इस नाटिका की प्रस्तावना में कवि ने सूत्रधार और पारिपार्श्वक को बातचीत में अपने संबंध में प्रचलित दो विरोधी मतों का उल्लेख किया है। एक ओर जहाँ कवि के प्रशंसकों की और भक्तों की बड़ी भारी संख्या थी, वहाँ कुछ अकृतज्ञ नीच निन्दक भी थे। प्रस्तावना के बाद नाटिका में एक शुद्ध विष्कंभक है, जिसमें शुकदेव और नारद के वार्तालाप में ब्रज की तथा ब्रज गोपियों की भक्तिपूर्ण प्रशंसा के ब्याज से भक्ति का स्वरूप और उनकी महिमा बताई गयी है। इसके बाद 'स्नेहालाप' नामक पहले अंक में श्री वृन्दावन और गिरिराज गोवर्द्धन का दृश्य है, जहाँ चन्द्रावली का श्रीकृष्ण से प्रेम—जिसे पूर्वराग कह सकते हैं—प्रकट हो जाता है। इस अंक की मुख्य विशेषता यही है कि इसमें पूर्वानुराग की सब मानसिक दशाओं का अत्यन्त मनोहर चित्रण हुआ है। दूसरे अंक में कदली वन में वर्षा ऋतु की घन—चित्रित संध्या का दृश्य है। चन्द्रावली वियोगिनी बनी हुई आती हैं, और एकान्त पाकर विरहोन्माद में सम्बद्ध-असम्बद्ध अनेक प्रकार का प्रलाप करती हैं। उनकी यह दशा देखकर वर्षा, संध्या और वनदेवी उनकी वेदना-निवारण का प्रयत्न करती हैं। पर, उनके समझाने से चन्द्रावली को वेदना घटने के स्थान पर बढ़ती ही है। उनका आत्मबोध सर्वथा खो गया है, और वे चेतन-अचेतन का भेद भूल कर वन वृक्ष, पवन, भ्रमर, हंस, सारस, कोकिल, पपीहा आदि से अत्यन्त करुण शब्दों में कृष्ण के अन्वेषण में सहायता करने की प्रार्थना करतो हैं। चन्द्रमा उन्हें प्रखर

सूर्य प्रतीत होता है। अन्त में उनकी वियोग-व्यथा सीमा पार कर जाती है, और मृत्यु की कामना करती हुई वे मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। इस प्रकार 'प्रियान्वेषण' नामक अंक समाप्त होता है। आगे इसी के अंकावतार में संध्यावली दौड़ती आती हुई दिखाई पड़ती है. नटखट ग्वालों ने इसके पीछे कुछ गायें भड़का कर दौड़ा दी हैं। इस भाग दौड़ में उसकी चोली से एक पत्र गिर पड़ता है जिसे पीछे आती हुई चम्पकलता पा जाती है। यह पत्र चंद्रावली का लिखा हुआ है, जिसे उन्होंने संध्यावली के हाथ प्रियतम कृष्ण के पास भिजवाया था। तीसरा 'वर्षा-वियोग-विपति' नामक अंक है जिसके अन्तर्गत एक सरोवर के तट पर उद्यान का दृश्य दिखाया गया है। वर्षा के दिवस का अपराह्न है, आकाश मेघ-मंडित है और उपवन में चारों ओर झूले पड़े हैं जिनमें कुछ सखियाँ झूल रही हैं और कुछ इधर-उधर विचरण करती हुई स्नेहालाप कर रही हैं। इन सखियों के बीच चन्द्रावली भी है। सखियों के वार्तालाप में प्रत्येक के हृदय पर वर्षा की उद्दीपक रम्यता का प्रभाव अभिव्यंजित हुआ है और इस सबके बीच विरहिणी चंद्रावली के हृदय की विवशता रूप धारण करके सामने आ जाती है। चंद्रावली को अत्यंत दुःखी देखकर सब सखियाँ उनकी सहायता करने का उपाय सोचती हैं। चंद्रावली का कृष्ण से मिलन तभी संभव है, जब स्वामिनी राधा की अनुमति कृष्ण को प्राप्त हो। अतएव माधवी प्रियाजी की अनुमति प्राप्त करने का उत्तर-दायित्व अपने ऊपर लेती है, और काममंजरी प्रियतम कृष्ण को चंद्रावली के पास लाने का भार सम्हालती है, और विलासिनी चंद्रावली के घरवालों से उनकी सगाई करवाने का भार अपने ऊपर लेती है। यह योजना सफल भी होती है।

'परम फल' नामक चतुर्थ अंक में चन्द्रावली जी की बैठक का दृश्य दिखायी पड़ता है। सामने एक जोगिन अलख जगाती हुई प्रेम के गीत गा रही है। उसी समय ललिता आती हैं, जो यमुना की शोभा का वर्णन करती हैं। इसी बीच चन्द्रावली जी भी आ जाती हैं। दोनों में वार्तालाप होता है, जिसे जोगिन छिपे-छिपे सुनती है। अन्त में वह पुनः अलख कहती हुई सामने आ जाती है, और दोनों उसे आदर करके बैठाती हैं। तीनों के परस्पर आलाप में, जिसका विषय कृष्ण प्रेम है चन्द्रावली जी की विरह-व्यथा बढ़ जाती है। उसी समय जोगिन-वेशधारी कृष्ण अपने असली रूप में प्रकट होकर चन्द्रावली को गले से लगा लेते हैं। उसी समय विशाखा बधाई देती हुई यह सन्देश सुनाती है कि 'स्वामिनी ने आज्ञा दई है के प्यारे सों कहो दै चन्द्रावली कुंज में सुखेन पधारौ।'

रास की ही शैली में भारतेन्दु ने 'दानलीला' और 'रानी छद्मलीला', 'देवी

छद्मलीला' और 'तन्मय लीला' नामक चार अन्य अत्यन्त सरस रचनायें भी प्रस्तुत की हैं। 'तन्मय लीला' रास के प्रसंग में वर्णित भौंरालीला की कोटि की है और 'देवी छद्मलीला' और 'रानी छद्‌मलीला' एक ही शैली की हैं। 'दानलीला' फरवरी १५, १८८४ ई० को प्रकाशित हुई थी जिसमें ब्रज की गोपियों से कृष्ण के दान माँगने की कथा है और जो भारतेन्दु की लेखनी की शक्ति से बड़ी मनोज्ञ बन गयो है। कृष्ण राधा को मार्ग में रोकते हैं, राधा उनसे मार्ग छोड़ देने का अनुरोध करती हैं। पर कृष्ण मार्ग न छोड़ कर उनसे दान देने का हठ करते हैं। दोनों पक्षों में काफी देर तक हास-विलास और रस-पेशल वार्तालाप चलता है। किन्तु कृष्ण जब किसी प्रकार अपना दान लेने का हठ नहीं छोड़ते, तो राधा चरम आत्मसमर्पण की भावना से भावित हो कह उठती हैं :—

लोकलाज कुलधर्म हू तन मन धन बुधि प्रान।
सब तो तुमको दे चुकी, अब माँगत काको दान॥
बहुत भई पिय लाड़िले अब क्यों हूँ सहि नहिं जाइ।
जानि दासिका आपनी गहि लीजै भुजा उठाइ॥

भक्ति-साधना के परिपाक की इस अवस्था में भगवान् भक्त से कब अलग रह सके हैं अतएव, अब वे राधा को अपनाने में विलम्ब नहीं करते—

परम दीनता सों भरे सुनि प्यारी के बैन।
पुलकित अंग गद्‌गद भयो हो उमंगि चले दोउ नैन।
धाइ चूमि मुख भुजन सों भरिलीनी कंठ लगाइ।
हरीचंद पावन भयो यह अनुपम लीला गाइ।

'रानी छद्‌मलीला' की कथा अधिक विचित्र और रहस्यमयी है :—

करें कान्ह जिमि छद्म सुहाये। श्री प्यारी के मन अति भाये।
तिमि प्यारी हू जीअ विचार्‌यौ। पियहि ठगौ यह चित निरधार्‌यौ।

× × ×

नव भेस रानी को मनोहर सबन मिलिसंग कीजिए।
अति चतुर मोहन तिनहु को चलि आजु धोखा दीजिए।

इस योजना के अनुसार राधा की आज्ञा पाकर उनकी सखियाँ कृष्ण के पास जाकर उनको यह राजाज्ञा सुनाती हैं—

जदुबंस की रानी नई इक कुमुदबन मैं है रही।
जागीर मैं तिन कंस नृप सौ कुमुद बनकी महि लही।
तिन हमको आज्ञा दई करि कै टेढ़ी डीठ।

कौन श्याम ऊधम करै मेरे बन में ढीठ ।।

× × ×

जन तोरि बन के फूल फल सब घास गउबन को दई ।
तेहि पकरि हाजिर करौ यह हम सबन कौ आज्ञा दई ।

यह सुनकर कृष्ण बहुत डरे और विवश हो उन सखियों के साथ जाकर रानी के दरबार में मुजरा किया । राधा को उस समय उनकी दीनता देख दया आई, पर उनकी सहज लम्पटता का स्मरण कर क्रोध भी जग गया । फिर भी वे अपने छद्म को छिपा न पाई, पूछ बैठीं—

'तुम कहत हम श्री राधिका तजि और तिय देखे नहीं,
तो आज सुनि क्यों नाम रानी को यहाँ आये कहो ।'

यह कह कर राधिका रोष से मुँह फेर कर बैठ जाती हैं । अन्त में अनुनय-विनय द्वारा मान-भंग होता है और श्यामा-श्याम शाश्वत सुख और रस के धाम वृन्दावन के कुंजों में अनेक प्रकार की क्रीड़ायें करते हैं ।

तीर्थ

तीर्थों के चित्रण के बिना हिन्दू-समाज का चित्र अधूरा ही रह जाता है । कारण, तीर्थों पंडे-पुजारियों, ब्राह्मणों, मठाधीशों तथा उनके सम्पर्क में रहनेवाली जनता का चरित्र शेष समाज से सर्वथा विलक्षण है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'दोहावली' में लिखा है कि कलियुग ने पाप की सेना द्वारा धर्मराज्य को जीत कर इन तीर्थों में अपने मोर्चे स्थापित किए हैं ।[1] तीर्थों में भी काशी, जिसे 'बिरची विधि मानों पुरीन की नासिका सबसे न्यारी है ।' त्रैलोक्य के बाहर शिव के त्रिशूल पर बसी हुई इस काशी के जग से न्यारे समाज का चित्रण भारतेंदुजी अपनी 'प्रेमजोगनी' नाटिका में किया है ।

'चन्द्रावली' की प्रस्तावना की तरह भारतेन्दुजी ने इस नाटिका की प्रस्तावना में भी अपने सम्बन्ध में सुधार से बहुत कुछ कहलवाया है, जिससे उनके हार्दिक क्षोभ की व्यंजना होती है । इतना ही नहीं, प्रस्तावना के बाद प्रथम गर्भांक में गोपाल मंदिर में झपटिया और मिश्र आदि के वार्तालाप में भी रामचन्द्र के व्याज से कवि का ही प्रसंग आता है । आगे चलकर इसी गर्भांक में कवि रामचन्द्र के रूप में स्वयं रगमंच पर आता है । इनके अतिरिक्त इस अंक के अन्य पात्र छक्कू, बालमुकुन्द, धनदास, वनितादास आदि हैं, जो परस्पर खुलकर ऐसी वार्ता करते

१. सुर सदननि तीरथ पुरिन निपटि कुचालि कुसाज ।
मनहु मवासे मारि कलि राजत सहित समाज ।। दोहावली ।

हैं, जिससे काशी के जीवन के अनेक कलंक-पक्षों का उद्घाटन होता है। बाबू रामचन्द्र उस समय के नगर के निरक्षर आनरेरी मैजिस्ट्रेटों और उनकी कचहरियों का मनोरंजक वर्णन करते हैं। धनदास और वनितादास के संलाप में मन्दिरों में होने वाले व्यभिचार पर प्रकाश पड़ता है। छक्कू और बालमुकुन्द काशी के निंदापरायण क्षुद्रहृदय रईस-वर्ग के प्रतिनिधि हैं। यह सब बातचीत उस समय रुकती है, जब गोविन्दरायजी की मंगला खुलती है और सब दर्शन को जाते हैं। यहीं 'मन्दिरादर्श' नामक प्रथम गर्भांक समाप्त हो जाता है। दूसरे 'ऐबी-गैबी' नामक गर्भांक में गैबी नामक स्थान में एक पेड़ के नीचे बावली के पास काशी के सामाजिक जीवन के दूसरे प्रतिनिधि पंडा, दलाल, दूकानदार, भंडेरिया (मसखरा) और गुण्डा झूरीसिंह बैठे हैं। इसका वार्तालाप ठेठ बनारसी बोली में चलता है, जिससे यह प्रकट हो जाता है कि किस प्रकार ये संगठित रूप से बाहर के यात्रियों को ठगते नोचते-खसोटते और तंग करते हैं। इसी गर्भांक में एक परदेशी तीर्थयात्री 'देखी तुमरी कासी' गाता हुआ आता है। उसके गीत में काशी के जीवन की अराजकता और मलिनता का यथार्थ वर्णन है :—

आधी कासी भाट-भंडेरिया बाह्मन औ संन्यासी।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड़ खानगी खासी।
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी।
अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विसवासी।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलें बात अकासी।
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी।

× × ×

घाट जाओ तो गंगापुत्तर नोचैं दै गलफाँसी।
करें घाटिया बस्तर-मोचन दे दे के जब झाँसी।
राह चलत भिखमंगे नोचैं बात करैं दाता सी।
मंदिर बीच भंड़ेरिया नोचैं करैं धरम की गाँसी।
सौदा लेत दलाली नोचैं देकर लासा लासी।

इस परदेसी को गुण्डा झूरीसिंह खूब तंग करता है। बड़ी कठिनाई से बेचारा परदेसी सुधाकर के आ जाने पर उस चंडाल चौकड़ी से छुटकारा पाता है।

तीसरा 'प्रतिच्छवि वाराणसी' नामक गर्भांक है, जिसमें मुगलसराय स्टेशन का दृश्य है। प्लेटफार्म पर मिठाईवाले, खिलौनेवाले, कुली, चपरासी और

दलाल आदि इधर-उधर चलते-फिरते दिखाई पड़ते हैं। वहीं पूर्वपरिचित सुधाकर से एक विदेशी पंडित से भेंट होती है। सुधाकर उस पंडित को काशी का माहात्म्य, वहाँ के दर्शनीय स्थानों के नाम तथा उस समय के नगर के विभिन्न वर्गों के विशिष्ट व्यक्तियों और संस्थाओं तथा वहाँ के विद्यावैभव का परिचय देता है। सुधाकर पंडित पंडों के उस वर्ग का प्रतिनिधि है जो तीर्थों में जाने पर दो-चार स्टेशन पूर्व ही मिल जाते हैं और तीर्थ-विशेष की महिमा और दर्शन-फल का बड़ा ही आकर्षक वर्णन करके यात्रियों के मन में तीर्थ-दर्शन की श्रद्धा, लालसा और उत्कंठा उत्पन्न कर देते हैं और इस प्रकार सहज ही उन्हें अपने जाल में फँसा लेते हैं। चौथे गर्भांक में काशी के ब्राह्मण वर्ग का—विशेषतः दक्षिणी ब्राह्मणों का—चित्र है। बुभुक्षित दीक्षित की बैठक में स्वयं दीक्षित महाराज, गप्प पंडित, राम भट्ट, गोपाल शास्त्री, चम्बू भट्ट और माधव शास्त्री आदि बैठे हुए भाँग-बूटी छान रहे हैं। उनको संसार में भोजन और विविध भोगों की चर्चा और आस्वाद के अतिरिक्त और किसी वस्तु की चिन्ता अथवा उत्तरदायित्व नहीं है। उन लोगों के बँधे हुए दलाल हैं, जो उन्हें बड़े-बड़े भोजों में निमंत्रण और दक्षिणा दिलाया करते हैं। इन ब्राह्मणों के अनेक दल हैं जिनके अलग दलपति हैं। ये सब धन के लिए श्रुति और शास्त्र के अर्थों को तोड़-मरोड़ कर मनमानी व्यवस्था भी देते हैं। इनका वार्तालाप हिन्दी और मराठी दोनों में होता है। वार्तालाप में गोपाल शास्त्री और गप्प पंडित बाबू रामचन्द्र की रसिकता की प्रशंसा करते हैं। इस तरह यह 'घिस्साघिस द्विजविकर्तनो' नामक अन्तिम अंक समाप्त होता है।

जैसे विलक्षण समाज का चित्रण इस रूपक में किया गया है, निर्माण की दृष्टि से भी वैसी ही विलक्षणता इसमें पाई जाती है। सबसे पहली बात तो यह कि इसका नामकरण ही रहस्यमय है। इसके जिन चार अंकों का सार ऊपर दिया गया है, उनमें न तो प्रेम की चर्चा है, न किसी जोगिनी की कथा और न किसी प्रेम जोगिनी नामक नायिका या स्त्रीपात्र का ही समावेश अथवा उल्लेख। फिर इसका यह नाम क्यों रखा गया ?

ऐसी अवस्था में यह कल्पना की जा सकती है कि यह नाटक अपूर्ण है। सम्भव है पूरे नाटक की योजना में इन चार अंकों से आगे किसी प्रेमजोगिनी के लिए भारतेन्दुजी ने स्थान रखा हो। परन्तु इस कल्पना का कोई आधार नहीं मिलता। कारण, किसी भी नाटकीय कृति में लगातार चार अंकों तक नायक अथवा नायिका का उल्लेख ही न होना सर्वथा असंगत और असम्भव है। फिर प्रेमजोगिनी को तो नाटिका कहा गया है जिसमें कुल चार ही अंक होते हैं, जो

इसमें हैं ही । इस दृष्टि से लक्षण ग्रन्थों के अनुसार नाटिका को अपूर्ण भी नहीं माना जा सकता । अन्य दृष्टियों से भी इस नाटक के अपूर्ण रह जाने के कोई प्रबल कारण नहीं दिखाई पड़ते हैं। यह नाटक सं० १९३२ में भारतेन्दु के रचना-काल के ठीक मध्य में लिखा गया था। उन्होंने सं० १९२५ वि० में अपनी पहली कृति 'विद्यासुन्दर' का अनुवाद किया था और सं० १९४१ में अपना अन्तिम नाटक 'सती प्रताप' लिखना आरम्भ किया था, जो उसी वर्ष उनकी मृत्यु हो जाने के कारण अधूरा रह गया। किन्तु 'प्रेमजोगिनी' के अपूर्ण रह जाने के कारणों में ऐसी कोई पारिस्थितिक विवशता भी नहीं थी। 'विद्यासुन्दर' और 'सती प्रताप' के बीच उनकी कोई ऐसी मौलिक कृति नहीं आती, जो अधूरी रह गई हो। भारतेन्दु यदि इसे अपूर्ण अथवा अधूरी समझते, तो उसे पूर्ण करने का अवकाश उनके पास था। जब हम इसके कथानक पर दृष्टि डालते हैं, तो इसमें कोई ऐसा सुसम्बद्ध कथा सूत्र नहीं मिलता जिसका क्रमिक-विकास एक अंक के बाद दूसरे में होता चल रहा हो। नाटक के चार गर्भांकों में काशी के जीवन के विभिन्न पक्षों का नाटकीय संवादों के रूप में चित्रण है, कथानक के सम्बद्ध विकास की दृष्टि से उनका एक दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं। ये सब गर्भांक अपने आप में पूर्ण स्वतंत्र एकांकी नाटक कहे जा सकते हैं। अतएव इसे अपूर्ण मानते ही चले जाना भारतेन्दु के नाट्यकौशल से अनभिज्ञता प्रकट करता है।

वस्तुतः, उन्होंने इस नाटक में एक अभिनव प्रयोग ही किया है[1]। जिस क्रम से पहले यह नाटक लिखा गया और प्रकाशित हुआ था, उससे भी इसके अपूर्ण होने की धारणा का खंडन हो जाता है। पहले इसका प्रथम और द्वितीय गर्भांक 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' खंड १, संख्या ११, और खंड २, संख्या ३, ७ सन् १८४५ ई० में "काशी के छायाचित्र अर्थात् काशी के दो भले बुरे फोटोग्राफ" नाम से प्रकाशित हुए थे। तदनन्तर भारतेन्दुजी ने इसमें "दो दृश्य-प्रथम और चतुर्थ गर्भांक और बढ़ा दिए। जिस रूप में यह पहले "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" में प्रकाशित हुआ था, उसमें भी वह पूर्ण था। काशी के सामाजिक जीवन के एक दूसरे के पूरक उज्ज्वल और कृष्ण दोनों पक्षों का 'भले-बुरे फोटोग्राफ' यथार्थ चित्रण उनमें था, जिसे अपूर्ण नहीं कहा जा सकता था। दो गर्भांक अथवा दृश्य और बढ़ा देने से काशी के समाज के कुछ अन्य स्तर प्रकाश में आ गए। इसी प्रकार यदि भारतेन्दु उसमें कुछ दृश्य और बढ़ा देते, तो विषय की दृष्टि से अवश्य उसमें अधिक व्यापकता आ जाती, पर कथानक की दृष्टि से उसकी पूर्णता-अपूर्णता

---

१. देखिये 'प्रेमजोगिनी' प्रस्तावना में पारिपार्श्वक की उद्धृत कथा।

पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता, उसका स्वरूप अक्षुण्ण रहता। उसमें एक कथानक का क्रमबद्ध विकास न पाकर उसे अपूर्ण समझते रहने से भारतेन्दु के इस अभिनव प्रयोग का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो सका है। वर्तमान युग में सेठ गोविन्ददास ने अपने 'विकास' नाटक में यही कौशल अपनाया है। धरती और आकाश परस्पर मानव के भविष्य के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं और एक दूसरे को मानव-इतिहास के, मानवता के विकास तथा ह्रास सम्बन्धी एक दूसरे से असम्बद्ध किन्तु अपने में पूर्ण दृश्य दिखाते हैं। सेठजी ने अपने इस प्रयोग को नाटकीय-संवाद कहा है। भारतेन्दुजी की 'प्रेमजोगिनी' में नाटकीय संवादों के इस कौशल का पूर्वरूप मिलता है। संभव है, सेठजी को अपनी रचना का आदर्श किसी विदेशी नाटककार से प्राप्त हुआ हो, पर 'प्रेमजोगिनी' का क्रियाकल्प सर्वथा भारतेन्दु जी का अपना है। इसके स्वरूप के सम्बन्ध में 'प्रेमजोगिनी' की प्रस्तावना में भारतेन्दुजी ने पारिपार्श्वक द्वारा स्वयं कहलाया है। "......... वह उनके (भारतेन्दु) और इस घोर काल के बड़ा ही अनुरूप है। उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और वह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल के बना है।"

पारिपार्श्वक के इस कथन में यह बात तो सहज ही बोधगम्य है कि यह नाटक "इस काल के बड़ा ही अनुरूप है।" परन्तु यह "उनके" (हरिश्चन्द्र) भी अनुरूप है, यह बात ध्यान देने योग्य है। प्रायः विद्वान् लोग इस नाटिका को उनकी आत्मकथात्मक कृति मानते हैं। इस नाटक में बाबू रामचन्द्र के रूप में स्वयं भारतेन्दुजी विद्यमान हैं, जिनकी आलोचना प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सभी अंकों में ध्वनित हो रही है। पहले अंक में बाबू रामचन्द्र के चरित्र का एक प्रभावशाली चित्र मिलता है। वे परम रसिक भगवद्‌भक्त हैं, नित्य प्रातःकाल गंगा स्नान करने जाते हैं। उनके पिता भी कवि थे, और वे स्वयं भी काव्य रचना करते हैं, वे बहुश्रुत और बहुज्ञ भी हैं। वे संगीत के भी बड़े प्रेमी हैं, उनका सारा समय संगीत और काव्य आदि कलाओं के अनुशीलन में बीतता है और अनेक लोग अर्धरात्रि तक उनके सत्संग में सुख से कालयापन करते हैं। परन्तु वे क्रान्तिकारी और सुधारक विचारों के प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। इन्हीं गुणों के कारण वे अपने परिवार और समाज के स्वार्थी और संकीर्ण लोगों की निन्दा के पात्र हैं। उनके एक छोटे भाई भी हैं, जिनको नाटक के एक पात्र मलजी "चित के बड़े खोटे कहते हैं।" बाबू रामचन्द्र आनरेरी मैजिस्ट्रेट भी बनाये गए हैं और उनकी आनरेरी मैजिस्ट्रेटी का गुण्डों पर बड़ा आतंक है। नाटिका के 'ऐवी-गैवी' नामक द्वितीय दृश्य में गुण्डा झूरीसिंह और दुकानदार के वार्तालाप में यह प्रकट है :—

झूरीसिंह —जब से आए नए मजिस्टर तब से आफत आयी। जान छिपावत
फिरी थे खटमल।

दुकानदार—ई तौ सच है भाई।

झूरीसिंह —ई है ऐसा तेज गुरू बरसन के देथै लदाई।
गोविंद पालक मेकलौडो से एकी जबर दोहाई।
जान बचावत छिपत फिरी थैं घुस गइ सब बदमासी।

अन्यत्र भी झूरीसिंह कहता है कि "………साहब मजिस्टर है नाही तो निंदा करना निकास देते।" तीसरे अंक में सुधाकर उनकी निर्द्वंद्व दानशीलता की प्रशंसा करता है—"…… आप मेरे मित्र रामचन्द्र ही को देखिएगा। उसने बाल्यावस्था ही में लक्षावधिमुद्रा व्यय कर दी है।" चतुर्थ गर्भांक में माधव शास्त्री, गोपाल और गप्प पंडित के वार्तालाप से बाबू रामचन्द्र के स्वभाव की मस्ती, अल्हड़पन, सहृदयता, रसिकता और मित्र-वत्सलता पर विशेष प्रकाश पड़ता है। रसिकों के वे सर्वस्व हैं, वे इतने प्रसिद्ध हैं कि "यह जिसको विदित नहीं ऐसा स्वल्प ही निकलेगा।" अनेक जनों का वे भ्राता के समान पालन करते हैं। "वराऊ कजरी, श्लोक, लावनी, ठुमरी, कटौवल, बोली-ठोली……… उसके यहाँ ये सब नित्य कृत्य हैं।"

बाबू रामचन्द्र के रूप में जिस चरित्र का उल्लेख यहाँ किया गया है उससे स्पष्ट है कि इस नाटिका में 'काशी के विविध छायाचित्र' जिस एक व्यक्ति के जीवन से संलग्न से है, वह स्वयं भारतेन्दु ही हैं। इसी बात को सूत्रधार प्रस्तावना में बिलकुल स्पष्ट कर देता है और अपने नेत्रों में जल भर कर कहता है कि "………हा सज्जन शिरोमणे ? कुछ चिन्ता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख दो उसे सुख ही मानना" ! लोभ के परित्याग के समय नाम और कीर्ति तक का परित्याग कर दिया है, और जगत से विपरीत गति चलके तूने प्रेम की टकसाल खड़ी की है। क्या हुआ जो निर्दय ईश्वर तुझे प्रत्यक्ष आकर अपने अंक में रखकर आदर नहीं देता और खल लोग तेरी नित्य एक नयी निन्दा करते हैं और तू संसारी वैभव से सूचित नहीं है………मित्र, तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निन्दा क्या ? यही तो 'प्रेम की टकसाल खड़ी करने वाली' और लोक की निंदा-स्तुति की चिन्ता न करने वाली प्रेमजोगिनी का स्वरूप है। अनेक लोकगीतों में प्रेम जोगिनी के ऐसे ही स्वरूप का निरूपण मिलता है, और मीरा—जैसी प्रेमजोगिनियों ने इस आदर्श को ही अपने जीवन में चरितार्थ किया है। सम्भवतः, इसीलिये भारतेन्दु ने इस नाटिका के नांदी-पाठ में अपने को ही 'प्रेमजोगिनी' कहा है—

'जिन तृन सम किय जानि जिय कठिन जगत-जंजाल ।
जयतु सदा सो ग्रन्थ कवि प्रेमजोगिनी बाल ।।'

नाटिका के नामकरण का यही रहस्य प्रतीत होता है ।

भाषा

भारतेन्दु के जीवन-काल में हिन्दी-उर्दू का झगड़ा काफी पुराना और उग्र हो गया था । हिन्दी-उर्दू के इस झगड़े की जड़ें बहुत गहरी थीं । यह वास्तव में राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता, देशप्रेम और देशद्रोह, स्वातन्त्र्य-चेतना और साम्राज्यवाद तथा शोषित जनता और उनके विदेशी शासकों का झगड़ा था । परम्परा से चली आती हुई देश की भाषा हिन्दी का विरोध और उर्दू का समर्थन करने में अँगरेज और मुसलमान दोनों ही एक मत थे । हिन्दी और उसकी सहोदरा अन्य देशी भाषाओं को राष्ट्र की स्वातन्त्र्य-चेतना का प्रतीक समझ कर ही मैकाले ने अपनी कुख्यात योजना द्वारा शिक्षा के क्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया था । शिक्षा के क्षेत्र में अँगरेजी को प्रतिष्ठित करके अँगरेज सरकार ने दफ्तरों और अदालतों की भाषा फारसी रहने दी, जो मुगलों के समय से चली आ रही थी । मुगलों के काल में न्याय लाभ करने वाली जनता की संख्या उँगलियों पर गिनने लायक ही होती थी, इसलिए फारसी से काम चल जाता होगा । पर इस परिवर्तित काल में जब जिले-जिले में अदालतें खुल गईं, तो फारसी के कारण जनता को, प्रतिदिन असुविधाओं और कठिनाइयों का अधिकाधिक अनुभव होने लगा । अतः विवश होकर 'सरकार ने संवत् १८९३ (सन् १८३६ ई०) में 'इश्तहारनामे' निकाले कि अदालती सब काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करें ।''' इस इश्तहारनामे में स्पष्ट कहा गया है कि बोली 'हिन्दी' ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं । खेद की बात है कि यह उचित व्यवस्था चलने न पायी । मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिन्दी न रहने पाए, उर्दू चलाई जाए । उनका चक्र बराबर चलता रहा, यहाँ तक कि एक वर्ष बाद ही अर्थात् संवत् १८९४ (सन् १८३७ ई०) में उर्दू हमारे प्रान्त के सब दफ्तरों की भाषा कर दी गई ।'[१] आगे चलकर भी 'सरकार की ओर से जब जगह-जगह मदरसे खुलने की बात उठी और सरकार यह विचारने लगी कि हिन्दी का पढ़ना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक रखा जाय' तब प्रभावशाली मुसलमानों की ओर से गहरा विरोध खड़ा किया गया ।'[२]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', परिवर्द्धित संस्करण, पृ० ४२९-४३० ।

२. वही, पृ० ४३३ ।

इस विरोध का परिणाम यह हुआ कि सरकार ने सं० १९०५ (सन् १८४९ ई०) में यह सूचना प्रचारित की—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बड़ी है, इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

इससे यह स्पष्ट है कि हिन्दी-उर्दू के इस झगड़े में अँगरेज सरकार राजनीतिक कारणों से मुसलमानों के साथ थी। सरकार जानती थी कि हिन्दी जनता की भाषा है, उसे प्रोत्साहन देने का अर्थ जनतान्त्रिक प्रवृत्तियों को उकसाना और उन्हें खुली छूट देना है। इसीलिए वह उर्दू का समर्थन करके प्रतिक्रियावादियों के संगठन को सुदृढ़ करती जाती थी। सर सैयद जैसे मुसलमानों के मुखिया इस्लामी साम्राज्य के स्थान पर उर्दू की ओट में देश भर में अपना धार्मिक साम्राज्य फैलाना चाहते थे और वे इसी के द्वारा भविष्य में अपनी राजनीतिक सत्ता पुनः प्राप्त करने का स्वप्न देख रहे थे। कालान्तर में पाकिस्तान के रूप में उनका यह स्वप्न सत्य हो गया।[1] तात्पर्य यह कि उर्दू एक ओर तो अँगरेजों के हाथ में देश को चिरकाल तक परतंत्र बनाये रखने वाला पाश थी तो दूसरी ओर प्रतिक्रियावादियों और सम्प्रदायवादियों के दुर्ग की दुर्गम चहारदीवारी भी। बहुत से अँगरेज और योरोपियन "मजहबी रिश्ते के खयाल से उर्दू का पक्ष ग्रहण" किए हुए थे, गार्सा द तासी नामक फ्रांसीसी विद्वान् के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है—वह हिन्दू-धर्म जिसके मूल में बुत-परस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इसलाम भी "सामी" मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिए इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं—मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताबें मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी अस्वीकार नहीं करते पर हिंदू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा नहीं मानते।"

इस पृष्ठभूमि में भारतेंदु ने हिंदी के अभ्युत्थान के आन्दोलन का नेतृत्व किया। इन्होंने इसे इतना बहुमुखी बना दिया कि वह उस व्यापक भारतीय

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', परिवर्द्धित संस्करण, पृ० ४३५।

स्वतंत्रता के आन्दोलन के लिए क्षेत्र निर्माण कर सका, जो आगे चलकर बाल गंगाधर तिलक और महात्मा गांधी आदि महान् नेताओं के द्वारा प्रवर्तित हुआ। तात्पर्य यह कि भारतेंदु जी ने राष्ट्रीय दृष्टि से हिंदी का समर्थन किया था और उसी दृष्टि से उर्दू का घोर विरोध। उनकी इस भाषा-नीति ने उनकी नाट्य-कला को भी प्रभावित किया। हिन्दी के आन्दोलन को प्रगति प्रदान करने के लिये उन्होंने छोटे-छोटे नाटकीय संवाद और दृश्य लिखे। भारतेंदु के ये नाटकीय संवाद उस परंपरा के अंतर्गत आते हैं जो "लोहे सोने कौ झगरौ" आदि कृतियों के रूप में रीतिकाल में अखंड रही। भारतेंदुजी के एक नाटकीय संवाद का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रसंग को स्पष्ट कर देगा। यह संवाद सन् १८७३ ई० में "हरिश्चन्द्र मैगजीन" की १५ अक्टूबर की संख्या में 'दो मित्रों का वार्तालाप' (कुलपालक और विश्वबंधु, दो मित्रों का समागम) शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, भारतेंदुजी ने यहाँ यह भी निर्देश कर दिया है कि यह १० मिनट में समाप्य है।

इस संवाद में कुलपालक आकर विक्रम से कहता है कि "वह अंधेर नगरी गया था। वहाँ के निवासी अनेक पति वाली (और अनेक मातावाली भी) एक परदेसिन अबला के पीछे पड़े हैं, और उसे देश से निकालना चाहते हैं। इसे दिल्ली के लुहारों ने गढ़ा है। प्रतापी शाहजहाँ के रनवास में इसका जन्म हुआ है और रूप-गुण में अपनी रूपवती माता से भी बढ़कर है।"

विक्रम—भला कोई इतनी रूपवती हो तो देखे, देखे कहाँ ?

कुलपालक—उसके उत्तम लंबे तौ गोड़ हैं।–पाँच-सात ठौर से तो टेढ़ी बाँकी जुदी है। सत्य है विधना ने इस संसार में रूप दो ही को दिया है, द्वापर में कूबरी को कलियुग में तुम्हारी प्यारी दिल्ली वारी को—वह कपट की खान है।

× × ×

विक्रम—यह ईश्वर का कोप अथवा मतिभ्रम है, नहीं वे लोग ऐसी अनेक-रूपा को अपनी आँखों से विलग करने का कदापि हठ न करते। हम किसकी कहें हमने दूर से देखा और कानों से सुना भी है कि अपनी रुचि अनुसार हाथ को पाँव, पाँव को हाथ देख लो, नाक को कान, कान को नाक मान लो, कभी बहुत-सी नाक, बहुत से कान, कभी सिर नहीं कभी पैर नहीं, कहाँ तक कहें हमने ऐसी सुन्दर सब अंग से सावधान दूसरी नारी तौ नहीं सुनी। यहाँ तक तौ सुनने में आया है कि जब यह भाँति-भाँति के वर्ण बदलती है, उसके घर के लोग भी उसे नहीं पहचान सकते—देखिए उसके दो एक शब्द हम आपको सुनावें 'जनाब' 'हुजूर' 'मिजाज शरीफ' 'मुबारिक' कैसे मधुर मालूम होते हैं। यह शब्द

सुन हमारा मन हाथ में नहीं रहा, और यही सूझी कि—

"सब तजि हरि भजि। किसी मकतब में चलि।"

मैं पहले ही संकेत कर चुका हूँ कि उर्दू के समर्थन और प्रचार का आन्दोलन एक राजनीतिक षड्यंत्र था, इस संवाद द्वारा भारतेंदु इस तथ्य को अत्यंत सरल और सरस शब्दों में जनता तक पहुँचाने का उपक्रम कर रहे थे। इस प्रसंग के उनके व्यंग्य का प्रतिशब्द अत्यंत सार्थक, चुटीला और ठीक लक्ष्य पर बैठनेवाला है। अंगरेजों के शासन ने देश को 'अंधेर नगरी' बना डाला है। 'दिल्लीवारी' अर्थात् उर्दू अपनी रूपवती माता "फारसी" से भी अधिक देश के लिए घातक सिद्ध हो रही है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वह एक 'वर्णसंकर' सृष्टि है, वह जनता की अथवा किसी जनपद की भाषा भी नहीं है, और अनेक प्रकार की दुरभिसंधियों को चरितार्थ करने के लिए विभिन्न निहित स्वार्थों के लोग उसका दुरुपयोग कर रहे हैं, यह बात उसे अनेक पतिवाली (अनेक माता-पितावाली भी) कहकर स्पष्ट कर दी गई है। उर्दू की लिपि अवैज्ञानिक और भोंड़ी तथा उसकी उच्चारण पद्धति अभारतीय है, यह बात भी जन-साधारण के लिए अत्यंत सुबोध शैली में कह दी गयी है।

उर्दू के पक्ष में आन्दोलन करनेवाले पत्र और पत्रकार जैसे ही हिन्दी का कुछ हित होते देखते थे अथवा किसी को उसका समर्थन करते पाते थे, तो तुरंत पुकार मचाते थे कि उर्दू की हत्या हो गई, उसके साथ घोर अन्याय हुआ ऐसी घटनायें उन दिनों घटित होती रहती थीं। ऐसी ही एक घटना का बड़ा ही मनोरंजक वर्णन 'उर्दू का स्यापा' नाम के एक बहुत छोटे प्रकरण में उन्होंने किया है। वे कहते हैं—

"अलीगढ़ इंस्टिट्यूट गजट और बनारस अखबार के देखने से ज्ञात हुआ कि बीबी उर्दू मारी गई और परम अहिंसानिष्ठ होकर भी राजा शिव प्रसाद ने यह हिंसा की—हाय हाय! बड़ा अंधेर हुआ मानों बीबी उर्दू अपने पति के साथ सती हो गई। यद्यपि हम देखते हैं कि अभी साढ़े तीन हाथ की ऊँटनी-सी बीबी उर्दू पागुर करती जीती है, पर हमको उर्दू अखबारों की बात का पूरा विश्वास है—जो हो "बहराहाल हमें उर्दू का गम वाजिब है' तो भी हम स्यापे का प्रकरण यहाँ सुनाते हैं। हमारे पाठक लोगों को रुलाई आवे तो हँसने की सौगन्ध है, क्योंकि हासा-तमासा नहीं बीबी उर्दू तीन दिन की पट्ठी अभी जवान कट्ठी मरी हैं।"

इस प्रकरण में ठूँस-ठूँस कर भरा गया हास और व्यंग्य सर्वजन-संवेद्य है।

इस प्रकरण के अंत में उन्होंने अरबो, फारसी, पश्तो, पंजाबी आदि उर्दू की विमाताओं को शोक में छाती पीटते और रुदन करते हुए दिखाया है। उनके रुदन में उर्दू भाषा और साहित्य की सारी खूबियों को इन दो पंक्तियों में बड़ी खूबी से कह दिया गया है—

बात फरोशी हाय हाय। रह लस्सानी हाय हाय।
चरब जुबानी हाय हाय। शोख बयानी हाय हाय।
फिर नहिं आनी हाय हाय।



भारतेंदु के नाटकों का क्रियाकल्प

नाटक दृश्य काव्य है, अभिनेयता और रंगमंचीय उपयोगिता की दृष्टि से ही उसकी रचना होती है। भिन्न रुचिवाली बहुसंख्यक जनता नाटक देखती है, इसलिए उसे सब प्रकार के दर्शकों के मनोरंजन का उत्तरदायित्व भी सफलता पूर्वक वहन करना होता है। तात्पर्य यह कि नाटककार को प्रतिपद अभिनेताओं की योग्यता, रंगमंच की आवश्यकता तथा दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रखकर चलना होता है। जिन भाषाओं का अपना विकसित रंगमंच है, उनके लेखकों को इस कार्य में विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु हिन्दी जैसी भाषा में जिसका अब तक कोई अपना रंगमंच ही नहीं, नाटक-रचना वस्तुतः लेखकों की कसौटी है, जिस पर भारतेंदुजी सब प्रकार से खरे उतरते हैं। ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि भारतेंदुजी ने बड़े विशाल क्षेत्र से अपने नाटकों के लिये सामग्री का चयन किया है। इस सामग्री का प्रयोग उन्होंने नाटकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सफलतापूर्वक किया, यह महत्व की बात है। वे यह कभी नहीं भूलते कि अभिनीत होने में ही उनकी रचनाओं की सार्थकता है और अपने नाटक द्वारा उन्हें एक नियत समय तक दर्शक-मण्डली का मनोरंजन करना है। उनके नाटकों की प्रस्तावना से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'प्रेमजोगिनी' की प्रस्तावना में परिपार्श्वक सूत्रधार से कहता है—

''परन्तु मित्र बातों से तो काम चलेगा न। देखो ये हिन्दी-भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आए हैं। इन्हे कोई खेल दिखाओ।''

इस कथन में हिन्दी भाषा में नाटक शब्द पर जो गौरव है उससे प्रकट होता है कि उन्हें हिन्दी-भाषा में नाटक देखने वालों को सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना अभीष्ट था। 'सत्यहरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में भी उनकी दृष्टि दर्शकों पर जमी हुई प्रतीत होती है। सूत्रधार कहता है—

''अहा! आज की सन्ध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं, और सबकी इच्छा है कि हिन्दी-भाषा का कोई नवीन नाटक देखें।'

इस कथन का उत्तरार्द्ध हिन्दी भाषा के नवीन नाटकों में दर्शकों की बढ़ती हुई रुचि का पता देता है। इस कथन में यह भी प्रतीत होता है कि भारतेंदुजी ने जन-साधारण से लेकर विशेषज्ञों 'गुणज्ञ और ही रसिक लोग' तक को दृष्टि में रखकर अपने नाटक लिखे हैं। इससे सिद्ध है कि वे नाटक-प्रणयन प्रारम्भ करने के पूर्व अपने कार्य की गुरुता को भली-भाँति समझ चुके थे। उनको ज्ञात

था कि सब प्रकार के दर्शकों का साधुवाद ही नाटक को सफलता का मानदण्ड माना जा सकता है ।

परन्तु दर्शकों का मनोरंजन-मात्र भारतेंदुजी को अभीष्ट नहीं था । उन्होंने अपने 'नाटक' नामक निबन्ध में लिखा है—

"आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्य-फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है ।....नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें ।" अरस्तू, जानड्राइडेन, पेरकारनी, गोल्डानी, बेन जानसन, फर्कुहर, लेसिंग आदि योरोपीय विद्वान् भी नाटक को ऐसी ही सोद्देश्य रचना मानते हैं । यूरोप में ओजियर और मोलियर जैसे अनेक नाटककार और विद्वान् भी होते रहे हैं, जो कोरे मनोरंजन को नाटक का लक्ष्य मानते रहे । पर, हमारे देश में वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक अथवा सार्वजनिक बनाने का जो उदात्त आदर्श महर्षि भरत ने नाटकों के लिए निरूपित किया, समधिक सब नाटककार उसकी सिद्धि का प्रयत्न करते रहे । प्रकार-भेद से भारतेंदुजी भी अपने नाटकों द्वारा इसी आदर्श को चरितार्थ करने की ओर उन्मुख थे । प्रसिद्ध भारतीय विद्याविद् डा० फतह सिंह ने लिखा है "....अनेक रसात्मक तत्वों को रस-निष्पत्ति के लिये उपयुक्त विभावों के रूप में एकत्र करके नाट्य न केवल अन्य काव्यों में श्रेष्ठ हो सकता था, अपितु धर्म संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था, और सम्भवतः बहुत काल तक वह इस अवस्था में रहा भी ।" भारतेंदु की नाट्य-सामग्री का जो विश्लेषण पहले प्रस्तुत किया जा चुका है, उससे यह स्पष्ट है कि वे भारतीय जनता को अपने नाटकों द्वारा युग-धर्म की शिक्षा देना चाहते थे । यह कार्य भारतेंदुजी किस कुशलता के साथ सम्पादित कर रहे थे, इसको ठीक-ठीक समझने के लिए हमें अपने को उस दर्शक मण्डली के बीच बैठा हुआ कल्पित करना चाहिए, जिसके लिये वे नाटक रचना कर रहे थे ।

इसके अतिरिक्त वह रंगमंच भी हमारी कल्पना में पूर्ण रूप से जग जाना चाहिए, जिसको ध्यान में रखकर उनके नाटक लिखे गये थे । उनकी दृष्टि अपने समय के रंगमंच की सब परम्पराओं पर पहुँची थी । जैसा पहले से स्पष्ट होता आ रहा है, भारतेन्दुजी को अपने समय में चार प्रकार का रंगमंच मिला, एक रामलीला का, दूसरा रासलीला का, तीसरा नौटंकी का और चौथा पारसी कम्पनियों का । उस समय की नाटक प्रेमी जनता इन्हीं चारों प्रकार के रंगमंचों से मनोरंजन उपलब्ध करती थी । धार्मिक प्रवृत्ति के लोग रामलीला और रास-लीला के प्रेमी थे, लौकिक विषयों में रुचि रखनेवाले लोग विशेषतः अशिक्षित

और ग्रामीण नौटंकी के अनुरागी थे। पारसी कम्पनियों का उदय अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति के प्रसार के साथ-साथ नगरों में हुआ था, अतः वहाँ की अधिकांश जनता पारसी रंगमंच द्वारा चमत्कृत थी। एक ऐसा वर्ग था, जो इन चारों में से किसी से भी सन्तुष्ट नहीं था। उसे लीला और नौटंकी के रंगमंच से सन्तोष नहीं था और पारसी रंगमंच का वातावरण तो उसे अत्यन्त अराष्ट्रीय और असांस्कृतिक प्रतीत होता था। स्वयं भारतेन्दु भी पारसी रंगमंच से इन्हीं कारणों से क्षुब्ध थे,[1] अतएव वे जानते थे कि उन्हें अपने नाटकों द्वारा इन सभी वर्गों के दर्शकों को आकर्षित करना और उनकी रुचि को परिष्कृत करना है तथा उनके मन में देश के अतीत, आगत और अनागत की यथार्थ स्थिति अंकित करनी है। सम्भवतः संसार के कम ही नाटककारों को इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में इतना कठिन काम करना पड़ा है। अतः इस परिस्थिति में भारतेन्दु ने जो कुछ किया उसका महत्व ऐतिहासिक है।

"एक बार वे (भारतेन्दु) किसी पारसी कम्पनी का 'शकुन्तला' नाटक देखने गए थे, जो कालिदास की अमर कृति के आधार पर लिखी गयी थी। डाक्टर थीबो भी थिएटर हाल में उपस्थित थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि नायिका 'शकुन्तला' एक हाथ कमर के नीचे और दूसरा सिर पर रखे हुए नीच जाति की गँवारु स्त्रियों की तरह नाचती हुई गा रही है पतली कमर बल खाय' तब वे डाइरेक्टरों को कोसते हुये थिएटर से बाहर निकल आए।"

भारतेन्दु ने हर प्रकार के रंगमंच पर खेली जाने वाली नाटकीय रचनाओं का परिमार्जित रूप प्रस्तुत करके दर्शकों की एक सामान्य परिष्कृत रुचि निर्माण करने का प्रयत्न किया। काशी में जो रामलीला "श्रीमान महाराज काशीराज भक्त–शिरोमणि की कृपा से[2] होती थी उसके लिए उन्होंने अत्यन्त सरस पाठ प्रस्तुत किया।[3] रामलीला को भी नाट्यकला के सब तत्वों से विभूषित कर उन्होंने "चन्द्रावली" नाटिका के रूप में उपस्थित किया। नौटंकी समुन्नत रूप भी "नील देवी" नाटिका में दिखायी पड़ा, जिसे भारतेन्दुजी ने गीति-रूपक कहा है। पारसी रंगमंच पर साहित्यिक और सांस्कृतिक शक्तियों का प्रवेश अथवा अधिकार संभव नहीं था, परन्तु उस पर खेले जानेवाले नाटकों का परिष्कृत रूप स्वतः हमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि अनेक मौलिक अथवा अनूदित नाटकों में मिल गया। इन नाटकों के खेलने की परिपाटी भी उन्होंने स्वयं

१. दे० डा० श्री कृष्णलाल कृत 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० २०७।

२. भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा खण्ड, पृ० ७७०।

३. वही, पृ० ७८०।

चलाई और इस प्रकार एक ऐसे रंगमंच को जन्म दिया जो उनके द्वारा आयोजित जन-आन्दोलन के लिए बहुत उपयोगी था। यह रंगमंच पारसी रंगमंच की तरह न तो समृद्ध, अलंकृत और आडम्बरपूर्ण था और न उसके समान इसके स्थानान्तरण में किसी प्रकार की असुविधा थी। यह रंगमंच नौटंकी की तरह किसी भी सार्वजनिक स्थान-मेला-ठेला, विद्यालय, मन्दिर आदि में जमाया जा सकता था। इसका काम कम से कम पर्दों से भी चल सकता था, अधिक हो तो अधिक अच्छा।[1] उपलब्ध पर्दों पर जो दृश्य अंकित होते थे, उनके अतिरिक्त शेष दृश्य-विधान रामलीला और रासलीला की शैली पर सहज सुलभ उपकरणों के सन्निवेश द्वारा प्रस्तुत किया जाता था। इसके प्रेक्षागृह के विधान में पर्याप्त स्थितिस्थापकत्व होता था। अभिनेता सब पुरुष ही होते थे, स्त्री-पात्रों का अभिनय भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता था। इस प्रकार एक ओर भारतेन्दु तत्कालीन विभिन्न रंगमंचीय प्रवृत्तियों का एक नवीन रंगमंच में एकीकरण कर रहे थे तथा दूसरी ओर इस नवनिर्मित रंगमंच में सरलता और सुकरता का विधान

---

१. दे०—काशी के दैनिक 'आज' में २८ अप्रैल, १९२७ को प्रकाशित, बाबू गोपालराम गहमरी के यात्रा संबन्धी एक लेख का अंश—

"बयालिस वर्ष पहले की बात है जब काशी के भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बलिया में 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक स्वयं हरिश्चन्द्र बनकर खेला था, जिसमें हिन्दी के सुलेखक—'दुःखिनीबाला' के लेखक—बाबू राधाकृष्ण दास सरीखे हिन्दी-सेवक रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दा पर सीनों का जमाव नहीं था, लेकिन जो कुछ स्टेज उस समय बना था—बजाज के कपड़े तानकर जो काम भारतेन्दु ने कर दिखाया था, उसकी महिमा यूरोपियन लेडियों तक ने गाई थी। उस समय की कलक्टर साहब की मेम ने आँसुओं से भरा रूमाल निचोड़कर जब साहब की मार्फत भारतेन्दुजी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान का विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है, सीन बदल जाय, तो इससे सत्य हरिश्चन्द्र बने हुए भारतेन्दु ने स्वयं ओवर ऐक्ट किया था और दर्शक मण्डली में करुणा के मारे त्राहि-त्राहि मच गई थी। पात्रों का शुद्ध उच्चारण हमने उसी समय हिन्दी के नाटक स्टेज पर सुना था। जहाँ हिन्दी के बड़े-बड़े लेखक रहते हैं, वहाँ भी हिन्दी के नाटक हमने देखे हैं, लेकिन उनके पात्रों का उच्चारण और चरित्र-चित्रण देखकर यही कहना पड़ता था कि अच्छे-अच्छे नाटक लिखे रहने पर भी हिन्दी का प्रसार नाटकों के स्टेज पर होने को अभी बहुत बाकी है।"

करके वे परम्परागत भारतीय नाटक की सार्ववर्णिकता और सार्वजनिकता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए भी प्रयत्नशील थे। खेद की बात है, भारतेन्दु के रंगमंच का मूल्यांकन करने में हमारे बहुत से विद्वानों[1] ने इस पक्ष को पूर्णतया भुला दिया है और ऐसी बातें कही हैं जो सुरुचि, सहानुभूति और देश-प्रेम की परिचायक न होकर उनके अभिनिवेश और पूर्वग्रह आदि को प्रकट करती हैं। वस्तुतः आधुनिक समाजशास्त्रीय प्रवृत्तियों से सम्पर्क रखनेवाले सभी विद्वान् इस बात को स्वीकार करेंगे कि जनसाधारण के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक महत्व की पृष्ठभूमि में इस प्रकार के रंगमंच ही के लिए एक समुज्वल और समुन्नत भविष्य निर्मित हो सकता है। वर्तमान रूस के सार्वजनिक रंगमंच के अनुकरण पर प्रचारित इण्डियन पीपुल्स थियेटर आदि की लोकप्रियता इस बात का प्रबल प्रमाण है।

भारतेन्दु को एक अत्यन्त कुशल नाटककार की भाँति अभिनेताओं का भी पूरा ध्यान था। अपने "नाटक"[2] नामक निबन्ध में उन्होंने तत्सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक निर्देश दिए हैं। भारतेन्दुजी को ऐसे लोकसंग्रही अभिनेताओं की सदा खोज रहती थी, जो उनके द्वारा प्रचारित युगधर्म की प्रभावशाली अभिनयात्मक व्याख्या प्रस्तुत कर सकें। ऐसे अभिनेता वे व्यक्ति ही हो सकते थे जिनको तत्कालीन जनता की रुचि और हित का समान ध्यान हो। ऐसे लोग सामने आयें, इसलिए भारतेन्दु ने स्वयं अभिनय किया। उन्हीं की प्रेरणा से पं० प्रताप नारायण मिश्र और पं० बालकृष्ण भट्ट जैसे जन-जीवन में रमे हुए विशिष्ट प्रतिभाशाली लेखक रंगमंच पर उतरे। आगे भी उनके द्वारा स्थापित इस आदर्श का पालन पुण्यश्लोक महामना पं० मदनमोहन मालवीय और राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे व्यक्तियों ने अभिनेता के रूप में रंगमंच पर अवतीर्ण होकर किया।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दुजी के नाटक की सार्ववर्णिकता और सार्वजनिकता के आदर्श को चरितार्थ कर सकनेवाले लोकहित की भावना से

---

१. दे० डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक-साहित्य का इतिहास', पृ० १४०।
डा० श्रीकृष्णलाल का 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास', पृ० २०३ और २०९।
डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य', पृ० २७४।

२. बा० ब्रजरत्न दास द्वारा सम्पादित 'भारतेन्दु नाटकावली' द्वितीय भाग, पृ० ४६।

३. पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा संपादित हिन्दी नाट्य परिषद् द्वारा अभिनीत 'शाकुन्तल नाटक' में महामना मालवीयजी ने अभिनय किया था।

भावित अभिनेताओं की संख्या का अधिक होना सम्भव नहीं था। अतएव उन्हें साधारण व्यक्तियों से भी काम चलाना पड़ता था। अवश्य उस समय प्रत्येक नाटकीय आयोजन में सब जगह भारतेन्दु के आदर्श से अनुप्राणित कोई न कोई अभिनेता रहता होगा। ऐसे व्यक्ति के सहयोग के बिना भारतेन्दु के अव्यावसायिक रंगमंच के लोकप्रिय होने की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः भारतेन्दु ने अपने नाटकों में भाग लेनेवाले सब प्रकार के अभिनेताओं के स्थान में अपने को रखकर उनके लिए ऐसे संवाद लिखने का प्रयत्न किया है जिनसे उनमें से प्रत्येक के लिये निर्दिष्टपात्र के चरित्र की सम्यक् अभिव्यक्ति हो सकी है। हरिश्चन्द्र, सूर्यदेव, चन्द्रावली, शैव्या, सावित्री, सत्यवान आदि के कथोपकथन उन्होंने अपने और प्रतापनारायण मिश्र जैसे अभिनेताओं को दृष्टि में रख कर लिखे हैं, तो पीकदान, चपरगट्टू, झूरी सिंह और गप्प पंडित जैसे पात्रों के संवाद उन्होंने अन्य अभिनेताओं के लिए लिखे हैं। उनके रंगमंच पर स्त्रियों का अभिनय भी पुरुष ही करते थे। भारतेन्दुजी जानते थे कि इस काम में स्वाभाविकता लाना कठिन काम है। उन्होंने लिखा है ''नाटक के जो सब अंश स्त्रीगण कर्तृक प्रदर्शित होते हैं, उनमें भाव, हाव, हेला, प्रभृति, यौवन संभूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता किन्तु पुरुषों को स्त्री वेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखाना पड़ता है।[1] इस दृष्टि से ही उन्होंने स्त्री-पात्रों के लिए लिखे गए संवादों में अपेक्षाकृत अधिक कोमलता, सुकुमारता और सरसता का समावेश किया है। इस दृष्टि के मनोवैज्ञानिक मर्म को जो विद्वान् नहीं समझ सकते, उनके लिये भारतेन्दु का यह प्रयत्न रोचकता की सीमा लाँघता हुआ प्रतीत होता है।[2]

इस विवेचन में मैंने भारतेन्दु के नाटकीय कौशल के गुणागुण-ज्ञान का वैज्ञानिक आधार प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। वे अपने नाटकों के अभिनेताओं के लिए संवाद परिकल्पित करके विभिन्न पात्रों के चरित्रों की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, यह मैं लिख चुका हूँ। उनके ये चरित्र जिस कथावस्तु की पृष्ठभूमि में आकार प्राप्त करते हैं, उसके विधान की उनकी कला अनेक दृष्टियों से आकलनीय है। उन्होंने पुराण, इतिहास, जनश्रुति, सामयिक प्रसंग और स्वयं अपने जीवन से सूत्रशेष कथाओं को चुनकर काव्य-प्रतिभा तथा उर्वर कल्पना द्वारा उन्हें सरस-सजीव चित्र यवनिकाओं के रूप में परिणत कर

---

१. बा० ब्रजरत्नदास सम्पादित 'भारतेन्दु नाटकावली', द्वि० भा०, परिशिष्ट, पृ० ४५।
२. दे० डा० रामविलास शर्मा कृत 'भारतेन्दु युग', पृ० ६२।

दिया है। उनके वस्तु-विधान की पहली उल्लेख-योग्य विशेषता यह है कि वे कथा-वस्तु के अन्तर्गत नाना रस-संकुल सुख-दुःखमयी ऐसी अवस्थाओं की निरन्तर सृष्टि करते चलते हैं, जिनसे छोटी-बड़ी विविध अप्रत्याशित परिस्थितियाँ आविर्भूत होती हैं। उनके प्रत्येक नाटक से इसके उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' में तो सुख-दुःखमयी अवस्थाओं और अप्रत्याशित परिस्थितियों की भरमार है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के अतिरिक्त उनके अन्य सभी मौलिक नाटक छोटे-छोटे हैं पर इन छोटे-छोटे नाटकों में भी उन्होंने जितनी अप्रत्याशित और विस्मयोत्पादक परिस्थितियों की विचित्र परिकल्पना की है, उतनी कम ही नाटककार इससे कहीं बड़े चित्रपट पर प्रदर्शित कर पाए हैं। 'नीलदेवी' उनका एक बहुत छोटा नाटक है जिसमें कुल दस छोटे-छोटे दृश्य हैं। इस छोटे से नाटक का प्रत्येक दृश्य एक नई आकस्मिक परिस्थिति लेकर आता है। प्रायः इसी आकार के अनेक एकांकी भी आधुनिक हिन्दी साहित्य में मिलते हैं। इसका अच्छा निदर्शन 'विषस्य विषमौषधम्' नामक भाण में मिलता है जिसमें नियमानुसार आकाशभाषित का व्यवहार हुआ है। यह अपेक्षाकृत एक कठिन प्रयोग है, कारण, इसमें एक ही अभिनेता आंगिक और सात्विक अभिनय के योग से अपने स्वगत-कथनों द्वारा विविध परिस्थितियों की कल्पना जगाता है। भारतेन्दु के इस एक अंक के छोटे से भाण में बड़ी विस्मयोत्पादकता और विचित्रता है।

प्रारम्भ में भंडाचार्य किसी को कहते सुनता है कि "परनारी पैनी छुरी ताहि न लाओ अंग, रावन हू को सिर गयो परनारी के संग"। भंडाचार्य बड़ौदा के महाराज मल्हारराव का मुसाहब है। इस कथन में उसको अपने महाराज पर आक्षेप का आभास मिलता है। अतएव, वह तुरन्त बड़े गर्व से उत्तर देता है—

रावन ने दस सिर दिए, जनक नंदिनी काज।
जो मेरो इक सिर गयौ, तौ यामें कह लाज॥

और फिर तुरन्त ही महाराज मल्हारराव के षड्यन्त्र का भंडाफोड़ करनेवालों को चुनौती देता हुआ क्रोध से कहता है "यह भेद खुलने पर भी हमने तुम्हें, कृष्णाबाई दोनों को न छकाया तो मेरा नाम भंडाचार्य नहीं।" परन्तु तत्काल वह ऊपर किसी को कहते सुनता है, "इसी उपद्रव से न यह गति हुई।" यह सुनते ही मानों उसकी सिट्टी-पिट्टी भूलने लगती है। जैसे ही उसे मालूम होता है कि यह बात महाराज मल्हारराव के संबंध में कही गई है वैसे ही वह भीगी बिल्ली बन कर बड़ी विनम्रता से पूछता है, "ए भाई जरा हाल तो कहे जाओ।" जब उसे ज्ञात होता है कि महाराज गद्दी से उतार दिए गए तो वह बड़ा संताप प्रकट करता है

"....हाय हाय ! महाराज....हाय महा अनर्थ हुआ। महाराज नहीं गए, हिन्दुस्तान गया।" किन्तु जैसे ही उसे ज्ञात होता है कि "जिसके बल से वह कूदता था" वह मल्हारराव अब लौटने का नहीं, वैसे ही वह संताप को भाड़ में झोंक कर उनकी निन्दा करने लगता है। "....और नहीं तो क्या ?....भला रावण इनसे बढ़के था कि ये रावण से बढ़के। एक बात में तो ये रावण से बढ़ गए कि ऐसे काल में और सरकार के राज्य में इन्होंने ऐसा उपद्रव किया।....यदि ऐसे लोगों को उचित दंड नहीं दिया तो ये लोग न जाने क्या-क्या अनर्थ करें।" अंत में जब उसे ज्ञात होता है कि "खानदेश का एक कुमार गद्दी पर बैठा भी तो दिया गया" तो वह निर्लज्जतापूर्वक अट्टहास करता हुआ कहता है....अहा हा।....कहो और क्या चाहते हो, भला और क्या चाहिये हमारा भंडपना जारी ही रहा, बड़ौदा का राज फिर सुख से बसा तो अब और क्या चाहिए....।" इसमें राजाओं के स्वार्थी मुसाहबों के चरित्र का यथार्थ चित्र तो मिलता ही है, हम साश्चर्य यह भी देखते हैं कि इस प्रकार के मानसिक संघर्षों के सोपान पार करके भंडाचार्य जहाँ से चले थे फिर वहीं हैं। वस्तु-वैचित्र्य-विधान में भारतेन्दुजी को जैसी सफलता इस छोटे से एकांकी भाण में मिली है वह उनकी अन्य रचनाओं में भी पाई जाती है।

भारतेन्दु की इस सफलता का रहस्य यह है कि उन्होंने नाटकीय वस्तु विन्यास के मर्म को हृदयंगम करके उनके शास्त्रीय नियमों का प्रयोग कुशलता के साथ किया है। इस प्रकार उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि इन नियमों की सार्थकता रंगमंच, अभिनेता और दर्शक की त्रयी की आवश्यकता की पूर्ति करने में ही है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि सुनिर्धारित योजनानुसार भारतेन्दु यथास्थल पाश्चात्य नाटकीय परंपरा के अनुकूल तत्व भी ग्रहण करते गए हैं। इसीलिये एक ओर जहाँ उनकी कथावस्तु की कार्य या व्यापार-शृंखला फलागम तक ले जानेवाली विविध अवस्थाओं की कड़ियों को जोड़ती चलती है, तो दूसरी ओर उसमें संघर्ष के आरम्भ से उपसंहार तक[1] के पूरे क्रम का भी संनिवेश रहता है। एक ओर उनके कुछ नाटकों में[2] भारतीय परंपरानुकूल प्रस्तावना की योजना है, तो दूसरी ओर कुछ[3] ऐसे भी नाटक हैं जिनमें प्रस्तावना बिल्कुल नहीं है। शेष नाटकों में प्रस्तावना के स्थान पर एक अथवा अनेक

---

१. दे० 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'लीलदेवी' का कथानक।

२. 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'प्रेमजोगिनी', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'भारत जननी', 'चन्द्रावली'।

३. 'अंधेर नगरी', 'विषस्य विषमौषधम्', 'पाखंड विडंबन', 'भारतदुर्दशा'।

अप्सराओं के गायन द्वारा अनुकूल वातावरण निर्माण करने का प्रयत्न किया गया है। भारतेन्दुजी के नाटकों की प्रस्तावनाएँ अपनी विविधता के कारण विशेष महत्व रखती हैं। 'सत्य हरिचन्द्र' में सूत्रधार कवि की प्रशंसा में निम्न दोहा पढ़ता है—

जो गुन नृप हरिचंद्र में, जग हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

सूत्रधार के कथन के अर्थ को एक दूसरे दोहे में ग्रहण करते हुये इन्द्र प्रवेश करता है जिससे कथोद्‌घात नाम की प्रस्तावना की सृष्टि हो जाती है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भी यही प्रस्तावना है। 'चन्द्रावली' में प्रयोगातिशय नाम की प्रस्तावना का प्रयोग किया गया है। 'प्रेमजोगिनी' की प्रस्तावना इस नाटिका की ही तरह एक नया प्रयोग-सा प्रतीत होती है, क्योंकि इस पर पाँचों प्रकार की प्रस्तावनाओं में से किसी के भी लक्षण पूर्ण रूप से नहीं घटते। पर, यदि प्रवर्त्तक नाम की प्रस्तावना के लक्षण में 'कालं प्रवृत्तं' उपस्थित समय का अर्थ ऋतु न करके युग की परिस्थिति किया जाय, तो 'प्रेम जोगिनी' और 'भारत जननी' दोनों की प्रस्तावना को कदाचित् उसके अंतर्गत लिया जा सकता है। कारण, इन दोनों ही नाटकों की प्रस्तावना में देश और समाज की दुरवस्था का सूत्रधार द्वारा मार्मिक वर्णन कराया गया है और अगले दृश्यों में इसी का निदर्शन प्राप्त है। 'विषस्यविषमौषधम्' भाण में अलग से प्रस्तावना नहीं, पर रंगमंच पर किसी की बिना कही हुई बात को सुना-सा करके उसके अर्थ को लेकर भंडाचार्य प्रवेश करता है, इसीलिए इसके प्रारम्भ को कथोद्‌घात का ही एक रूप कहा जा सकता है।

प्रस्तावना के उपरान्त हमारी दृष्टि मूल कथावस्तु पर जाती है। अभीष्ट प्रभाव को अत्यन्त तिग्म, निशित, निबिड़ एवं अगूढ़ बना कर भारतेन्दु अपने दर्शक को हृदयंगम कराना चाहते हैं, इसीलिए वे आधिकारिक कथा के साथ कम से कम प्रासंगिक कथा का योग करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके नाटकों के कलेवर में अनावश्यक वृद्धि नहीं होती और दर्शक की रुचि को सतत् स्वायत्त रखने में उनको सुविधा हो जाती है। निःसन्देह कुशल नाटककारों ने प्रासंगिक कथा का अधिकाधिक प्रयोग आधिकारिक कथा को द्विगुण प्रभावशाली बनाने के लिए ही किया है। परन्तु आज के अत्यन्त व्यापृत सामाजिक जीवन की जटिल परिस्थिति में उत्पन्न समायाभाव के कारण इस कौशल के उपयोग का अवकाश नहीं रह गया है। भारतेन्दु इस आवश्यकता को पहचान गए थे। इसलिये उनके कथावस्तु के विन्यास में नाटकों में पताका और प्रकरी नामक अर्थ-प्रकृतियों का

प्रयोग बहुत सीमित रखा गया है। तीन ही नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'नीलदेवी' और 'चन्द्रावली' में इनके प्रयोग हैं। 'हरिश्चन्द्र', में चाण्डाल और कापालिक आदि के वेश में धर्म के क्रियाकलाप पताका नामक अर्थप्रकृति के उदाहरण हैं। कारण, धर्म की कथा अपेक्षाकृत अधिक व्यापी है और प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिये ही उसकी अर्थात् पताका नायक धर्म की—सारी चेष्टायें होती हैं। भैरव उपाध्याय और बटु की कथायें प्रदेशस्थ होने के कारण प्रकरी मानी जायेंगी, प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिये ही उनकी भी उद्-भावना की गयी है। 'चन्द्रावली' में पताका नहीं है, पर वनदेवी वर्षा और संध्या के प्रसंग में प्रकरी का अत्यन्त कलात्मक प्रयोग किया गया है। 'नीलदेवी' में भी 'चन्द्रावली' के ही समान पताका का प्रयोग नहीं है, पागल का प्रसंग प्रकरी के अंतर्गत है। पागल की चेष्टायें नायिका की फल-प्राप्ति की साधक होती हैं। पीकदान, चपरगट्टू और भठियारी का प्रसंग भी प्रकरी ही है, परन्तु इसकी योजना विदेशी आक्रमणकारियों के भ्रष्ट-चरित्र और भोगवादी जीवन-परम्परा की एक झाँकी प्रस्तुत करके वैषम्य द्वारा भारतीय और अभारतीय संस्कृतियों का अंतर स्पष्ट करने के लिए हुई है।

भारतेन्दु बीज, बिन्दु और कार्य नामक अर्थप्रकृतियों के प्रयोग में भी विशेष कौशल प्रदर्शित करते हैं। उनके नाटकों के आरम्भ में बीज के न्यास के साथ-साथ दर्शक में जो उत्सुकता जगती है, वह निरन्तर बढ़ती जाती है और गाढ़ रसानुभूति में परिणति प्राप्त करती हुई एक चमत्कार की सृष्टि कर जाती है। इन अर्थ-प्रकृतियों के साथ-साथ विभिन्न अवस्थाओं और सन्धियों का भी यथास्थान सुन्दर योग होता जाता है, जिससे वस्तु-विन्यास का कलात्मकत्व तथा नाटक का दृश्य काव्यत्व उत्तरोत्तर उन्मेष प्राप्त करता रहता है। उदाहरणस्वरूप 'नीलदेवी' नाटक के दूसरे दृश्य में बीज का वपन किया गया है जिसके साथ ही आरम्भा-वस्था और मुख-संधि का उद्भव होता है। तीसरे दृश्य के अन्त में नीलदेवी और सूर्यदेव के उत्तर-प्रत्युत्तर में आरम्भावस्था और मुखसंधि का एक साथ अवसान हो जाता है, जिससे पूर्व हमें पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के स्वरूप से जो परिचय हो चुकता है, उसके आधार पर हम अगले दृश्य में प्रयत्न, बिन्दु तथा प्रतिमुख संधि के सूत्रपात को सहज ही ग्रहण कर लेते हैं। प्रतिपक्षी नायक-पक्ष के मार्ग में जो कुचक्रपूर्ण बाधाएँ खड़ी करता है और जिनका निश्चित आभास चौथे दृश्य में मिलता है, वही पाँचवें दृश्य में चरितार्थ होकर महाराज सूर्यदेव के बंधन के रूप में नायक-पक्ष को संकटापन्न करती हुई हमारे सामने आती है। इससे उत्पन्न निराशाजनक वातावरण में एकमात्र सहारा देनेवाला नायक पक्ष का वह

बल और उत्साह तथा प्रतिपक्षी का नैतिक दौर्बल्य और आतंक है जिसका परिचय हमें उभयपक्षों के पात्रों द्वारा यत्र-तत्र मिलता जाता है। चौथे दृश्य में पीकदान अली हिन्दू सवारों के हाथों अपने चपतियाये जाने की घटना का विवरण देता है, साथ ही साथ अपने दीन के आदर्श को इस प्रकार प्रकट करता है—

जर दीन है कुरआन है, ईमां है नबी है।
जर ही मेरा अल्लाह है, जर राम हमारा ॥

प्रतिपक्षी की इस विशिष्ट दुर्बलता के विपरीत नायक पक्ष की सबलता का प्रमाण देवीसिंह की इस गर्वोक्ति में मिलता है—"क्षत्री का लड़का है घर की याद आवे तो और प्राण छोड़कर लड़े—इसलिए राजा को बन्दी बना लेने पर भी अमीर अब्दुलशरीफ का बाकी फौज के लिए चिन्तित होना आगामी प्राप्त्याशा के लिए अवकाश प्रदान करता है। सातवें और आठवें दृश्यों में हम उन फल-प्रधान उपायों को उत्तरोत्तर विकास करनेवाली गर्भसंधि तथा प्राप्त्याशा अवस्था के दर्शन करते हैं, जिनका (उपायों का) परिचय हमें मुख और प्रतिमुख संधियों में अनेक बार मिल चुका है। इस प्रसंग में पागल का प्रलाप विशेषतया उल्लेख-नीय है, जिससे न केवल हमें यवन शिविर की आशा-निराशा-मिश्रित घटनाओं की सूचना मिलती है, अपितु उस वातावरण का भी पता चलता है जिसके आधार पर कल सब शराब पीकर मस्त होंगे। "चारों ओर देखकर कल ही अवसर है" इस कथन द्वारा प्राप्त्याशा परिपक्वता को प्राप्त होकर नियताप्ति और गर्भ सन्धि को संभव बनाती है। नवें दृश्य में नीलदेवी के इस कथन में—"मेरी बुद्धि में यह बात आती है कि इनसे एक ही बेर सम्मुख युद्ध न करके कौशल से लड़ाई करना अच्छी बात है"—मुख्य फल की प्राप्ति का उपाय अधिक उद्भिन्न हो जाता है। इस-लिए 'विमर्श' नाम की संधि सिद्ध हो जाती है। राजकुमार सोमदेव की ओर से इस प्रस्ताव के विरोध में जो आपत्ति की जाती है, उसे नीलदेवी उसके कान में चुपके से अपनी सब योजना समझाकर दूर कर देती है। इसके अभाव के दूर होते ही फल को प्राप्ति निश्चित हो जाती है, अतएव नियताप्ति समाप्त होकर आगे भी दसवें दृश्य में फलागम, निर्वहण और कार्य के लिए द्वार खोल देती है। दसवें दृश्य में कथा के समस्त सूत्रों का समाहार होकर अब्दुल शरीफ के वध के रूप में हमें कार्य नामक अर्थप्रकृति विजयिनी भारत-क्षत्राणी के साफल्य के रूप में उस फल को प्रत्यक्ष कराती है, जिसका संकेत प्रस्तावनात्मक प्रथम दृश्य में अप्सराओं के इस गीत में किया जा चुका है—

धनि धनि भारत की छत्रानी।
वीर कन्यका वीर प्रसविनी वीर बधू जग जानी।

सती सिरोमनि धरम धुरन्धर बुधि बल धीरज खानी।
इनके जस की तिहूँ लोक में अमल धुजा फहरानी॥

कथावस्तु के विकास में जिस शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन भारतेन्दु ने अपने नाटकों में किया है, उसका सुन्दरतम स्वरूप हमें उनके संध्यंगों और संध्यंतरों के प्रयोग में मिलता है। नीलदेवी के दूसरे और तीसरे दृश्यों में मुख संधि की स्थापना में उसके विभिन्न अंगों का चमत्कारी प्रयोग किया गया है, जिसका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

संध्यंग	स्थान निर्देश
उपक्षेप	शरीफ—(एक मुसाहब से) अब्दुस्समद खूब होशियारी से रहना। यहाँ के राजपूत बड़े काफिर हैं। इन कमबख्तों से खुदा बचायें।
परिकर	उल्लिखित कथन के उपरान्त काजी, शरीफ और मुसाहब का कथोपकथन।
परिन्यास	शरीफ—कभी उस बेईमान के सामने लड़कर फतह नहीं मिलनी है। मैंने तो अब जी में ठान ली है कि मौका पाकर एक शब उसको सोते हुए गिरफ्तार कर लाना।
विलोमन	शरीफ—इस राजपूत से रहो होशियार-खबरदार। ईमा की कसम दुश्मने जानी है हमारा काफिर है पंजाब का सरदार-खबरदार। अजगर है भभूका है जहन्नुम है बला है। बिजली है गजब इसकी है तलवार-खबरदार।
युक्ति	शरीफ—इस दुश्मने ईमाँ को है धोखे से फँसाना लड़ना न मुकाबिल कभ जिन हार-खबरदार।

समाधान	पहला राजपूत	तो महाराज जब तक प्राण हैं तब तक लड़ेंगे ।
	दूसरा राजपूत—	महाराज जय-पराजय तो परमेश्वर के हाथ है परन्तु हम अपना धर्म तो प्राण रहे तक निबाहेंगे ही ।
	सूर्यदेव—	हाँ, हाँ इसमें क्या सन्देह है मेरा कहने का मतलब है कि सब लोग सावधान रहें ।
	तीसरा राजपूत—	महाराज, सब सावधान हैं धर्मयुद्ध में तो हमको जीतनेवाला पृथ्वी पर है ही नहीं ।
प्राप्ति	सूर्यदेव—	जीते जी तो निज भूमि का उद्धार और नहीं तो स्वर्ग । हमारे तो दोनों हाथ लड्डू हैं और यश तो जीते तो भी हमारे साथ है मरे तो भी ।
कारण	नीलदेवी—	पर सुना है कि ये दुष्ट अधर्म से बहुत लड़ते हैं ।
उद्भेद	चौथा राजपूत—	महाराज—हम लोगों को एकाएकी अधर्म से भी जीतना कुछ दाल-भात का गस्सा नहीं है ।
	नीलदेवी—	तो भी इन दुष्टों से सदा सावधान ही रहना चाहिए । आप लोग सब तरह चतुर हो, मैं इसमें विशेष क्या कहूँ । स्नेह कुछ कहलाए बिना नहीं रहता ।
भेद	सूर्य देव—	सावधान सब लोग रहो सब भाँति सदाही । जाग्रत ही सब रहे रैन हूँ सोअहि नाही ।। कसे रहे कटिरात दिवस सब वीर हमारे । अस्व पीठ सों होहि चारजा में जिन न्यारें ।। तोड़ा सुलगम चढ़े रहे घोड़ा बन्दूकन । रहे खुली ही म्यान प्रतंचे नहिं उतरे छन ।। देखि लेहिगे कैसे पामर यवन बहादुर । आवहिं तो चढ़ि सनमुख पामर कूट सबै जुर ।। देहै रस को स्वाद तुरंतहिं तिनिहिं चखाई । जो पै इन छन हूँ सनमुख ह्वै करहिं लराई ।।

इन संध्यंगों के साथ ही इस प्रसंग में प्रत्युत्पन्नमति, ओज, धी, साहस आदि संध्यंतरों का भी प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अन्य संधियों के अंगों तथा विभिन्न संध्यंतरों का प्रयोग भी इस नाटक में दिखाया जा सकता है। निर्वहण संधि के अंगों के सुचारु प्रयोग से किसी नाटक का उपसंहार हो सकता है, इसका उदाहरण नीलदेवी में प्रयुक्त पूर्वभाव और उपगूहन से भलीभाँति मिल जाता है। शास्त्रीय नियमों के पालन में भारतेन्दु जी ने आधुनिक रुचि का कितना ध्यान रखा है, यह बात भी इस नाटक के उपसंहार से प्रमाणित हो जाती है, जिसमें संस्कृत नाटकों के परम्परागत काव्य-संहार तथा प्रशस्ति नामक संध्यंगों का समावेश बहुत संक्षेप में एक नवीन ढंग से किया गया है। नीलदेवी के—अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी—कथन में प्रथम को और विजयी क्षत्रियों के 'जय-जयकार' में द्वितीय को तत्वतः निष्पन्न कर दिखाया गया है।

यहाँ पर जिन शास्त्रीय नियमों का निदर्शन नीलदेवी से किया गया है, वे भारतेन्दु के नाटकों में प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। नीलदेवी में संघर्ष भावना की प्रधानता और दुखान्तता आदि पाश्चात्य नाटकों के गुणों की प्रमुखता है, तथापि भारतेन्दु ने उसकी रचना का आधार शास्त्रीय ही रखा है, यह भली प्रकार प्रमाणित किया जा चुका है। भारतेन्दु की कला के इस गुण को न समझने के कारण ही बहुत से आलोचकों ने उनको परखने में भूलें की हैं। भारतेन्दु ने संध्यंगों और संध्यन्तरों के प्रयोग द्वारा जिन उद्देश्यों की सिद्धि विशेष रूप से ध्यान में रखी है, वे हैं—१. राग अर्थात् अनेक प्रकार के भावों का संचार २. आश्चर्य प्रयोग अर्थात् चमत्कार विधान ३. वृत्तान्त का अनुपक्ष अर्थात् कथा का ऐसा विस्तार जिससे दर्शकों की रुचि अकुण्ठित रहे और ४. गोप्य-गोपन एवं प्रकाश्य प्रकाश अर्थात् सूच्य एवं दृश्य कथानक का सम्यक् अनुपात। वस्तुतः इष्टार्थ[1] की प्राप्ति के लिये ही संधियों के इन विविध अंगों और संध्यन्तरों की परिकल्पना की गई है। पाश्चात्य नाट्याचार्य[2] प्रायः आश्चर्य-प्रयोग को ही नाटक का आधारभूत तत्व मानते हैं। हमारे नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट संध्यंगों के प्रयोग से वह अधिक चारुता से निष्पन्न होता है। आश्चर्य प्रयोग की अन्य शास्त्रीय विधियों के अन्तर्गत भारतीय नाट्यशास्त्र में पताकास्थानक की भी योजना है जिसका उपयोग भारतेन्दु ने अपने नाटकों में यथास्थल बड़ी कुशलता से किया है। 'नीलदेवी नाटक' में पागल का प्रलाप सुश्लिष्ट और प्राधानार्थान्तर-क्षेपी होने के कारण पताकास्थानक का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता

१. इष्टार्थ—जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करने के लिए।
२. दे०—दी थोयरी ऑफ ड्रामा—ए० निकोल, पृ० ३५-३८।

है। 'चन्द्रावली' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' आदि नाटकों से भी पताकास्थानकों के प्रयोग के अनेक सुन्दर उदाहरण दिये जा सकते हैं।

चरित्र चित्रण

नाटकीय पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा ही वस्तु का प्रासाद खड़ा किया जाता है। कथावस्तु किसी अर्थ को सामने रखकर चलती है और ये पात्र इसी अर्थ की व्याख्या और विवृति करते हुए आगे बढ़ते हैं। अतः पात्रों के चरित्र-चित्रण की कसौटी है कि वे अपने इस निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में योग देते रहें। इस दृष्टि से देखने पर भारतेन्दु के पात्रों का चरित्र-चित्रण बहुत ही सफल प्रतीत होता है। चरित्र-चित्रण के अध्ययन की सुविधा के लिए भारतेन्दु के नाटकीय पात्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

१. आदर्शोन्मुख पात्र—वे पात्र जो हमारे सामने एक आदर्श जीवन की झाँकी उपस्थित करते हैं।

२. यथार्थोन्मुख पात्र—वे जो सामान्य नागरिक जीवन के प्रतिनिधि होकर हमारे सामने आते हैं।

३. रहस्योन्मुख पात्र—वे पात्र जो आध्यात्मिक, धार्मिक, प्राकृतिक तथा समाजशास्त्रीय तथ्यों के मानवीकरण हैं।

आदर्शोन्मुख पात्रों के अन्तर्गत हरिचन्द्र, शैव्या, सावित्री, सूर्यदेव, नीलदेवी और रामचन्द्र की गणना की जा सकती है। हरिश्चन्द्र के चरित्र में भारतीय नाट्यशास्त्र विहित नायक के गुणों का एकत्र समावेश है। उनके चरित्र में सब प्रकार की उच्च वृत्तियों का चरमोत्कर्ष पाया जाता है। वे महासत्व, क्षमावान, अति गम्भीर, स्थिर और दृढ़व्रत हैं। उनके से विशिष्ट धीरोदात्त नायक, साहित्य अथवा इतिहास में कम ही पाये जाते हैं। भारतेन्दु ने उनके चरित्रचित्रण में पर्याप्त सफलता पाई है। कारण हरिश्चन्द्र का चरित्र धीरोदत्त नायक के उल्लिखित गुणों की निर्जीव अर्चा प्रतिमा मात्र नहीं है। उसमें अपार मानवीय संवेदना है, जो यथास्थल पत्नी-वियोग और पुत्र शोक आदि अवसरों पर अत्यंत व्यक्त होकर भी उसे अपने आदर्श से विचलित नहीं कर पाती। सूर्यदेव हमारे सामने एक आदर्शधीरोदात्त नायक के रूप में आता है। परन्तु उसका धीरोदात्तत्व नाट्यशास्त्र की परम्परागत परिधि को विस्तार देता हुआ अपनी गति-भंगियों से उसे एक नयी सार्थकता से मंडित कर देता है उसके चरित्र में 'राजपूती' साकार हो उठी है—जो अधर्मपराङ्मुखता तथा आत्म-बलिदान-प्रियता की ज्योति से मण्डित है। हरिश्चन्द्र को धर्म और सत्य की परमावधि की कठोर साधना के पथ पर अलक्षित रूप से दैवी सहायता का पाथेय भी प्राप्त

है और अन्त में भगवत्साक्षात्कार के साथ उन्हें चतुर्वर्ग का लाभ भी हो जाता है। परन्तु इसके विपरीत सूर्यदेव जानता है कि धर्म और सत्य के दुर्गम मार्ग पर चलते हुए उसे मृत्यु-सुन्दरी के आलिंगन के लिये ही प्रतिक्षण उद्यत रहना है। सूर्यदेव के साथी राजपूतों के चरित्र में भी उसके समान ही धीरोदात्तत्व है। 'प्रेमजोगिनी' के रामचन्द्र के चरित्र में लेखक ने अपने ही चरित्र का वह धीरललितत्व लाने का प्रयत्न किया है जो कि मृच्छकटिक के चारुदत्त में मिलता है, परन्तु रामचन्द्र के धीरललितत्व में ऐसी विशेषता है जो उसे संस्कृत-नाटकों के ललित नायकों से पृथक् करती है।

स्त्री-पात्रों में भारतीय नारीत्व के आदर्श की दृष्टि से शैव्या, सावित्री और नीलदेवी तीनों में लगभग समान-गुण हैं, परन्तु पति पर संकट पड़ने पर उसके निराकरण के लिए तीनों तीन भिन्न मार्गों का अवलम्बन करती हैं। शैव्या साम्राज्ञी होते हुए भी दासवृत्ति अंगीकार करती है, सावित्री यमराज को पराजित करती है और नीलदेवी युक्ति से अपने हाथों अपने पतिघातक का वध करती है। प्रथम दो भारतीय नाट्यशास्त्रप्रथित नायिका के रूढ़ आदर्श के साँचे के अनुरूप हैं, परन्तु नीलदेवी के चरित्र में ऐसा पार्थक्य है जो भारतेन्दु की व्यक्तिवैचित्र्य-चित्रण की प्रवृत्ति को प्रकाश में लाता है। नीलदेवी के चरित्र में मध्यकालीन राजपूत सती के चरित्र का ज्वलंत निदर्शन प्राप्त होता है जो पद्मिनी और झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई आदि की याद दिलाता है। नीलदेवी की निर्भीकता और साहस भारतीय स्त्रियों के आदर्श बने, इस दृष्टि-विशेष से यह चरित्र चित्रित हुआ है।

आदर्शोन्मुख पात्रों के शील-निरूपण में व्यक्ति-वैचित्र्य-चित्रण की जो प्रवृत्ति दिखायी पड़ी, उसका विकास उनके यथार्थोन्मुख पात्रों के चरित्र चित्रण में हुआ है और उसके द्वारा भारतेन्दु ने अपने युग और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध भली प्रकार व्यक्त किया है। इन पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा भारतेन्दु ने यह दिखा दिया है कि वे अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के प्रति कितने सचेत थे। ये पात्र ही वास्तव में हमें उनकी काव्य-प्रेरणा के मर्म तक पहुँचाते हैं। इन पात्रों में तीर्थों के पंडे, पुजारी, गुंडे, भंडेरिये, दुकानदार, तत्कालीन पत्रकार, सम्पादक, कवि, विभिन्न प्रान्तों के नई रोशनी के जबानी जमा-खर्च करनेवाले समाज सुधारक, भंडाचार्य, पीकदान अली और चपरगट्टू खाँ जैसे राजदरबारों के मुसाहब, राजा, वेदान्ती, पुरोहित आदि हैं। ये पात्र पूर्ण विकसित रूप में हमारे सामने नहीं आते, कुछ ही क्षणों के लिए रंगमंच पर आकर अपनी झलक दिखाकर चले जाते हैं, परन्तु ये समाज के जिस स्तर से लिए गए हैं, उसकी

दशा को उन थोड़े से क्षणों में हमारी रागात्मक अनुभूति का बनाकर उपस्थित कर देते हैं। इन पात्रों की बातों में हमें भारतेन्दु के युग के विशाल जन समुदाय के विभिन्न वर्गों के रुदन-हास, राग-विराग और समस्या-संघर्ष, आकर्षक अभिव्यक्ति प्राप्त करते दिखाई देते हैं। इन पात्रों के चरित्र उन चित्रों की कोटि में आते हैं, जिनमें कलाकर आकृतियों के निर्माण में कम से कम रेखाओं और रंगों का प्रयोग करके भी उनकी पृष्ठभूमि को अधिकाधिक प्रकाश में ला देता है। भारतेन्दु में सफल नाटककार का वह गुण है कि पर्दे पर उनकी अँगुली कभी झूठी नहीं पड़ती। वह प्रत्येक भाव को, प्रत्येक पात्र को वाणी देने में समर्थ हैं। अपने यथार्थोन्मुख पात्रों की वाणी में भारतेन्दु के नाटकों का दर्शक (और हम भी) अपने समय और समाज की करुण और जटिल वास्तविकताओं से परिचय प्राप्त करता है और फिर उसकी दृष्टि उल्लिखित आदर्शोन्मुख पात्रों की ओर जाती है, तो उसके हृदय से सहज ही यह ध्वनि निकलती है :—

कोटि कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि कोटि अति सूर।
कोटि कोटि बुध मधुर कवि मिले जहाँ की धूर।।
सोइ भारत की आज यह भई दुरदशा हाय।
कहा करै कित जायँ नहि सूझत कछू उपाय।।

भारतेन्दु के आदर्शोन्मुख और यथार्थोन्मुख पात्र उनकी भारतीय-संस्कृति की चेतना की व्यापकता और तीव्रता का पता देते हैं। उनकी इस चेतना की गहराई का निर्धारण उनके रहस्योन्मुख पात्रों के चरित्र के अनुशीलन से होता है। जिस आध्यात्मिक और धार्मिक ऊँचाई तक पहुँचकर भारतवर्ष ने हरिश्चन्द्र और सावित्री जैसे चरित्रों को सहज-सुलभ किया, उसी के विभिन्न पहलुओं का मानवीकरण विभिन्न पात्रों के रूप में भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में किया है। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय 'चन्द्रावली' है, जो साद्यन्त एक परम सार्थक आध्यात्मिक रूपक है और जिसकी पृष्ठभूमि का विस्तृत विवरण रासलीला के प्रसंग में दिया जा चुका है। इसमें चन्द्रावली का चरित्रप्रधान है, जिसकी प्रत्येक गति को भारतेन्दु ने भक्ति-मार्ग के किसी न किसी मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक तथ्य से सुसम्बद्ध कर दिया है। पहले अंक में चन्द्रावली को हम ललिता से अपनी विरह-व्यथा छिपाने में प्रयत्नशील पाते हैं, किन्तु एक बार जैसे ही उसका यह प्रयत्न असफल होता है, वैसे ही उसकी विवशता और व्याकुलता आँसुओं में गल गलकर बहने लगती है—"हमही अपनी दशा जाने सखी निशि सोवती हैं किधौं रोवती हैं।" वह कहती है, "मैं कितना चाहती हूँ कि ध्यान भुला दूँ, पर उस निठुर की छवि भूलती नहीं, इसी से सब जान जाते हैं।" उसका यह प्रेम सर्वथा

काम गन्ध-शून्य है, इसका प्रमाण उसका यह कथन है कि "हा सखी मैं जब आरसी में अपना मुँह देखती और अपना रंग पीला पाती थी, तब भगवान् से हाथ जोड़ कर मनाती थी कि भगवान् मैं उस निर्दयी को चाहूँ, पर वह मुझे न चाहे !" दूसरे अंक में चन्द्रावली का चित्रण एक योगिनी के रूप में हुआ है, उसका प्रेम आच्छादन के सब प्रयत्नों का परित्याग कर, संकोच छोड़कर, गहन तल्लीनता में डूब कर आत्म-विस्मृति में परिणत हो गया है, यहाँ तक कि उसका जड़-चेतन का विवेक भी नष्ट हो गया है[1], और वह अपने को ही कृष्ण समझने लगी है[2]। तीसरे अंक में हम चन्द्रावली के प्रेम को फिर एक विभिन्न अवस्था में पाते हैं, अब उसमें पहले जैसी आत्मविस्मृति नहीं है, किन्तु उसके उपालम्भों में किंचित् कटुता एवं तीक्ष्णता और उद्‌गारों में अधिक आत्मीयता है। ऐसा प्रतीत होता है मानों उसके प्रेमोन्माद की तीव्रता धीरे-धीरे अनुभूति की गहराई में बदल रही है, "प्यारे तुम्हारा दोष कुछ नहीं है। यह सब मेरे करम का दोष है, नाथ मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ, प्यारे क्षमा करो, मेरे अपराधों की ओर न देखो अपनी ओर देखो (रोती है)।" फलस्वरूप उसकी वेदना भी अब कदाचित् पूर्वापेक्षा कहीं अधिक मर्मस्पृत् बन गई है, यहाँ तक कि अब वह प्राण दे देने तक को तत्पर है। इस प्रसंग में इसी दृष्टि से भारतेन्दु ने चन्द्रावली के स्वगत-कथन में गीत और पाठ्य आदि का बिल्कुल प्रयोग नहीं किया है। यह दशा देखकर माधवी आदि राधाकृष्ण की अन्तरंगिणी सखियाँ राधा को प्रसन्न कर उसे कृष्ण से मिलाने का निश्चय कर लेती हैं। अन्तिम अंक में उसकी दशा आश्चर्यजनक रूप से परिवर्तित दिखायी गई है, अब आत्मविस्मृति और उन्माद का स्थान कर्तव्य-निष्ठा ने ले लिया है और उसमें असाधारण संयम आ गया है। अब तो वह प्रिय-स्मृति को हृदय में छिपाए अनासक्त भाव से घर के काम-काज भी करती दिखायी देती है। अवश्य बीच-बीच में उसका मन इन बन्धनों को छिन्न-भिन्न करने के लिए व्याकुल हो उठता है, इसी अवस्था में कृष्ण एक जोगिन के वेश में आकर उसके प्रेम की परीक्षा लेते हैं, और यह जानकर कि "निस्संदेह इसका प्रेम पक्का है, उसे दर्शन देते और अपनाते हैं।"

ऊपर वर्णित चन्द्रावली का चरित्र एक आदर्श भक्त-चरित्र है, जिसका वर्णन

---

१. 'अहो कदंब अहो अंब-निंब अहो बकुल तमाला।
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नन्दलाला ॥' (चन्द्रावली)

२. 'पूँछत सखी कै एकै उत्तर बतावति जकी सी एक आज श्यामा
भई श्याम है' —चन्द्रावली।

नारद भक्ति सूत्र में—"अस्त्येवमेवम्[१] ।। यथा व्रजगोपिकानाम्[२]" कहकर किया गया है। इस भक्ति का आधार वह प्रेम है, जो विरह से विकसित और पुष्ट होकर भक्त के भाव की तीव्रता को बढ़ाता है। चन्द्रावली की प्रथम विरह-दशा साधक की पहली अवस्था है, जब वह विषय-वासना से रहित होकर अपनी साधना को "अव्यावृतभजनात्"[3] अर्थात् आठों प्रहर अखंड प्रिय स्मृति रूप में उतारते हुए दूसरों से छिपाना चाहता है। उसकी दूसरी विरहावस्था साधक की वह स्थिति है जिसमें वह गुण-रहित कामना-वर्जित प्रतिक्षणवर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर अनुभवरूप, अनिवर्चनीय प्रेम-स्वरूप का प्रकाश पा जाता है[४] और फिर उसको वही दीखता है, वही सुनाई पड़ता है, वही उसकी बातचीत का विषय होता है और उसे उसी की चिन्ता में डूबे रहना पड़ता है[५]। चन्द्रावली की तीसरी विरह-दशा भक्त की वह अवस्था है, जिसमें वह अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पित करके अपने काम, क्रोध, अभिमान आदि का विषय भी उन्हीं को बनाता है[६] और नित्यदास या नित्य कान्ता-भावनावाला प्रेम रखता है[७]। चन्द्रावली की चौथी प्रेमावस्था भक्त की वह सिद्धावस्था है जिसके आ जाने पर लोक-व्यवहार हेय नहीं रह जाता, प्रत्युत फलत्याग तथा उस व्यवहार का साधन ही करणीय रह जाता है—"न तत्सिद्धौ लोक व्यवहारो हेयः किन्तु फलत्यागस्त-त्साधनं च कार्यमेव।" चन्द्रावली के इस पवित्र चरित्र में हम भक्तिसूत्र में वर्णित भक्त की गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, स्मरणासक्ति, आत्मानिवेदनासक्ति, कान्तासक्ति और परम विरहासक्ति का शुद्धतम रूप पाते हैं। चन्द्रावली के चरित्र-चित्रण में भारतेन्दु को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है, परन्तु खेद है कि जार-प्रेम के मानदंड से ही चन्द्रावली के चरित्र का मूल्यांकन करने के कारण श्री प्रेमनारायण शुक्ल जैसे लेखक इस विषय में भद्दी भूल कर बैठे हैं।

'चन्द्रावली' नाटिका इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि उसमें प्राकृतिक तथ्यों के मानवीकरण का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। भक्त-चरित्र की महत्ता और अलौकिकता के स्तर को ऊँचा करने के लिए जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास

---

१. ना० भक्ति० सू० २०।
२. ना० भ० सू० २१।
३. ना० भ० सू० ३६।
४. ना० भ० सू० ५१, ५४।
५. ना० भ० सू० ५५।
६. ना० भ० सू० ६४।
७. ना० भ० सू० वही ६।

जी ने भरत के चित्रकूट-गमन के समय मेघ, पवन, पृथ्वी आदि को उनकी परिचर्या में निरत दिखाया है, उसी प्रकार वनदेवी, वर्षा और संध्या को चन्द्रावली के समाश्वासन में तत्पर दिखाकर भारतेन्दु न केवल उसके चरित्र की लोकोत्तरता को अत्युच्च भूमि प्रदान करते हैं, अपितु उसके व्यक्तित्व से अनुप्राणित समस्त जड़ प्रकृति में भी 'महाचिति' को सजग होता हुआ दिखा देते हैं। उसके अतिरिक्त इन्हीं प्रतीकों के द्वारा विरह की उद्दीपन सामग्री वन के एकान्त, वर्षा संध्या आदि को चेतना से मंडित करके वे रसान्वेषियों को विप्रलम्भ की घनीभूत अनुभूति सुलभ कर देते हैं। नाटकों में प्राकृतिक तथ्यों के मानवीकरण की इसी प्रवृत्ति को हम आगे चलकर पंतजी की ज्योत्स्ना में पूर्ण रूप से विकसित पाते हैं।

यथार्थोन्मुख पात्रों के चित्रण द्वारा भारतेन्दु भारतीय समाज की सांस्कृतिक, नैतिक तथा आर्थिक दुरवस्था दिखाकर ही सन्तुष्ट नहीं रहे हैं अपितु उन्होंने यह भी खोलकर बतला दिया है कि इसके लिए उत्तरदायी कौन है? उनको अपने नाटकों द्वारा जनता को यह बतला देना अभीष्ट था कि अंग्रेजों का शासन एक निश्चित योजना के अनुसार धीरे-धीरे उनका सर्वनाश कर रहा है। स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन के इस युग में यह बात वे खुलकर नहीं कह सकते थे। कारण, इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा से उनका मुँह सदा के लिए बन्द कर दिया जा सकता था। इसीलिए उन्होंने तत्कालीन विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक तथ्यों का मानवीकरण करके "भारत दुर्दशा" नाटक में पात्रों के रूप में उन्हें रंगमंच पर उतारा है। इस नाटक के नायक "भारत दुर्दैव" को दर्शक रंगमंच पर अवतरित होते ही गर्व से यह घोषित करते हुए सुनते हैं :—

कौड़ी कौड़ी को करूँ मैं सबको मुँहताज।
भूखे प्राण निकालूँ इनका तो मैं सच्चा राज॥

यह सुनकर किसी को उसके रूप में अंग्रेजी शासन को पहचान लेने में देर नहीं लगती। उसका आधा क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेष यह बताता है कि इस अत्याचारी शासन की परम्परा मुसलमानों के समय से चली आ रही है। 'भारतदुर्दैव' का चरित्र एक भयानक राक्षस के रूप में चित्रित हुआ है, जो अपनी प्रत्येक गति-विधि से रावण और कंस की स्मृति सजीव करता है और तत्कालीन दर्शकों को उनकी वस्तुस्थिति का ज्ञान कराता चलता है। 'भारत दुर्दैव' से भी भयानक उनका सेनापति है 'सत्यानाश फौजदार' जिसके रूप में दर्शक अंग्रेजी शासन के शोषण और विनाश के तन्त्र का साक्षात्कार करते हैं, इसको

इसी नाटक में अन्यत्र भारतेन्दुजी ने 'इंगलिश पालिसी' कहा है। भारतेन्दुजी जानते थे कि इंगलिश पालिसी लाखों वेष धारण कर देश को चौपट कर रही है—"धर के हम लाखों ही भेष, किया चौपट यह सारा देश"। अतएव उन्हें अपने दर्शकों के सामने उसके विविध स्वरूपों का रहस्योद्घाटन कर देना आवश्यक था। यह उन्होंने 'सत्यानाश फौजदार' के चरित्र की प्रत्येक गति-भंगी को सजीव और सार्थक बनाकर किया है।

कथोपकथन तथा भाषा-शैली

भारतेन्दु के चरित्र-चित्रण की सफलता का श्रेय उनके कथोपकथनों की उपयुक्तता को प्राप्त है। इसी उपयुक्तता को हम क्षेमेन्द्र के शब्दों में औचित्य कह सकते हैं। उनके कथोपकथनों में प्रबन्ध, प्रकरण, वचन, भाषा आदि के औचित्य के साथ-साथ ही छन्दोमय संवादों में वृत्तौचित्य की योजना भी सुन्दर रूप में मिलती है। इसके फलस्वरूप उनके नाटकों में दृश्य और सूच्य कथांशों तथा आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं के पारस्परिक सम्बन्ध में व्यत्यय और असंतुलन उत्पन्न नहीं होने पाता। उनके कथोपकथनों में इतनी व्यंजकता तथा सांकेतिकता है कि पूर्वापर प्रकरण का सम्बन्ध स्वतः बड़ी स्वाभाविक रीति से उद्घाटित होता रहता है। इस काम के लिये उन्हें अनेक पुराने अथवा समकालीन नाटककारों की भाँति न तो अधिक अर्थोपक्षेकों की योजना करनी पड़ती है और न आधुनिक नाटककारों की भाँति रंग-संकेतों की भरमार करने की अपेक्षा रहती है। इसके अतिरिक्त उन कथोपकथनों में न तो प्रस्तुत प्रसंग के किसी अंग का अनावश्यक विस्तार मिलता है और न 'अनंग कीर्तन' (रस की अनुपकारक वस्तु का वर्णन) नामक दोष का उनमें समावेश होने पाता है। अवश्य उनके नाटकों में लम्बे-लम्बे भाषण और स्वगत-कथन भी मिलते हैं, परन्तु उनमें औचित्य का निर्वाह आश्चर्यजनक रीति से किया गया है। भावाभिव्यंजकता तथा आंगिक अभिनय-सापेक्षता, इन लम्बे भाषणों का ऐसा गुण है जो उनको कहीं भी नीरस नहीं होने देता। मेरा तो यह विचार है कि भारतेन्दु के लम्बे स्वगत भाषणों में अपेक्षाकृत अधिक दृश्यता और रस-वैचित्र्य का समावेश है। भारतेन्दु यह जानते थे कि लोग नाटक सुनते नहीं, देखते हैं। इसलिए उन्होंने इन लम्बे भाषणों की प्रत्येक पंक्ति में ऐसी भाव-भंगिमायें भरी हैं जिनकी अभिव्यक्ति आंगिक और सात्विक अभिनय में अत्यन्त निपुण अभिनेता की अपेक्षा रखती है। उदाहरण के लिए 'सत्य हरिश्चन्द्र' का श्मशानवाला हरिश्चन्द्र का लम्बा भाषण, जिसमें भयानक रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्भुत आदि अनेक रसों का एकत्र समावेश है, अनुकूल स्थायीभावज और संचारीभावज दृष्टियों तथा विभिन्न अंगों के कर्मों से

सम्यक् आभिव्यक्त होकर असाधारण रूप से मनोहारी होने के लिए लिखा गया है। इसी प्रकार 'चन्द्रावली' नाटिका में चन्द्रावली के अनेक लम्बे-लम्बे स्वगत-कथन स्थायीभावज-रति-दृष्टि और संचारीभावज शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जान्विता, विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, विश्रान्ता आदि दृष्टियों तथा मुखराग, भ्रूनासा आदि के कर्मों एवं विविध सात्विकों के माध्यम से कितने मर्मस्पर्शी हो सकते हैं, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। भारतेन्दु के नाटकों के अन्य लम्बे भाषणों में विशेष उल्लेखनीय नीलदेवी के पागल का प्रलाप और 'भारत दुर्दशा' के भारत-भाग्य का दीर्घ शोकोच्छ्वास है, जो नितान्त अभिनय-सापेक्ष होने से कहीं भी जी उकतानेवाला नहीं है।

भारतेन्दु के नाटकीय कथोपकथनों की भाषा भी उनके पात्रों की स्थिति, प्रकृति और अनुभूति सब का समानरूप से अनुसरण करती है। भारतीय नाट्य-शास्त्र ने प्रारम्भ में ही पात्रानुकूल भाषा के प्रयोग का नियम बना दिया था, जिसका पालन संस्कृत-नाट्य-परम्परा में बराबर होता रहा। भरत ने प्रत्येक अवस्था में नाट्य के प्रयोग में लोक को ही प्रमाणभूत माना है, इसलिए उनके द्वारा निर्धारित नियमों में प्रगति के ऐसे अपरिमित तत्वों का समावेश है जो चिरकाल तक सब देशों के नाटककारों का अनुशासन कर सकते हैं। अतएव लोकसंग्रही भारतेन्दु ने लोकप्रामाण्यवादी भरत द्वारा प्रवर्तित नाटकीय भाषा-परम्परा को अपने नाटकों में ऐसा व्यापक रूप दिया, जिससे उसका स्थायी महत्व प्रकाश में आ गया। भारतेन्दु ने अपने 'प्रेम जोगिनी' नाटक में विभिन्न पात्रों द्वारा प्रयुक्त अनेक प्रकार की बोलियों की शक्ति से पात्रों के व्यक्तित्व को सजीव कर दिया है, तथा पूरे नाटक की पृष्ठभूमि को कटु यथार्थ के गहरे रंगों से रंग दिया है। 'नीलदेवी' नाटक में हिन्दू और मुसलमान पात्रों की भाषा में समुचित भिन्नता रखकर उन्होंने दोनों के स्वभाव, संस्कृति और प्रकृति के अन्तर को स्पष्ट किया है। 'चन्द्रावली' नाटक की सरस ब्रजभाषा ब्रज के वातावरण का निर्माण करने में सफल हुई है और 'भारत-दुर्दशा' के पात्रों की भाषा की विविधता दुर्दैवग्रस्त देश के व्यापक अनैक्य का उपयुक्त प्रतीक बन गई है। इसी प्रकार उनके नाटकों की भाषा में सर्वत्र रसानुकूलता दृष्टव्य है, जो प्रेम, प्रशंसा, अनादर, क्रोध, क्षुद्रता, महत्ता आदि की अभिव्यक्ति के अवसर पर तदनुकूल रंगरूप ग्रहण कर लेती है।

भारतेन्दु के नाटकों में छन्दों का विधान भी सहज औचित्य से युक्त है। उनके नाटकों में अनेक प्रकार के छन्द भाव के साथ-साथ चलते हैं। हृदय के करुण, कोमल एवं कमनीय भावों की व्यंजना के लिए उन्होंने सवैया छन्द चुना है, जिसकी संख्या 'चन्द्रावली' में सर्वाधिक है। अपने अनूदित नाटकों में उन्होंने

जहाँ वसन्ततिलका या मालिनी जैसे सुकुमार वृत्तों का अनुवाद किया है वहाँ सवैया का भी प्रयोग किया है। मनोवेगों की विशेष उत्तेजित अवस्था की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने प्रायः गीतों का प्रयोग किया है। उनके रससिक्त सवैये यदि एक ओर उन्हें देव और घनानन्द आदि रससिद्ध कवियों की पंक्ति में लाकर बैठा देते हैं, तो दूसरी ओर उनके बहुसंख्यक भक्ति-शृङ्गार-समाश्रित पद उन्हें अष्टछाप के भक्त महाकवियों को श्रेणी में परिगणित होने का अधिकारी घोषित करते हैं। रोला की शक्ति का सुन्दर विकास उनकी प्रकृति वर्णन सम्बन्धी अथवा वीररस की उद्बोधनात्मक कविताओं में देखा जा सकता है तथा छप्पय की सुन्दर योजना माहात्म्य आदि मान्य वस्तुओं के वर्णन-प्रसंग में अथवा शोक-विषाद आदि गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए की गयी है। विवरणात्मक अवसरों के लिए उन्होंने प्रायः दोहा-चौपाई को अधिक उपयुक्त माना है। घनाक्षरी छन्द का उनके हाथों संवादों को सरस एवं चमत्कारी बनाने के लिए विशेष नाटकीय उपयोग हुआ है। विशेषतः घनाक्षरी छन्द के चरणों अथवा चरणार्धों का उन्होंने उक्ति-प्रत्युक्ति के लिए सुन्दर प्रयोग किया है। 'चन्द्रावली' नाटक से एक उदाहरण दिया जाता है—

वर्षा—(हाथ पकड़ कर) कहाँ चली सजिकै ?
चन्द्रावली—पियारे सों मिलन काज,
वर्षा—कहाँ तू खड़ी है ?
चन्द्रावली—प्यारे ही को यह धाम है !
वर्षा—कहा कहै मुख सों ?
चन्द्रावली—पियारे प्रान प्यारे !
वर्षा—कहा काज है ?
चन्द्रावली—पियारे सों मिलन मोहिं काज है।
वर्षा—मैं हूँ कौन बोल तो ?
चन्द्रावली—हमारे प्रानप्यारे हो न....
वर्षा—तू है कौन ?
चन्द्रावली—प्रीतम पियारो मेरो नाम है।
संध्या—(आश्चर्य से) पूँछत सखी के एकै उत्तर बतावति, जकी सी एक
रूप आज श्यामा भई श्याम है।

आगे चलकर हिन्दी में इसी घनाक्षरी छन्द से महाकवि निराला के मुक्त-छन्द और स्वच्छन्द छन्द का विकास हुआ, जिनमें नाटकों के कथोपकथन का माध्यम बनने की अपरमित क्षमता है। भारतेन्दु घनाक्षरी छन्द के उल्लिखित प्रयोग से इस दिशा में पथ-प्रदर्शन करते हुए दिखायी देते हैं।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि यद्यपि भारतेन्दु के नाटकों में कविता का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग है, पर वह चिन्त्य नहीं है। कारण, वह सर्वत्र तत्कालीन दर्शकों की रुचि की अनुकूलता से प्रेरित है और प्रायः कहीं भी नाटकीय आवश्यकता की सीमा का अतिक्रमण नहीं करता। तात्पर्य यह कि उनका काव्य प्रयोग नाट्य विधान के आश्रित रहता है, उससे स्वतंत्र नहीं होता। उनका काव्य ही उनके नाटकों को भाव और अनुभूति के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करता है। 'भारत दुर्दशा' नाटक से यदि कविताएँ विशेष रूप से योगी, भारत और भारत-भाग्य आदि के गायन निकाल दिये जायँ, तो उसमें भद्दी भँड़ैती के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जायेगा और राष्ट्रीयता के अजस्र प्रेरणा स्रोत होने का उसका मुख्य गुण नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार वीर रस एवं करुण रस की प्राणोन्मादिनी तथा हृदयद्राविणी कविताओं के बिना 'नीलदेवी' नाटिका हत्या, विश्वासघात और रक्तपात की एक अति साधारण कथा मात्र रह जायेगी। इसी प्रकार यह समझना कठिन नहीं कि अन्य नाटकों में भी काव्य-प्रयोग उनका प्राण-तत्व बनकर ओतप्रोत है। कुछ लोग भारतेन्दु की कविताओं में सामयिकता के उपादानों की प्रमुखता के कारण अस्थायित्व तो देख पाते हैं, पर वे इसी से मिली-जुली उस स्थायी एवं शाश्वत भाव-समृद्धि तथा रस-सम्पत्ति को नहीं देख पाते, जो उन्हें सार्वकालिक कवियों के पद पर प्रतिष्ठित रखने के लिये पर्याप्त है। वस्तुतः संसार के प्रत्येक बड़े नाटककार में अस्थायी और स्थायी तथा सामयिक और शाश्वत दोनों विभिन्न अनुपातों में घुले-मिले रहते हैं और इसी में उनकी सफलता का रहस्य निहित रहता है। मेरा दृढ़ विश्वास है, सामयिकता भारतेन्दु की शक्ति का आधारभत उपादान है, कमजोरी का कारण नहीं।

रस

समस्त नाटकीय विधिविधान जिस एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयुक्त होता है, वह है रस। भारतेन्दु रससिद्ध कलाकार थे, इसलिये उनका प्रत्येक नाटक दर्शक को गहरी रसानुभूति में निमज्जित करने की क्षमता रखता है। भारतेन्दु ने अनेक प्रकार के रूपकों और उपरूपकों का प्रयोग किया है, जिनका विवरण पहले आ चुका है। इन सब नाट्यरूपों में उन्होंने विभिन्न रसों का समावेश सजगता के साथ किया है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' दोनों का अंगी रस वीर है, इनमें से पहला धर्मवीर (अथवा दानवीर या दोनों) और दूसरा युद्धवीर का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इन दोनों ही नाटकों में यथास्थल अनेक प्रकार के रसों का ऐसा योग है, जो दर्शक की कुतूहल वृत्ति को

निरन्तर जागरित रखता है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में विश्वामित्र रौद्ररस के मूर्त रूप हैं, यद्यपि हरिश्चन्द्र जैसे परम विनीत परमोत्तम प्रवृत्ति के पात्र के प्रति क्रोध रौद्र रसाभाव ही माना जाना चाहिए। इसी नाटक में श्मशानवाले दृश्य में वीभत्स, शान्त, भयानक, हास्य, अद्‌भुत, करुण तथा वीर का पुनः पुनः आविर्भाव-तिरोभाव अत्यन्त आकर्षक नाटकीय वैचित्र्य का सृजन करता है। 'नीलदेवी' में वीर के साथ रौद्र, हास्य और करुण का मनोरम योग है। इन दोनों नाटकों में भारती सात्वती वृत्तियों की प्रधानता है, विशेषतः यथावसर इन वृत्तियों के विविध अंगों का उपयोग भी बड़ी कुशलता से किया गया है। इसके अनेक उदाहरण इन नाटकों से प्रस्तुत किए जा सकते हैं।'चन्द्रावली' नाटिका में चारुविलासयुक्ता कैशिकी वृत्ति और शृंगार रस का पूर्ण उत्कर्ष देखा जा सकता है। इस नाटिका में हास्य के भी गेयपद, स्थित-पाट्य, आसीन-पाट्य, उत्तमोत्तमक, उक्तप्रत्युक्त और त्रिगूढ़ आदि अंगों का रस पुष्टि के लिए मनोरम योग किया गया है। इन अत्यन्त संक्षिप्त निर्देशों से ही इस नाटिका के कलापक्ष के वैभव का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। इस नाटिका में स्मित-हास्य शृंगार का अंग होकर बड़ी सुन्दरता से प्रयुक्त हुआ है। "अन्धेर नगरी", "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" और "भारत दुर्दशा" आदि में हास्य रस अंगी होकर आया है। इनमें "अन्धेर नगरी" शुद्ध और "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" संकीर्ण प्रहसन है। "भारत दुर्दशा" नाटक में भी हास्य रस की ही प्रमुखता है, "भारत-जननी" में करुण प्रधान है।

विविध रसों की निष्पत्ति के लिए भारतेंदु ने उनके विभावों की ऐसी उपयुक्त योजना की है जो साधारणीकरण को (सबके लिए) सुकर बना देती है। इसके उद्‌देश्य की सिद्धि के लिए वे केवल शास्त्रीय परम्परा पर ही निर्भर नहीं हैं, अपितु उन्होंने रूढ़ि को लोक-प्रवृत्ति और लोक-रुचि के प्रकाश में नयी व्यंजकता और सहज प्रसरणशीलता प्रदान की है। पहले लिखा जा चुका है कि वे यह भली-भाँति जानते थे कि उनके समय में जनता की रुचि विगत्काल की अपेक्षा "अनेकांश में विलक्षण है।" अतः वे अपने वीर और शृंगार रसों के आलम्बनों-सत्य हरिश्चन्द्र और चन्द्रावली आदि नायक नायिकाओं—को केवल आभिजात्य आदि नाट्यशास्त्र में परिगणित गुणों से अलंकृत करके ही संतुष्ट नहीं रहे हैं। उतने ही से तो उनके नाटक उस महान् युगधर्म के संदेश—वाहक न बन पाते, जिसका व्याख्यान उनकी पंक्ति-पंक्ति में ध्वनित है। अतएब उन्होंने अपने नाटकों में ऐसी प्रतीकात्मकता का सन्निवेश किया, जिससे वे (पात्र) किसी न किसी तत्कालीन दृढ़ विश्वास, समस्या, प्रवृत्ति अथवा वर्ग के

प्रतिनिधि हो गए हैं। "चन्द्रावली" की प्रतीकात्मकता की चर्चा पहले हो चुकी है। बाहर से सबसे अधिक पौराणिक दिखायी पड़नेवाले "सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक की प्रतीकात्मकता उसकी अपेक्षा अधिक लोक-सामान्य है। "सत्य हरिश्चन्द्र" का वातावरण विभिन्न कारणों से जनता की संस्कृति और चरित्र के उस अधःपतन की व्यवस्था का सूचक है जिसमें सच्चे और ईमानदार आदमी को पद-पद पर संकट ही सहने पड़ते हैं और जो भारतेंदु के काल से अब तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इस दृष्टिकोण से देखने से हरिश्चन्द्र एक परम्परागत पौराणिक महापुरुष अथवा धीरोदात्त नायक मात्र नहीं रह जाते, वरन् उन गिने-चुने व्यक्तियों के प्रतिनिधि बन जाते हैं, जो अकेले अथवा अल्प-संख्यक होते हुए भी सत्य और धर्म का पक्ष लेकर असत्य और अधर्म के विरुद्ध लड़ते हुए भयानक से भयानक विपत्तियाँ सहकर अपने को मिट जाने देते हैं। ऐसे लोगों के जीवनकाल में संसार उनकी ओर सहानुभूति की दृष्टि तक नहीं डालता। मुझे पूरा विश्वास है कि इस नाटक में भगवान् का रंगमंच पर अव-तरण ऐसे ही व्यक्तियों के मन में धर्म की जय का विश्वास जगाए रखने के लिए विशेष रूप से कराया गया है, पिष्टपेषण मात्र के लिए नहीं। स्वयं भारतेंदु इस नाटक की प्रस्तावना में अपने और सत्य हरिश्चन्द्र के चरित्र को आनुपूर्वी बताकर इसी ओर संकेत करते हैं—"हाँ प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा", "कहेंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे, प्यारे हरिश्चन्द्र की कहानी रहि जायेगी।"

भारतेंदु के नाटकों में आधिदैविक शक्तियों का उपयोग भी कुछ न कुछ नयी दृष्टि से अवश्य हुआ है। इसकी ओर ऊपर संकेत भी किया जा चुका है। मैं यह तो नहीं कहता कि भारतेंदु ने जितने आधिदैविक व्यक्तित्व रंगमंच पर उतारे हैं, वे सब औपलाक्षणिक हैं। भारतेंदु को इतनी दूर जाने की अनिवार्य आवश्यकता भी नहीं थी, कारण उस समय के अधिकांश दर्शक आधिदैविक चमत्कारों में निष्ठा रखनेवाले थे। पर उस समय के दर्शक पर ही नहीं, आगे आनेवाले युग के दर्शक पर भी भारतेंदु की दृष्टि थी। इसलिए उन्होंने अपने नाटकों के प्रमुख आधिदैविक व्यक्तित्व औपलाक्षणिकता अथवा मनोवैज्ञानिक सार्थकता से अवश्य मंडित किए हैं। उदाहरण के लिये 'नीलदेवी' के सातवें दृश्य में बंदी और मूर्छित महाराज सूर्यदेव के सामने "अब तजहु वीरवर भारत की सब आशा" की अत्यन्त करुण तान छेड़ने वाला देवता उनके दुःस्वप्न अथवा व्यामोह का मानवीकरण मात्र है। वास्तव में यह देवता उनकी पराज्य जन्य

निराश का प्रतिरूप है, और उसका गायन उनके मन में उठनेवाले प्रश्नों, संदेहों और आशंकाओं की मुखर अभिव्यक्ति। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इस देवता को केवल दर्शक देखते हैं, राजा स्वयं नहीं देख पाता। कारण उसकी मूर्च्छावस्था तक ही वह वहाँ ठहरता है और सूर्यदेव के चैतन्यलाभ करते ही तिरोहित हो जाता है ! भारतेंदु का यह संकेत स्पष्ट नहीं है ?



भारतेन्दु-युग के अन्य नाटककार

भारतेन्दु के सम्बन्ध में पहले जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे यह सिद्ध है कि वे एक निश्चित योजना के अनुसार राष्ट्र के सांस्कृतिक पुनरुत्थान, आर्थिक नवनिर्माण और राजनीतिक स्वातंत्र्य की उद्दाम कामना से अनुप्राणित होकर साहित्य-रचना, विशेषतः नाटक के प्रणयन में प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने हिन्दी और हिन्दुस्थान के जागरण का वह शंख फूँका था, जिसे सुनकर पचासों लेखनियाँ उनके द्वारा अनुष्ठित कार्य के संपादन में लग गई थीं। इन लेखनियों से ही क्रान्ति की वे चिनगारियाँ पहले-पहल प्रकट हुई थीं, जो आगे चलकर हमारे स्वतंत्रता संग्राम की ज्वालाओं में परिणत हुईं और जो आज भी निस्ताप अथवा निस्तेज नहीं हुई हैं। भारतेन्दु काल में उठी हुई शायद ही ऐसी कोई लेखनी हो, जिसने कोई न कोई नाटक न रचा हो। ''ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु-काल में जितने नाटक हिन्दी में प्रस्तुत किए गए उतने ही सीमित समय में फिर कभी न लिखे गए।'' उस समय के पत्र-पत्रिकाओं की छानबीन करने तथा तत्सम्बन्धी विविध उल्लेखों के अनुशीलन से ऐसा अनुमान होता है कि इस समय कम से कम पचास नाटक-लेखक तो अवश्य हुए होंगे और उन लोगों द्वारा कुल मिलाकर दो सौ से ऊपर ही नाटक रचे गए होंगे।

इस प्रचुर नाटक-रचना के मूल में भारतेन्दु की बलवती प्रेरणा थी, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। उस समय के प्रायः सब छोटे-बड़े हिन्दी-लेखक भारतेन्दु के व्यक्तिगत रूप से स्नेहभाजन थे। वे पत्र लिखकर, पत्र-पत्रिकाएँ निकालकर तथा आवश्यकता होने पर आर्थिक सहायता देकर भी लेखकों को प्रोत्साहन देते थे। जो अच्छे नाटक निकलते थे, उनके सम्बन्ध में वक्तव्य निकालकर वे लेखकों को प्रोत्साहन देते थे। इस प्रकार का एक वक्तव्य, जो उन्होंने श्री राधाकृष्णदास लिखित 'महारानी पद्मावती' या 'चित्तौर कमलिनी' नाटक के लिए लिखा था, यहाँ उद्धृत किया जाता है—

''प्रियवर बाबू राधाकृष्णदास का बनाया 'पद्मावती' नाटक हमने देखा। इससे चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। इसकी रचना-प्रणाली तेजस्विनी और आर्य-धमनी में रुधिर की उत्तेजक है। इस ग्रन्थ से भारतवर्ष की कीर्ति प्रकाशित होगी। हिन्दी भाषा के भंडार का यह भी एक अमूल्य रत्न होगा। उच्चतर

सिसौदिया बिमल वंश की यह भी एक लघु यश-पताका है। ऐसे ही ग्रन्थों का प्रचार अब भारतवर्ष में अपेक्षित है। कदरपिया की ठुमरी सुनते-सुनते आर्यों में क्लीवपना अब चरम सीमा को पहुँच गया है। अब आर्यों को इस बात की याद दिलानी चाहिए कि उनके पूर्व पुरुष कैसे उदार, कैसे वीर, कैसे धीर दृढ़ अध्यवसायी थे और उनकी वीरपत्नी पातिव्रत धर्म और कुल मर्यादा की रक्षा के हेतु अपने अमूल्य जीवन को कैसा तृण सा त्याग देती थीं।''

श्री निवासदास के 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक के लिए सूत्रधार और नटी आदि का संवाद भारतेन्दु ने स्वयं लिखा था। उनके पत्र 'कवि वचन सुधा' ने उसकी प्रशंसा में लिखा था कि ''एक लोटा ही पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीदो।''

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु स्वयं नाटकों के अभिनय में भाग लेकर और नाट्याभिनय आदि के विशिष्ट आयोजनों में उपस्थित रहकर भी इस कार्य की वृद्धि में योग देते रहते थे। इस तरह का एक उल्लेखनीय समाचार 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' के खंड ११, संख्या ३ में दिसम्बर १८८४ ई० में छपा—

''इस साल बलिया में ददरी का मेला बड़ी धूमधाम से हुआ। ...... मेले के थोड़े दिन पूर्व ही से एक नाट्य-समाज नियत हुआ था, जिसने मेले में कई उत्तम नाटकों का अभिनय किया। श्री भारतेन्दु जी नाट्य-समाज के प्रबन्धकर्ताओं के आग्रह और अनुराग से यहाँ विराजमान थे। उक्त बाबू साहब कृत प्रसिद्ध नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' बड़ी सुघराई से खेले गए। सम्पूर्ण दर्शक मंडली मोहित हो गई और उन नाटकों के कवि बाबू हरिश्चन्द्र जी की, जो संयोग से नाट्यशाला में उस समय विराजमान थे, बार-बार सराहना करने लगी। बाबू साहब का नाम सुनकर इस जिले के मैजिस्ट्रेट आदिक अनेक साहिबान और मेम लोग भी थियेटर में उपस्थित थे 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'नीलदेवी' का अभिनय देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। वरंच राबर्ट्स साहब मैजिस्ट्रेट ने कहा कि इनके नाटक कविशिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम हैं।''

यह सूचना उक्त पत्र में 'बलिया में बाबू हरिश्चन्द्र का शुभागमन और व्याख्यान' शीर्षक से छपी है। इसके अतिरिक्त ८ मई सन् १८६८ के 'डेलीमेल' में इस आशय का भी समाचार प्रकाशित मिलता है कि ''पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी मंगल' नाटक का जो धूमधाम से अभिनय हुआ था उसमें भारतेन्दु जी ने पार्ट किया था।''

अपने साहित्यिक व्यक्तित्व की इस बहुमुखी प्रेरणा के परिणामस्वरूप वे एक ऐसे केन्द्र बन गए थे जहाँ से नवनिर्माण के उत्साह की लहरें निरन्तर चारों ओर

फैल रही थीं। धड़ाधड़ नाटक लिखे जाते और अभिनीत होते थे। जिस समय नाट्यकला की उपेक्षा इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि यहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते हों, उस समय बहुत से सहृदयों को नाटक-प्रणयन की यह वेगवती लहर धरती पर स्वयं नाट्यकला के आविर्भाव की प्रतीति कराती हुई प्रतीत हुई। किशोरीलाल गोस्वामी ने 'नाट्य संभव' नामक रूपक लिखकर संभवतः यही बात लक्षित कराई है। उनके इस नाटक में नाट्यकला के आविर्भाव की बड़ी मनोरंजक कथा लिखी गयी है—

"एक बार शची असुरों के बन्धन में पड़ जाती है। उनके वियोग में इन्द्र अत्यन्त विकल रहते हैं। यद्यपि वे असुरों से शची के उद्धार की प्रतिज्ञा करते हैं, परन्तु उनका वियोग-जन्य ताप किसी प्रकार शान्त नहीं होता। इसी अवस्था में उनकी भेंट भरतमुनि से होती है। भरत इन्द्र को समझाते हैं और उनके मानसिक कष्ट के निवारण के लिए कुछ न कुछ करने की प्रतिज्ञा करते हैं। तत्पश्चात् एक दिन इंद्र नन्दनवन में अपने शिष्यों को संगीत की महिमा बताते हुए भरत का गायन सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। वे प्रतिहारी द्वारा भरत को उनकी प्रतिज्ञा का स्मरण कराते हैं तथा उनसे शीघ्र से शीघ्र अपने मानसिक ताप को शान्त करने के लिए उपयुक्त उपचार की व्यवस्था करने का अनुरोध करते हैं। भरत अब सरस्वती की आराधना करते हैं उनकी प्रार्थना से प्रीत होकर सरस्वती आविर्भूत होती हैं और उन्हें नाट्य-विद्या प्रदान करती हैं। सरस्वती सूत्र-रूप में उन्हें नाट्य-विद्या का स्वरूप तथा महत्व समझाकर रूपक और उपरूपक के विविध भेदों का कथन करती हैं और भरत को नाटक खेलने की आज्ञा देती हैं। सरस्वती के चले जाने के बाद भरत दमनक द्वारा इन्द्र के पास सन्देश भेजते हैं कि नाट्याभिनय द्वारा उनके कष्ट को दूर करने की योजना बन गई है, वे चिन्ता न करें। विरह-संतप्त इन्द्र दमनक द्वारा यह संदेश पाकर कुछ आश्वस्त होते हैं। तत्पश्चात् भरत की योजना के अनुसार बृहस्पति इन्द्र को सुधर्मा सभा में नाटक देखने के लिए आमंत्रित करते हैं। नाटक के व्याज से एकत्र देवमंडली असुर-संहार की प्रतिज्ञा करती है। फिर नाटक होता है जिसमें असुरों द्वारा शची के बन्धन और इन्द्र का विरह दिखाया जाता है, जिसे इन्द्र बार-बार सच समझता है। अन्त में नाटक में नारद द्वारा शची का उद्धार दिखाया जाता है। नाटक के अन्त में शची और इन्द्र का पुनर्मिलन होता है। अन्त में सब लोग मिलकर नाटक के महत्व का गान करते हैं—

अहा अपूरब नाटक सुख की रासी,
सब सुखदायक, परिचायक, मोह-बिनासी।

जैसी सुख-सरिता बहैं नाटक माँहिं सुजान।
वैसी सुखद न वस्तु है तीनि लोक में आन।"

यह ध्यान देने की बात है कि लेखक अपनी इस कृति को रूपक कहता है, नाटक या और कुछ नहीं। यह रूपक शब्द इसकी साहित्यिक विधा का सूचक होने के साथ-साथ, इस नाटक की प्रतीकात्मकता की ओर संकेत करता हुआ उसके मर्म को प्रकाशित करता है। इसमें सरस्वती को 'नाटकरूपिनि देवि, करों नित सुखद प्रभाता' कह कर सम्बोधन किया गया है—जो लेखक के आशय को स्पष्ट करने में सहायक होता है। वस्तुतः इस नाटक का इन्द्र स्वतन्त्रतारूपी शची से वियुक्त भारत है, जिसका कष्ट दूर करने के लिए देश की प्राणस्वरूपा भरतरूपिणी साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रतिभा भारती की प्रेरणा से नाटक के प्रणयन और अभिनय का अवलम्ब लेती है। नाटक के आविर्भाव से उसको देखने के बहाने समस्त विच्छिन्न देव-शक्तियाँ संगठित होने का एक आधार प्राप्त करती हैं। एकत्र होने पर उनके मन में असुर-नाश का संकल्प जगता है और नाटक के अभिनय में वे नारद के रूप में राष्ट्र की प्रबुद्ध राजनीतिक चेतना को स्वतन्त्रता रूपी शची के उद्धार का मार्ग-निर्देश करते हुये पाते हैं। सम्भवतः किशोरीलाल ने भारतेन्दु द्वारा प्रचारित नाट्य प्रवर्तन से देश का जागरण होता हुआ देखकर ही यह रूपक लिखा था।

जिस व्यक्ति की प्रेरणा से इतना विराट् आन्दोलन उठ खड़ा हुआ हो उसका व्यापक और गंभीर प्रभाव उसके समय के साहित्य पर पड़ना स्वाभाविक था। इस प्रभाव के ऋण को तत्कालीन साहित्यकारों ने अनेक रूपों में स्वीकार किया। उन लोगों ने सम्मिलित रूप से भारतेन्दु के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशन के लिए संवत् अथवा ईस्वी सन् का प्रयोग छोड़कर 'हरिश्चन्द्राब्द' का प्रचलन किया। श्री राधाचरण गोस्वामी ने तो भारतेन्दु के सम्बन्ध में यहाँ तक लिखा है, "उनके लिखे ग्रन्थ हमको वेद-वाक्यवत् प्रमाण और मान्य थे, उनको मानों ईश्वर का एकादश अवतार मानते थे। हमारे सब कामों में वह आदर्श थे, उनकी एक-एक बात हमारे लिये उदाहरण थी।"

इन लेखकों ने भारतेन्दु द्वारा किए गए काम को तन-मन से पूरा करने का प्रयत्न किया। फलस्वरूप इस काल के साहित्य, विशेषतः नाटकों में भारतेन्दु के साहित्यिक व्यक्तित्व का चतुर्दिक विस्तार उपलब्ध होता है। भारतेन्दु का साहित्यिक व्यक्तित्व अतीत की सांस्कृतिक और नैतिक महिमा के बोध और वर्तमान की कटुतम वास्तविकताओं का अनुशीलन करने से निर्मित हुआ था, जिसमें आदर्श की निष्ठा और यथार्थ के सतर्क आग्रह, दोनों का योग था और जिसके समुद्र के समान गंभीर किन्तु उद्वेलित अन्तःस्थल में अनेक भावधारायें एक

साथ आकर मिल गई थीं। भारतेन्दु के साहित्यिक व्यक्तित्व में समन्वय प्राप्त करनेवाली इन विविध भावनाओं को भारतेन्दुकालीन नाटक-साहित्य में प्रतिफलित देखा जा सकता है।

कुछ विद्वानों ने भारतेन्दु काल के नाटकों का वर्गीकरण पौराणिक धारा, प्रहसन धारा, राष्ट्रीय धारा, समस्याप्रधान धारा, ऐतिहासिक धारा आदि के रूप में किया है। यह वर्गीकरण कथावस्तु के आधार पर किया गया है। नाटकों में कथावस्तु के महत्व को स्वीकार करते हुए भी हमें यह कहना पड़ता है कि यह वर्गीकरण इतना बहिर्मुखी है कि इससे तत्कालीन नाटकों की आन्तरिक प्रवृत्तियाँ प्रकाश में आने के स्थान पर और अधिक अंधकार में चली जाती हैं। वस्तुतः इस समय का नाटककार कोरे मनोरंजन के लिये कलम नहीं घिस रहा है, उसका मन तो अपने नाटकों में विविध सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान में व्यापृत है। इसलिए कथावस्तु उसके लिए उसकी बहुमुखी चेतना और प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति का निमित्त मात्र है। तात्पर्य यह है कि इन नाटकों की कथावस्तु के विन्यास और मंडन आदि में ऐसी आधुनिकता है, जिसके स्पष्टीकरण के लिये हमें इनकी अन्तर्वर्ती प्रवृत्तियों और नियामक दृष्टियों का अन्वेषण करना पड़ेगा।

ये प्रवृत्तियाँ अपने मूल रूप में वे ही हैं, जिनको हमने भारतेन्दु के नाटकों में देखा है। भारतेन्दु के विविध नाटकों में उनकी सांस्कृतिक, नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रेम-सौन्दर्य-मूलक चेतना तथा हास-संज्ञा अलग-अलग अभिव्यक्त हुई है। उनकी चेतना के इन विभिन्न पक्षों का विकसित रूप हमें उनके युग के नाटकों में उपलब्ध होता है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भारतेन्दु की चेतना बहुमुखी प्रेरणा स्रोत से प्रादुर्भूत होने वाली विभिन्न नाट्य-धारायें दो प्रमुख प्रवृत्तियों अथवा दृष्टिकोणों के उपकूलों के बीच प्लावित रहीं। इन दोनों उपकूलों का निर्माण भी भारतेन्दु के ही द्वारा हुआ था, यह ध्यान देने की बात है। भारतेन्दु का दर्शन आदर्शवादी था। उनकी शैली कल्पनोन्मुखी होते हुए भी भारत के लोक-प्रामाण्यवाद के सिद्धांत का दृढ़ता से पालन करने वाली थी और उनकी कथावस्तु का स्वरूप मूलतः एवं प्रधानतया यथार्थोन्मुख था। महत्व और लघुत्व दोनों का साहित्यिक मूल्य उन्हें सम्यक् ज्ञात था। इसीलिए स्वर्ग की आनन्दपूर्ण कल्पना उन्हें दुख-दुग्ध जगत से दूर न खींच सकी, अपितु उसके प्रति उनके अधिकाधिक ममत्व का कारण बनी। इन्हीं मानसिक उपादानों के पुण्य योग से उन दो प्रवृत्तियों और शैलियों का उदय हुआ, जिन्हें हम आज यथार्थोन्मुख आदर्शवाद और आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते हैं। भारतेन्दु के युग में तो ये दोनों एक ही रागबोध अथवा रागात्मक

अनुभूति के रुचिवैचित्र्यानुसारी दो पक्ष बने रहे परन्तु आगे चलकर दोनों का पार्थक्य बढ़ता रहा। अन्ततः, यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का चरम उत्कर्ष प्रसाद के नाटक-साहित्य में उत्पन्न हुआ और आदर्शोन्मुख यथार्थ का पूर्ण विकास प्रेमचन्द के उपन्यासों में।

भारतेन्दु-युग के लेखक तत्कालीन जनता की वस्तुस्थिति से घनिष्ठ परिचय रखते थे। इसलिए उनकी कला का मूल उद्गम जन-जीवन था, पुराण और इतिहास नहीं। परन्तु ये लेखक यह भी जानते थे कि अन्ततः पुराण, इतिहास में भी किसी समय यहाँ की जनता के ही जीवन और आदर्श की यथार्थ गाथा निबद्ध हुई थी, इसलिए इनके प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा और भक्ति थी। वे यह भी समझते थे कि पुराण और इतिहास की सहायता से वे अपनी बात अधिक प्रभविष्णुता से कह सकेंगे। कुछ ऐसे नाटककार भी हुये हैं जिन्होंने पौराणिक आख्यानों को नयी अर्थवत्ता प्रदान करने का भी प्रयत्न किया है। फलतः उनकी रचनाओं में हम आदर्श और यथार्थ को एक दूसरे के पूरक के रूप में पाते हैं। स्वयं भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' जैसे विशुद्ध आदर्शवादी नाटक में सामाजिक वैषम्यजन्य वेदना की छाया वर्तमान है और 'प्रेमजोगिनी' जैसी घोर यथार्थवादी रचना में रामचंद्र की आदर्श निष्ठा की पुण्य ज्योति जग रही है। यही बात हम भारतेंदु के समकालीन अन्य नाटककारों में भी पाते हैं। अवश्य किसी में आदर्श-परायणता अधिक है और किसी में यथार्थ की मात्रा अधिक।

सांस्कृतिक-नैतिक

भारतेंदु ने अपनी सांस्कृतिक-नैतिक चेतना को 'सत्य हरिश्चंद्र' और 'नीलदेवी' जैसे पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में अभिव्यक्त किया था। भारतेंदु-युग के अन्य लेखकों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया। जिस समय जन-जीवन सब ओर से विपन्न हो, उस समय संवेदनशील कवि-कलाकार का हृदय अपने विभूतिमान अतीत के उत्कर्षपूर्ण चित्र खींचने का उपक्रम करें, तो यह स्वाभाविक ही है। कारण, प्रस्तुत एवं मुमूर्ष जन-जीवन में चेतना-संचार का यह एक अमोघ साधन है। अपने चारों ओर को सांस्कृतिक और नैतिक प्रतिक्रिया की अभिव्यंजना के लिये पौराणिक नाटकों का उपयोग सर्वथा उपयोगी और स्वाभाविक है।

यदि हम इस काल में लिखे गए पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों पर दृष्टि करें तो ऊपर कही हुई बात की पुष्टि हो जाती है। इस काल के लेखकों ने नाटकीकरण के लिए जिन पौराणिक उपाख्यानों को चुना है, उनमें प्रह्लाद, मोरध्वज, कर्ण, ध्रुव, हरिश्चंद्र, अर्जुन, विषया-चन्द्रहास, सावित्री, दमयन्ती, शिव-पार्वती और कृष्ण-सत्यभामा आदि के चरित्र हैं। शिव-पार्वती, कृष्ण, प्रह्लाद,

मोरध्वज, ध्रुव, कर्ण, अर्जुन, हरिश्चन्द्र, सावित्री आदि के चरित्रों की सहज विशेषता ही यह है कि वे घोर तपस्या और बड़े से बड़े कष्ट की कसौटी पर कसे जाकर उन सांस्कृतिक और नैतिक परम्पराओं एवं इष्टत्व का निर्माण करते हैं, जो हमारे लिए चिर-वरणीय और स्मरणीय है। अतएव भारतेंदु-युग का नाटककार इन उपाख्यानों का चुनाव अपने उद्देश्य विशेष की पूर्ति को दृष्टि में रखकर करता है। इसके अतिरिक्त इनके अन्तर्गत पात्रों के शीलनिरूपण और वस्तु-विन्यास की विविध परिस्थितियों की योजना में वह अलौकिकता को छोड़कर अधिकाधिक मानवीय दृष्टिकोण का समावेश करता है। इस कार्य में प्रायः वह पौराणिक औदात्य का बलिदान कर देता है और अनेक ऐसी बातें भी कहता है जो ऐतिहासिक असंगति के दोष से दूषित और कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी हैं। परन्तु इन बातों की उसे चिन्ता नहीं, उसे चिन्ता तो केवल अपने उद्देश्य की है, जिसे वह अपने दर्शकों की सांस्कृतिक और नैतिक चेतना को प्रबुद्ध करके और उसमें समाज के तत्कालीन सांस्कृतिक और नैतिक अधःपतन के प्रति असंतोष उत्पन्न करके सिद्ध करना चाहता है। प्रत्येक नाटककार अपने इस प्रकार के उद्देश्य को किसी रूप में स्पष्ट कर देता है।

उदाहरणस्वरूप लाला खड्गबहादुर मल्ल अपनी पौराणिक 'हरितालिका' नाटिका में लिखते हैं कि "यह नाटक विद्योत्साहिनी कुलबधुओं की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर लिखा गया है, जिनके लिए पातिव्रत धर्म और गृहकार्यादि कथा संयुक्त मनोहर रूपक अधिक हृदयग्राही और उपयुक्त होंगे।" इस नाटक में जहाँ एक ओर पातिव्रत धर्म की शिक्षा देने का आयोजन है, तो दूसरी ओर कुमारियों को पूर्वजों के आदर्श के रूप में सती के आदर्श में इच्छा के विपरीत बेमेल विवाह के विरुद्ध खड़े हो सकने की शक्ति और साहस बटोरने का भी आवाहन है। बड़ी से बड़ी पौराणिक कथा के निरूपण में भी ये लेखक अपने देश की दरिद्रता और दुरवस्था को नहीं भूल पाते। खड्गबहादुर मल्ल को अपने 'पारिजात' नाटक में कृष्ण और सत्यभामा के दाम्पत्य जीवन की कथा का विमर्श करते हुए भी देश के कुशासन और शोषण से उत्पन्न निर्धनता का दंश नहीं भूलता। प्रस्तावना में सूत्रधार के मुख से लेखक बोलता है—"पर हा, आज हमारा यह भारतखंडरूपी अरण्य निर्धनतारूपी वासन्तिक पवन के वेग से अपत्र न हो गया होता, तो इस छोटी फुलवारी की जाने कैसी मनोहर शोभा होती। हम लोगों के टिकट-टैक्सरूपी कुठार के भय से कितने सुतरु वाटिका में अपनी लहलहाती हुई हरियाली नहीं दिखा सकते। खड्गबहादुर मल्ल स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सौष्ठव और सुघरता के प्रेमी नाटककार होते हुए भी अपने पौराणिक नाटकों में सामाजिक जीवन के यथार्थ को चित्रित करने में नहीं चूकते। उनकी

सर्जनात्मक प्रतिभा सामाजिक यथार्थ का चित्रण करने के लिए 'भारत-आरत' नाटक में विशेष रूप से उन्मुख है। 'भारत-आरत' नाटक का नायक एक छात्र है जो तत्कालीन अंगरेजी शासन की तीव्र आलोचना करता है। वह छात्र स्पष्ट रूप से यह घोषणा करता है कि देश की दुर्दशा का कारण अंग्रेजी साम्राज्य है। इसके लिए उसे राजद्रोह के अपराध में बन्दी बना लिया जाता है और उसपर इसके लिए मुकदमा भी चलता है। यह नाटक मल्ल जी की बड़ी शक्तिशाली और सफल रचना है। यह नाटक उस समय लिखा गया था जब भारत के विद्यार्थियों में अंग्रेजी शासन के विरोध में विद्रोह करने की कल्पना भी शायद किसी के मन में न जगी हो। खड्गबहादुर मल्ल ने इस नाटक के रूप में अपने युग से बहुत आगे की बात कही है। वे पराधीनता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए छात्र-आन्दोलन की भूमिका का आभास देते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने इस नाटक में स्वयं क्षत्रिय होते हुए भी क्षत्रियों की अकर्मण्यता और कायरता पर व्यंग्य किया है—'किसी काल में तो अवश्य क्षत्रिय सिंह-राशि थे, पर जब से हिन्दुस्तान का वन कट गया है और इधर हथियार भी छिन गए हैं, न कोई सिंह है और न सिंह राशि का ही नाम रह गया है'।[1] मल्ल जी के नाटक छोटे हैं, वे आगे आने वाले युग के एकांकी नाटकों के शिल्प का आभास देते हैं। यदि मल्ल जी को एकांकी नाटकों का प्रथम प्रवर्तक कहा जाय तो इसमें अत्युक्ति नहीं है। इसी प्रकार 'प्रह्लाद नाटक' में जहाँ एक ओर प्रह्लाद के चरित्र में सत्याग्रही की दृढ़ता आदि उच्च सांस्कृतिक और नैतिक गुणों का निदर्शन है, वहाँ हिरण्यकशिपु की शासन नीति की पर्यालोचना द्वारा ब्रिटिश सरकार की देशी राजाओं और तालुकदारों से सम्बन्ध रखने वाली कूटनीति का रहस्योद्घाटन किया गया है। इस विषय की हिरण्यकशिपु और उसके अमात्य की वार्ता बड़ी मनोरंजक है।

हिरण्यकशिपु—अहा हा, जिनसे मैं बड़ा प्रसन्न होता हूँ, उनको सामान्य भूम्याधिकार और कई एक दीर्घशब्द युक्त उपाधि, अलंकार जिनके नामान्तर टाइटिल खेलत खेताब और चपरास हैं, उन्हें दे देकर प्रतिबाधित करता हूँ।

अमात्य —दैत्यराज ने यह बड़ा कौशल्य किया है कि इसमें राजभण्डार का कुछ भी अर्थ व्यय नहीं होता परन्तु सर्वसाधारणों के देखने में गुणग्राहकता और आदर सम्मान ही दृष्टि पड़ता है। वाह वाह क्यों न हो "हाथ पैर बचाना और मूजी को टरकाना।"

---

१. दृष्टव्य 'भारत आरत', खड्गबहादुर मल्ल, पृ० सं० ६।

हिरण्यकशिपु—विद्रोहियों को दबाने में जो कुछ युद्ध में राजकोष का अर्थ व्यय हुआ, उसका त्रिगुण धन मर्त्यलोक की प्रजा से दोहन कर लिया और उसी समय से सब स्थानों से मर्त्यलोक की प्रजा को 'निरस्त्र' करने का विधान प्रचलित करने में कैसी बुद्धिमानी का काम किया। देखो, और किसी की यह सामर्थ्य नहीं है कि 'राज्यादेशपत्र' बिना एक खंग भी वा तरवार अपनी रक्षा के निमित्त रखे। यद्यपि किसी किसी मनुष्य को अस्त्र रखने का अधिकार दिया भी जाता है परन्तु उससे भी राजभंडार में अर्थलाभ होता ही है।

इस प्रकार के अनेक उद्धरण उनके नाटकों से दिये जा सकते हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखकगण जनता को यह बता देना चाहते थे कि पुराणों के असुर फिर विदेशी शासकों के रूप में धरती पर आए हैं और उन्हीं के कारण इस देश की देव-संस्कृति विपन्न है। इस संस्कृति के उदात्त नैतिक आदर्शों की रक्षा के लिए प्रह्लाद और ध्रुव आदि के समान सत्य का आग्रही होना ही एकमात्र उपाय है। इन नाटकों के देखने से यह भी प्रतीत होता है कि गाँधी जी के अवतरण के बहुत पहले से ही इन लेखकों के मन में देश की दुरवस्था के परिहार के लिए किसी न किसी प्रकार के सत्याग्रह की कल्पना प्रबुद्ध हो रही थी।

ठीक पौराणिक नाटकों के ही समान आचरण की संस्कृति के निर्माण की प्रेरणा भरने के उद्देश्य से ऐतिहासिक नाटकों का प्रणयन हुआ। इन ऐतिहासिक नाटकों में राधाकृष्ण दास कृत 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप', काशीनाथ खत्री कृत 'तीन परम मनोहर इतिहासिक रूपक', राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमर सिंह राठौर', सैयद शेरअली कृत 'कत्ल हकीकत राय', गंगाप्रसाद गुप्त कृत 'वीर जयमल', श्री निवासदास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' और बैकुण्ठराम दुग्गल कृत 'श्री हर्ष' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। ये लेखकगण इन नाटकों में भी राष्ट्र के उदात्त नैतिक आदर्शों का गायन करते हैं। राधाकृष्ण दास कृत 'महारानी पद्मावती' नाटक में एक माता और उसके पुत्रों के कथोपकथन में हिन्दुओं के राष्ट्रीय-चरित्र की मनोहर झाँकी दिखाई गई है—

बालक—माँ आज क्यों इतनी धूमधाम मच रही है? क्यों लोग अपने ढाल, तलवार आदि शस्त्रों को सँभाल रहे हैं? क्यों लोग एक साथ हर्षित और दुखित हो रहे हैं?

स्त्री— बेटा—मुसलमानों ने महाराणा को छल से पकड़ लिया है, इसी से लोग दुखित होते हैं, और तुरन्त ही अपने देश के लिए लड़ाई

करनी होगी और उसमें प्राण देने होंगे, इससे लोग प्रसन्न हैं और सज्जित हो रहे हैं।

बालक— क्यों माँ छल किसे कहते हैं ? छल कोई भारी शस्त्र है ? अथवा कोई बड़ा पहलवान है ? हम लोगों ने तो आज तक इसका नाम ही नहीं सुना है।

स्त्री— बेटा, तुम लोगों ने इसका नाम कभी न सुना होगा, राजपूत बालक क्या कभी छल का नाम सुने होंगे। इसकी शिक्षा तो मुसलमानों में ही होती है, धोखा देने को छल कहते हैं।

राष्ट्रीय-चारित्र्य के इन सांस्कृतिक और नैतिक आदर्शों का गुणगान इसी प्रकार अन्य ऐतिहासिक नाटकों में भी मिलता है। देश के तत्कालीन अधःपतन के कारण ये आदर्श स्वप्न होते जा रहे थे, इसलिए नाटककारों को इनका अनुचिन्तन आवश्यक हो गया था। राधाचरण गोस्वामी कृत 'अमर सिंह राठौर' नाटक में वैतालिकगण इसी बात को इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

दिनरात अकाल दुकाल घिरे। विकराल क्षुधा नित मार करें।
धन धर्म पतिव्रत वीर कला। छिन ही छिन में चली भागत रे।

एक ओर राष्ट्र के गौरव का रोमांचकारी बोध और दूसरी ओर देश की नित मार करने वाली विकराल क्षुधा की शत-शत वृश्चिकदाशाधिक अनुभूति। इससे इन नाटकों में उस आदर्शवाद का जन्म हुआ, जिसने यथार्थ की भूमि कभी नहीं छोड़ी। यही कारण है कि इन नाटकों में परम्परागत साहित्यिक न्याय के उस नियम की खुली अवज्ञा की गयी है, जिसके अनुसार राम के समान आचरण करने वालों की जय और रावण के समान आचरण करने वालों की पराजय दिखलायी जाती है। 'नीलदेवी', 'अमर सिंह राठौर', 'सिंधु की राजकुमारी' आदि नाटकों में काल के कुटिल चक्र में पड़े हुए राम के समान आचरण करने वाले ही पराजय के भागी होते दिखाए गए हैं, जहाँ से इस युग की दुःखान्त की का अभ्युदय होता है।

इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि इन नाटकों में सांस्कृतिक और नैतिक चेतना का विविक्त स्वरूप हमें नहीं प्राप्त होता, दोनों का मिला-जुला रूप ही हमें प्राप्त होता है, जो अनेक सामयिक प्रश्नों की प्रतिक्रिया के साथ-साथ अभिव्यक्त होता है।

सांस्कृतिक चेतना के साथ जुड़ा हुआ सबसे महत्वपूर्ण सामयिक प्रश्न भाषा का था। भारतेन्दु जानते थे कि किसी राष्ट्र की भाषा उसकी संस्कृति का प्रतीक होती है, और इस दृष्टि से उन्होंने हिन्दी का महत्व ठीक-ठीक समझा। हिन्दी के

सम्बन्ध में उनके पक्ष की प्रमुख विशेषता यह है कि उन्होंने इसके प्रश्न को राजनीतिक और साम्प्रदायिक समस्याओं से कभी नहीं उलझाया, और न इस विषय में किसी प्रकार का समझौता करने को राजी हुए। कारण, वह जानते थे कि हिन्दी, हिन्दू और मुसलमान सबकी भाषा है, और अंग्रेजों द्वारा समर्थित उर्दू से समझौता कर लेने का अर्थ दुहरी परतन्त्रता को स्वीकार करके उसे चिरस्थायी बना देना है। भारतेन्दु के समान ही उनके समय के अन्य लेखकों की दृष्टि भी इस प्रश्न पर सुस्पष्ट रही, और उन्होंने मनोरंजक प्रहसनों तथा नाटकों में इस प्रश्न के विभिन्न पहलुओं को प्रदर्शित किया। ऐसी नाटकीय कृतियों में शरतकुमार मुखोपाध्याय का 'भारतोद्धार' विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक में हिन्दी को भारतीयता तथा राष्ट्रीयता का पुण्य-प्रतीक मानकर लेखक ने प्रतीक शैली में उसके उन्मूलन के विविध प्रयत्नों तथा उसके साथ जुड़ी हुई अनेक समस्याओं का उल्लेख किया है—

यह नाटक चार अंकों में विभाजित है, जिनमें से प्रत्येक में अनेक गर्भांक हैं। बंगाली लेखक का लिखा हुआ होने के कारण इसकी भाषा में बंगालीपन बहुत है। प्रस्तावना है हम नटी को नाटक की मूल समस्याओं को इस प्रकार उपस्थित करते हुए सुनते हैं—'क्या आपको स्मरण नहीं कि आजकल अन्यायी हाकिमों ने हिन्दी का कैसा मानमर्दन कर भारतमाता का अपमान किया है और कर रहे हैं ?'

नाटक के प्रथम दृश्य में बन्दिनी भारतमाता हमें एक अँधेरी कोठरी में पड़ी दिखायी देती हैं, उनके आस-पास अनेक आर्यजन मूच्छित पड़े हैं। भारतमाता करुण क्रंदन करती हुई उनसे कहती हैं—

सुन आर्य सुन बाछा विनय है मोरी,
आय गया दिन खोल रे तरबार तोरी।
यह फारसी अति दूरदर्शी मारत है मोय,
उठ पुत्र कर मुझको उद्धार अखंडकीर्ति तवहोय।

यह क्रन्दन सुनकर जब एक आर्य जागता है, तो भारतमाता उसे बताती है कि उन्हें उनके पोष्य-पुत्र सता रहे हैं, उनको विपथगामी करनेवाली यह फारसी मेरी शत्रु है। विदेशी भाषा और विदेशी संस्कृति के मोह में भारत के ही पोष्य-पुत्र मुसलमान उसे सता रहे हैं, यह बात यहाँ स्पष्ट रूप से इस तरह कही गयी है कि उसमें साम्प्रदायिकता की गन्ध भी नहीं आने पाती।

'फारसी' के कथन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। 'मेरा दुश्मन खुदा जानता है, और कोई नहीं, सिवाय हिन्दी के। पर यह बात जरा ख्याल

करने की है कि जो हिन्दी बदजात भारत की सरन की मदद न पाती, तो उसकी यह ताव न थी कि मेरे साथ फिसाद व झगड़ा करने को मुस्तैद हो जाती।' विदेशी शासन जिस संस्कृति को देश पर लादकर अपनी जड़ें मजबूत करना चाहता है, 'फार्सी' उसी का प्रतीक है। इसलिए हिन्दी ही उसकी एकमात्र शत्रु है, जिसके रूप में भारत अपनी संस्कृति को सुरक्षित बनाए है।

जब आर्य वीरों के सम्मिलित आक्रमण से पराजित होकर 'फार्सी' वन्दिनी होती है, तो हिन्दी से द्वेष करने के लिये पश्चाताप करती है, और उससे प्रेम करने को कृत-संकल्प होती है। पर भारत को गारत करके पुलाव खाने की इच्छा रखने वाले मुसलमान फारसी को ऐसा करने से रोकते हैं। कायदे-आजम के इन पूर्वजों का सजीव चित्रण लेखक ने किया है। वे कहते हैं—'यकीन है, कोई दिन भारत को अकेली पाकर इसे दिल्ली के नवे जूते के तले दाबकर—हाः हाः इस तरह पीस डालूँगा।' इनकी मनोवृत्ति की टीका करते हुये एक पात्र मधुसूदन कहता है 'इनका हृदय द्रव करना ऐसा हो कठिन है जैसा कि पत्थर को पानी करना।' दुर्भाग्य से हमारे देशवासियों को यह अनुभव देश के विभाजन के बाद हुआ।

इस नाटक के तीसरे अंक में हिन्दी 'जोगिन' का वेष फारण कर फारसी से अपनी अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों के परित्याग का अनुरोध करती है। तत्पश्चात गिरिचूड़ा पर आर्य समाराधन आदि के साथ मरहटा और सिक्ख आदि विभिन्न प्रांतों के लोग ऐक्य समाराधन में तल्लीन दिखाए गये हैं। ऐक्य देवी प्रसन्न होकर पधारती है, तथा भारतमाता की क्रोड़ में विराजती है। सम्भवतः इस दृश्य के द्वारा लेखक हिन्दी के अन्तर्प्रान्तीय एवं सार्वदेशिक महत्व का निर्देश करना चाहता है। अंतिम दृश्य-परिशिष्ट में हिन्दी-फारसी और हिन्दू-मुसलमानों के मेल का भी दृश्य दिखाया गया है।

इस नाटक की भाषा अशुद्ध है, प्रतीक विधान भी जटिल है। किन्तु भारतेन्दुकालीन लेखक भाषा की समस्या पर कितने स्पष्ट विचार रखते थे, यह नाटक इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त इन लेखकों के मन में एक सम्मिलित राष्ट्र की कैसी उदात्त कल्पना जग रही थी, यह नाटक इसका भी उत्तम निदर्शन है।

आध्यात्मिक-धार्मिक

सांस्कृतिक-नैतिक चेतना के समान ही आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना का भी संश्लिष्ट रूप हमें भारतेन्दु-काल के नाटकों के एक वर्ग विशेष में प्राप्त होता है। आध्यात्मिक-धार्मिक चेतना की नाटकीय अभिव्यक्ति का सूत्रपात भी भारतेन्दु

जी ने ही 'चन्द्रावली' आदि रूपकों और रामलीला के लिए पाठ्य लिखकर किया था। तदनन्तर इसका उन्मेष एक वेगवती धारा के रूप में हुआ। इस धारा के अन्तर्गत राम और कृष्ण के चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले वे सभी नाटक आ जाते हैं, जिनकी रचना इस काल में बहुत बड़ी संख्या में हुई। ये नाटक हमारी उस नाट्य-परम्परा के विकसित साहित्यक रूप हैं, जो मध्यकाल में 'लीला' के नाम से अविच्छिन्न रूप से चलती रहीं। पहले ही कहा जा चुका है कि भारतेन्दु ने लीला की इस परम्परा के दो रूपों—रामलीला और रासलीला का महत्व समझ कर उनको अपेक्षित नाटकीय तत्वों से विभूषित किया, और इस प्रकार उन्हें विस्मृति और उपेक्षा द्वारा नष्ट तथा भ्रष्ट होने से बचाया। उनके समकालीन अन्य नाटककारों ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाया। पीछे यह बताया जा चुका है कि रामलीला और रासलीला दोनों का अपना स्वतन्त्र दर्शन तथा नाटकीय विधान है। भारतेन्दु-कालीन लेखकों ने उनके दर्शन एवं विधान की उपेक्षा नहीं की, अपितु उनके उन्नयन की ही दिशा में साहित्यिक उद्योग किया। कुछ लेखक तो इन लीलाओं के मूल रूप को सुरक्षित रखने के पक्ष में रहे, और उनमें अधिक हेर-फेर करना ठीक नहीं समझा। परन्तु बहुत से ऐसे लेखक भी हुए जिन्होंने उनको कभी साहित्यिक नाटकों की ओर खींचा और कभी पारसी रंग-मंच के गढ़े में गिराया।

रासलीला-संबंधी बहुसंख्यक नाटकों में खड्गबहादुर मल्ल कृत 'महारास' बलदेव प्रसाद मिश्र कृत 'प्रभास मिलन' और 'नंद विदा', ब्रजवासी गोपकवि रचित 'मानचरित्र' और 'माधुरी', कृष्णदास कृत 'जुगुल भामिनी लीला', विद्याधर त्रिपाठी की 'उद्धव वशीठि नाटिका', राधाचरण गोस्वामी कृत 'श्रीदामा', शिव-नंदन सदाय कृत 'कृष्ण सुदामा', अयोध्यासिंह उपाध्याय कृत 'रुक्मिणी परिणय' और सूर्यनारायण सिंह की 'श्यामानुराग नाटिका' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। अध्ययन की सुविधा के लिये ये नाटक तीन वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं—

१. प्रथम वे नाटक जिनमें रासलीला का मूल रूप प्रायः ज्यों का त्यों सुरक्षित है, उसमें बहुत थोड़ा हेरफेर किया गया है।

२. द्वितीय वे नाटक जिनमें रासलीला का तात्विक आधार और स्वरूप तो पुराना ही है, पर उनका क्रियाकल्प बहुत कुछ साहित्यिक नाटकों के समान हो गया है।

३. तीसरे वर्ग के नाटकों का रूप आधुनिक साहित्यिकता से इतना सम्पन्न हो गया कि उनमें रासलीला का मूल रूप बिल्कुल खो चला है।

पहले वर्ग के नाटकों में गोप कवि रचित 'मानचरित्र' और माधुरी कृष्णदास कृत 'जुगुल भामिनी लीला' और श्रीकृष्णदत्त द्विज कृत 'जुगुल विहार' आदि हैं। इनका रूप ठीक प्राचीन रासलीलाओं जैसा है, और ये भारतेन्दु की 'तन्मयलीला', 'रानी छद्मलीला' और 'दानलीला' के सर्वथा निकट हैं। ये लीलायें अधिकांश पद्यात्मक हैं, और रासधारियों की परंपरा में ही, जो इनके मर्म को जानते हैं, अभिनीत होने योग्य हैं। चाचा हित वृन्दावन दास आदि द्वारा लिखी गयी पुरानी लीलाओं में गद्य का प्रयोग बिल्कुल नहीं किया गया है, रासधारी लोग अपनी ओर से प्रसंगानुकूल उसका योग कर लेते हैं। पर इन लीलाओं में थोड़े बहुत गद्य का भी समावेश है। प्राचीन लीलाओं में और इनमें अधिक से अधिक इतना ही भेद दिखाई पड़ता है। इसका उदाहरण गोपकवि कृत 'मानचरित्र' से दिया जा सकता है, जिसमें प्रधान रूप से पद्यात्मक कथोपकथनों के बीच-बीच ब्रजभाषा गद्य के भी दो एक छींटे उपलब्ध हो जाते हैं। अत्यन्त क्रुद्ध होकर राधा कृष्ण से कहती हैं—

होउ अब आखिन की मेरी ओंट।
नित झूठी सौगंध खात हो बहुत भरों जिय खोट।
झूठो निलज अबहुँ मो आगे ठाड़ो रचत उपाय।
बहुत भई बस सूधी गैलन जाहु चले मन भाय।
दूरि करहु सखि अबहि यहाँ ते प्यारी कहत रिसाय।
यह अतिनिलज खरों ही रहिहै सूधे घर नहिं जाय।

राधा की आज्ञा को व्यावहारिक रूप देने के लिए जैसे ही उनकी सखियाँ कृष्ण के दोनों हाथ पकड़ कर उनको कंज से बाहर खींच कर डाल देने का उपक्रम करती हैं, वैसे ही उनकी सिट्टी-पिट्टी भूल जाती है और कविता हवा हो जाती है, कुछ कहने के लिये विवश गद्य ही पल्ले पड़ता है—

'श्री कृष्ण (लाल जी)—सखियो मोउए कछू कहन देउगी ?

प्रिया जी—बस तेरी बहुत सुनि चुकी, सखियों याय मेरे आगे ते दूरि करों।'

रासलीला की परंपरा ब्रज के सिद्ध संतों और भक्तों द्वारा प्रवर्तित और विकसित हुई, इसलिए आध्यात्मिक रहस्योन्मुखता उसका प्रमुख गुण है। उसकी यह विशेषता भक्तप्रवर भारतेंदु ने अक्षुण्ण रखी। परन्तु आगे चलकर इस परंपरा के नाटकों में इस आध्यात्मिक रहस्योन्मुखता का स्थान श्रद्धा ने ले लिया। दूसरे वर्ग में खड्गबहादुर मल्ल कृत 'महारास' विद्याधर त्रिपाठी कृत 'उद्धव वशीटि नाटिका', सूर्यनारायण सिंह की 'श्यामानुराग नाटिका', बलदेव प्रसाद मिश्र

के 'प्रभास-मिलन' और 'नंद-विदा' आदि अनेक नाटक दिखाये जा सकते हैं। इस वर्ग के नाटकों में रासलीला साहित्यिक नाटकों का रूप ग्रहण करती हुयी दिखाई देती है। लीला का आद्योपांत एकरस पद्यात्मक रूप अब नहीं रह गया है। उसकी कथावस्तु का विकास अंकों और झाँकियों में विभक्त दिखायी पड़ता है। गीत और पाठयादि का अब भी प्रचुर प्रयोग होता है, पर कथोपकथन का मुख्य माध्यम अब गद्य बन गया है। अवश्य इस गद्य में ब्रज के वातावरण के निर्माण के लिये ब्रजभाषा की छाप या छाया है, पर खड़ी बोली धीरे-धीरे अपने अधिकार की घोषणा करने लगी है। प्रस्तावना आदि नाटकों के अन्य उपकरण भी लीला में आधुनिकता लालित्य बढ़ाने के लिये प्रयुक्त हो चले हैं।

इसका उत्तम उदाहरण खड्गबहादुर मल्ल का 'महारास' नाटक है। मैंने इसके प्रसंग में पहले ही मध्यकालीन 'महारास लीला' के स्वरूप का पूरा विवरण दिया है। मल्ल के 'महारास' नाटक से उसकी तुलना करने पर दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। भक्तों का रसमय रास जिसके गूढ़ तत्व को 'चंद्रावली' नाटिका के रूप में सबके सामने रखने में भारतेन्दु तक को अत्यन्त संकोच था, अब 'चार अंकों का शृंगार रस का रूपक' हो गया है। रासलीला के भक्त और साधु प्रणेताओं एवं प्रवर्तकों को अधिकारी दर्शकों की ही अपेक्षा रहती थी। पर मल्ल इस नाटक की अंग्रेजी लिखी हुई भूमिका में कहते हैं कि इस समय पाठक वर्ग दो समुदायों में विभक्त है—एक वर्णन-प्रणाली को पसंद करता है और दूसरा विषय मात्र का प्रेमी होता है। लेखक इस नाटक द्वारा दोनों के मनोरंजन के लिए कृत संकल्प है। इसी दृष्टि से वह श्रीमद्भागवत के दशम् स्कंध की रास-पंचाध्यायी का नष्टकीकरण करता है। प्रारंभ में नांदी और प्रस्तावना दोनों का प्रयोग किया गया है, और सूत्रधार, नटी तथा अन्य पात्रों के वेश-विन्यास का भी निर्देश कर दिया गया है। नाटक चार अंकों में विभाजित है और पहले अंक में तीन, दूसरे में चार, तीसरे में दो और चौथे में दो झाँकियाँ हैं। दृश्य के लिये सम्भवतः झाँकी शब्द का प्रयोग विषय-वस्तु के लिये अवशिष्ट धार्मिक श्रद्धा का सूचक है।

प्राचीन रासलीलाओं के समान इसमें 'नित्यरास की वह झाँकी नहीं दिखाई गयी है जिसमें कलामर्मज्ञ रसविदग्ध सखियाँ अपने नृत्य और गायन से श्री राधा और कृष्ण को प्रसन्न करके उनसे रास मंडल में पधारने की प्रार्थना करती हैं। इस नाटक की पहली झाँकी में हमें कृष्ण स्वयं शरद की राका में रास की अभिलाषा करते हुए दिखायी देते हैं। दूसरी झाँकी में वे अपनी विश्वमोहिनी मुरली कि हृदयहारी स्वर छेड़कर गोपियों का आवाहन करते हुए सामने आते हैं और

जब बेचारी गोपियाँ सूत्रप्रचालित कठपुतलियों की तरह खिची चली आती हैं तो अर्द्धरात्रि में मर्यादा भंग करने के लिये उनकी तीव्र भर्त्सना करते हुए वे उनको पातिव्रत का उपदेश देते हैं परन्तु गोपियों के परम समर्पण और चरम प्रसन्ना के भाव से परिपूर्ण उत्तर सुनकर उन्हें सन्तोष हो जाता है। अतएव तीसरी झाँकी में कृष्ण गोपियों के साथ रास करते हुए दर्शन देते हैं। रास के बीच में गोपियों को गर्व हो जाता है और वे राधा के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। दूसरे अंक की पहली झाँकी में विरह-संतप्ता गोपियाँ इधर-उधर कृष्ण के अन्वेषण में विकल दिखायी गई हैं। दूसरी झाँकी में राधा को भी गर्व के वशीभूत दिखाया गया है, फलतः वे भी कृष्ण द्वारा परित्यक्त होती हैं। तीसरी झाँकी में वियोग-पीड़िता राधा तथा गोपियों की भेंट दिखायी जाती है, और चौथी झाँकी में वे सब कृष्ण के विरह में अनेक प्रकार से विलाप-प्रलाप करती हुई सम्मुख आती हैं। इस अवसर पर लेखक ने अनेक प्रकार की रागरागिनियों का यथास्थल सुरूचिपूर्ण समावेश किया है। पर ये सब गीत लेखक के अपने हैं, पुरानी रास लीलाओं में प्रयुक्त सूर, नन्ददास आदि भक्त-कवियों के नहीं। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

कोऊ कहीं लख्यों री गोपाल।
व्याकुल फिरति चहुँदिसी उनबिन ये सब ब्रज की बाल।
एक घरी नहीं चैन स्याम बिनु हैं सब अति बेहाल।
कृपा करों अब आय मिलौ तुम है जसुमति के लाल।

तीसरे अंक की प्रथम झाँकी में हम गलिताभिमान गोपियों को अत्यन्त आतुरतापूर्वक श्रीकृष्ण के प्रति प्रार्थनापरायण पाते हैं, उनकी इस दशा से द्रवीभूत होकर वे प्रकट होते हैं। अगली झाँकी में सबका पारस्परिक वार्तालाप प्रस्तुत किया गया है जिसमें प्रेमतत्व का निरूपण है। चौथे अंक में हमें फिर रास का दृश्य दिखायी पड़ता है। रास के अन्त में सब गोपियाँ मिलकर श्री राधा और श्रीकृष्ण का विवाह रचाती हैं जिसमें पाणिग्रहण संस्कार की सब विधियों का यथावत् पालन होता है। अन्त में सब मिलकर यमुना में जलविहार करते हैं, यही अन्तिम झाँकी है।

इस संक्षिप्त परिचयात्मक विवेचन से यह स्पष्ट है कि लेखक का रासलीला के मूलरूप को सब नाटकीय तत्वों से मण्डित करने की आकांक्षा है और इस कार्य को वह सफलता से सम्पादित करता है। कथावस्तु में नाटकीय आवश्यकता की दृष्टि से परिवर्तन एवं परिवर्धन करते हुए भी वह उसके तात्कालिक आधार को ज्यों का त्यों रहने देता है, एक निष्ठावान धार्मिक की भाँति इस कथा पर

उसकी श्रद्धा है। तात्पर्य यह कि इस नाटक का विषय तो पुराना है, पर शैली नयी और नाटकीय हो गयी है। विषय-प्रतिपादन में धार्मिक श्रद्धाजन्य सुरुचि का योग तो है, पर आध्यात्मिक व्यंजना क्षीण हो गयी है। यह बात हम इस वर्ग के अन्य नाटकों में भी पाते हैं। यदि पुराने 'करुणाभरण' की तुलना इस काल के बलदेव प्रसाद मिश्र के 'प्रभास मिलन' नाटक से की जाय, तो हमारे निष्कर्ष की और भी पुष्टि हो जायेगी। दोनों ही नाटकों में दीर्घकालीन वियोग के बाद प्रभास-क्षेत्र में सूर्यग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण और श्रीराधा तथा अन्य ब्रजवासियों के मिलन की कथा है। दोनों का कथानक एक है पर शैली में बहुत अन्तर हो गया है। 'करुणाभरण' रासलीला के अभिनय और रंगमंच का अनुवर्त्ती है, तो 'प्रभास मिलन' भारतेन्दु-युग के नव-विकसित रंगमंच की परम्परा से भावित और प्रभावित। तात्पर्य यह कि एक अपने मूल रूप में लीला है, तो दूसरा विकासोन्मुख नाटक। फिर भी 'प्रभास मिलन' में रास का वातावरण नहीं छूटता, वह राधा और कृष्ण के व्यक्तित्व की अलौकिकता में वर्तमान है।

तीसरे वर्ग के नाटक रासलीला के अभिनय और रंगमंच की परम्परा के एक-आध उपादान आवश्यकतानुसार ग्रहण करते हुए भी उसके तात्विक आधार को छोड़ चुके हैं। इस वर्ग के नाटकों में राधाचरण गोस्वामी का 'श्रीदामा' विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक के प्रारम्भ में नान्दी है, और फिर प्रस्तावना। प्रस्तावना में सूत्रधार चतुर्दिक छाये हुए 'दुष्काल' का उल्लेख करता है। दुष्काल-जन्य चिन्ता से नटी की तो नाटक खेलने की भी 'इच्छा नहीं होती।' वह कहती है, 'छप्पर पर फूस नहीं, डेवढ़ी पर नाच। तुम्हें आज नाटक सूझा है, मुझे तीन दिन एकादशी करते बीत गये।' जनता को भयंकर भूख की अनुभूति रास के आध्यात्मिक रहस्यवाद को किस प्रकार यथार्थोन्मुख आदर्शवाद में परिणत कर रही है, यह इस नाटक की प्रस्तावना में देखा जा सकता है।

प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी इस देश ने अपने आचरण की संस्कृति को नष्ट नहीं होने दिया है। यह इस नाटक का प्रमुख निर्देश है। नाटक के प्रथम दृश्य में हम श्रीदामा और उनकी पत्नी सर्वसहा की अनन्य भक्ति तथा घोर दरिद्रता का मार्मिक चित्र एक साथ देखते हैं। श्रीदामा भगवान् के भजन और ध्यान में इतने तल्लीन हैं कि पत्नी के बार-बार याद दिलाने पर भी शीलोंछ (खेतों में गिरे हुए दाने बीनकर पेट भरना) के लिये नहीं जाते यद्यपि घर में खाने के लिए एक दाना भी नहीं। श्रीदामा का सिद्धान्त है 'भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्तिवैष्णवाः।' सर्वसहा पति को उस ओर से विरक्त देख स्वयं भोजनान्वेषण के लिये कुछ उद्योग करना चाहती है। पर पति की अनुमति

नहीं मिलती इसलिये वह भी भगवान् के नामों का एक लक्ष जप करने बैठ जाती है। भजन-पूजन और जपादि में ही संध्या हो जाती है पर घर में भोजन की कुछ व्यवस्था नहीं। पत्नी स्वयं भोजन सामग्री जुटाने के लिये पुनः कुछ प्रयत्न करना चाहती है, पर श्रीदामा निवारण करते हैं। कारण, एक तो रात्रि में भोजन निषिद्ध है, दूसरे सायंकाल अन्न के अन्वेषण से खेतों में विश्राम करने वाले जीव-जन्तुओं के दुःखी होने की सम्भावना है। इसी परिस्थिति में पड़ोसी का एक बालक आकर उन्हें भगवान् का प्रसाद अर्पित करता है।

दूसरे दृश्य में श्रीदामा अपने टूटे-फूटे घर में एक जीर्ण-शीर्ण छप्पर के नीचे सर्वसहा के साथ बैठे दिखाये गये हैं, मूसलाधार वर्षा हो रही है। वर्षा देखकर श्रीदामा प्रसन्न हैं, क्योंकि मेघ और विद्युत को देखकर उन्हें बार-बार सान्द्रानंद-पयोद-सुन्दर पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण की स्मृति स्फुरित हो रही है। परन्तु उस वर्षा से रक्षा का एकमात्र साधन छप्पर तो उड़ जाना चाहता है। इसलिए सर्वसहा डर रही है और श्रीदामा उसे धैर्य दिलाते हैं। अन्त में छप्पर उड़ जाता है। दम्पति छायाविहीन हो वर्षा में भीगने लगते हैं। सर्वसहा मलार गाकर भगवान् से प्रार्थना करती है।

तीसरे दृश्य में श्रीदामा एक मैली पोटली लिये हुए द्वारका के पथ पर दृष्टि-गत होते हैं। वर्षा में घर गिर-गिराकर बिल्कुल बह गया है। अतएव सर्वसहा ने दुर्निवार हठ करके उनकी इच्छा के विपरीत उन्हें द्वारका जाने को विवश किया है। चौथे दृश्य में हम द्वारका के रंगमहलों का दर्शन करते हैं, जहाँ श्रीकृष्ण और रूक्मिणी विराजमान हैं। श्रीदामा के आने का समाचार पाकर कृष्ण उन्हें आदरपूर्वक अन्तःपुर में ले जाते हैं, और अपने हाथों उनका सोपचार पूजन करके उनके लाये हुए चावल फाँकते हैं। पाँचवें दृश्य में राजपथ का दृश्य है। श्रीदामा कृष्ण से विदा होकर घर जा रहे हैं, परन्तु वे हृदय में बड़े दुःखी हैं क्योंकि कृष्ण ने उन्हें कुछ नहीं दिया। पर यात्रा समाप्ति पर जब वे घर पहुँचते हैं तो वहाँ अप्रत्याशित अकल्पित परिवर्तन देखकर आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। इसी समय राजकीय वेषभूषा में अनेक परिचारिकाओं से सेवित सर्वसहा आकर उनका स्वागत करती है।

यह नाटक जनता की धार्मिक चेतना की अभिव्यक्ति का बड़ा सफल साहित्यिक प्रयास है। इस नाटक का गठन सुन्दर है, श्रीदामा और उनकी पत्नी की अन्तःप्रकृति का भी इसमें मनोरम उद्घाटन है और कथोपकथन भी प्रसंग तथा पात्रों के शील के उपयुक्त है। इस वर्ग के नाटकों का सर्वोपरि महत्व यह है कि इनमें लीला की नाटक के रूप में परिणति की प्रक्रिया प्रायः पूर्णता पर

पहुँची देखी जा सकती है। श्रीदामा की तुलना नरोत्तमदास के प्रसिद्ध काव्य 'सुदामा चरित्र' से करने पर यह बात आसानी से समझी जा सकती है। राधाचरण के श्रीदामा के चरित्र में नरोत्तमदास के सुदामा के चरित्र की अपेक्षा अधिक दृढ़ता है जो दर्शक को समाज की भयंकर भूख की ज्वालाओं के बीच धर्म पर आरूढ़ रहने की प्रेरणा देती है। रामलीला सम्बन्धी नाटकों की संख्या भी कम नहीं है। इन नाटकों में ज्वालाप्रसाद मिश्र का 'रामलीला' (सातों काण्ड) और 'सीता बनवास', दामोदर सप्रे शास्त्री का 'रामलीला सात काण्ड', शिवशंकर लाल कृत 'रामयश दर्पण' ब्रजचन्द जनबल्लभी का 'रामलीला नाटक', बन्दोदीन दीक्षित के 'सीताहरण' और 'सीतास्वयंवर', प्रेमधन कृत 'प्रयाग रामागमन' तथा वामानाचार्य का बारिदनाथ-वध-व्यायोग विशेष उल्लेखनीय हैं। रासलीला सम्बन्धी नाटकों के समान ही ये नाटक भी तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। पहले वर्ग के अन्तर्गत वे नाटक परिगणनीय हैं जो रामलीला के तात्विक तथा धार्मिक आधार और उसकी अभिनय एवं रंगमंच की परम्पराओं का विधिपूर्वक पालन करते हैं। दूसरा वर्ग उन नाटकों का है जो इन परंपराओं को न छोड़ कर धीरे-धीरे नवोदित रंगमंच की प्रवृत्तियों से प्रभावित हो रहा है। तीसरे वर्ग के वे नाटक हैं जो प्राचीन परम्परा से नाता तोड़ चुके हैं।

पहले वर्ग के नाटकों में ज्वालाप्रसाद मिश्र कृत रामलीला (सातो काण्ड), दामोदर सप्रे शास्त्री का 'रामलीला सप्त काण्ड' और ब्रजचन्द जनवल्लभी के 'रामलीला नाटक' (बालकाण्ड) विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने धार्मिक श्रद्धा और भक्ति के साथ रामलीला नाटकों की रचना की इसलिए इन लोगों ने रामलीला की अभिनय-परम्परा की अवज्ञा नहीं की है अपितु यथासम्भव उसको अधिकाधिक समुन्नत करने का प्रयत्न किया है। ज्वालाप्रसाद मिश्र ने अपने 'रामलीला नाटक' की भूमिका में बड़े विस्तार से लीला की विधि बतायी है जिसमें पात्रों के निर्वाचन से लेकर उनके आहार्यादि के विधान एवं रंगमंचीय विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के नियम प्रस्तुत किये गये हैं। रामलीला के अत्यन्त सुकर नाटकीय विधान ने भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों को अभिनय और रंगमंच सम्बन्धी नयी दृष्टि प्रदान की, इसमें सन्देह के लिये अवकाश नहीं। इन रामलीला नाटकों की सामान्य विशेषता यह है कि ये सबके सब 'रामचरितमानस' के आधार पर निर्मित हुए हैं। वस्तुतः इनके रूप में हमें 'रामचरितमानस' का नाटकीकरण ही उपलब्ध होता है और तुलसी की उस महिमामयी कला का प्रत्यक्षीकरण होता है जिसने श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य दोनों का समन्वित रूप एक ही आधार से प्रस्तुत किया है। ज्वालाप्रसाद मिश्र

की 'रामलीला रामायण' इस कोटि के नाटकों का उपयुक्त प्रतिनिधि है ।

ज्वालाप्रसाद मिश्र ने रामायण के प्रत्येक काण्ड को दर्शनों में विभाजित किया है । प्रारम्भ में नांदी है जिसमें बालकाण्ड के प्रारम्भ के मंगलाचरण श्लोक, दोहे और सोरठे संकलित हैं और पाद टिप्पणियों में उनका अर्थ दिया हुआ है । इसके बाद प्रस्तावना है जिसमें शिव-पार्वती को सूत्रधार और नटी के स्थान पर रख कर रामचरितमानस के उनके संवाद के एक अंश का कथोपकथन के रूप में उपयोग किया गया है । शिव-पार्वती का यह कथोपकथन रामायण की चौपाइयों के ही रूप में चलता है केवल अन्त में शिव जी कहते हैं 'वह देखो रावणादि से भय पाये देवता क्षीरसागर में भगवान् के पास जाते हैं हम भी चलें ।' इस प्रस्तावना के बाद बालकाण्ड का प्रथम दर्शन क्षीरसागर के तट पर प्रारम्भ होता है, जहाँ ब्रह्मादिक सम्पूर्ण देवता और धेनुरूपधारी पृथ्वी स्तुति करते दिखायी देते हैं । बालकाण्ड की कथा इसी प्रकार के ग्यारह दर्शनों में विभक्त है, जिनमें दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ से प्रारम्भ करके विवाहोपरान्त राम के घर लौटने तक की घटनाएँ समाविष्ट हैं । इसी प्रकार अयोध्याकाण्ड की कथा दस, अरण्यकाण्ड की चार, किष्किन्धाकाण्ड की चार, सुन्दरकाण्ड की चार, लंकाकाण्ड की आठ और उत्तरकाण्ड की तीन दर्शनों में प्रदर्शित है । इन दर्शनों में समस्त रामचरितमानस की कथा विभिन्न पात्रों के कथोपकथन के रूप में सजा दी गयी है । अतएव सारा कथोपकथन दोहा-चौपाइयों में ही होता है, केवल किसी विशेष प्रसंग में विशेष पात्र गद्य का उपयोग करता है । पादटिप्पणियों में नाटककार ने अर्थ के अतिरिक्त अन्य कवियों के कवित्त, सवैया, भजन आदि संकलित कर दिये हैं जिनका उद्देश्य कदाचित् यह है कि रामलीला के अभिनेता और व्यवस्थापक रोचकता बढ़ाने और विविधता लाने के लिये उनका भी यथास्थान उपयोग कर लें ।

ज्वालाप्रसाद मिश्र के वर्ग के कुछ लेखकों ने अपनी रचना का आधार तो रामचरितमानस ही रखा है, पर कथोपकथनों में मूल चौपाइयों का प्रयोग न करके उनका आशय गद्य में अथवा स्वरचित पद्य में विविध पात्रों से कहलाया है । ब्रजचन्द जनवल्लभी के 'रामलीला नाटक' बालकाण्ड की यही शैली है । यह नाटक रामचरितमानस का आधार छोड़कर निकृष्ट कोटि का हो गया है, कारण लेखक की गद्य और पद्य दोनों की भाषा में व्यवस्था, सौष्ठव और विशुद्धता का अभाव है । नाटक की कथा दर्शनों के स्थान पर मरीचियों में विभाजित है ।

दूसरे वर्ग के रामलीला नाटकों का प्रतिनिधित्व करनेवाली रचना बन्दीदीन दीक्षित का 'सीतास्वयंवर' (सं० १८५६) है। इसमें नांदी और प्रस्तावना का प्रयोग नहीं है और कथा दृश्यों में विभाजित की गयी है। नांदी और प्रस्तावना के स्थान पर प्रथम दृश्य में 'धेनुरूपिणी' धरती गान करती हुई अपनी दुरवस्था का वर्णन करती है। तदुपरान्त श्री राम जन्म से लेकर धनुषभंग और परशुराम-संवाद पर्यन्त कथा गद्य-पद्य में वर्णित है। कथोपकथनों में प्रयुक्त गद्य ब्रज, खड़ी, अवधी सबकी खिचड़ी होने के कारण अव्यवस्थित है। पर रामचरितमानस, रामलला नहछू, रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थों में कथोपकथन के लिये प्रसंगोपयुक्त पद्यों का सुरुचिपूर्ण चुनाव किया गया है। कवि के द्वारा विरचित सवैये भी सरस हैं।

इस श्रेणी के तीसरे वर्ग के नाटकों ने रामलीला के लोकधर्मी विधान को छोड़कर नवोदित रंगमंच के नाट्यधर्मी विधान का अनुसरण किया है। यहाँ भी हम नयी परिस्थितियों के अनुकूल लीला को नाटक के रूप में कायाकल्प स्वीकार करते हुए देखते हैं। इस वर्ग के नाटकों में प्रेमघन के 'प्रयागरामागमन' और वामनाचार्य गिरिकृत 'वारिदनाथ वधव्यायोग' आदि प्रमुख हैं। इस वर्ग के नाटकों में शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकीमङ्गल' नाटक का महत्वपूर्ण स्थान है। अभिनेयता की दृष्टि से इस नाटक का ऐतिहासिक महत्व है। कारण, इस नाटक के अभिनय में भारतेन्दु जी ने स्वयं भाग लिया था। इन्होंने इस नाटक में लक्ष्मण का अभिनय किया था। शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का लिखा हुआ दूसरा नाटक है 'रामचरितावली'।

धार्मिक चेतना के इस विश्लेषण से यह न समझा जाना चाहिये कि ये लेखक आध्यात्मिक अथवा धार्मिक आदर्शों के नाम पर पाखण्ड अथवा अन्धविश्वास का भी किसी प्रकार समर्थन करते हैं। धार्मिक अन्धविश्वास या पाखण्ड के विरोध में ये आधुनिक लेखक से भी आगे हैं। भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' तथा 'प्रेमजोगिनी' में धार्मिक पाखण्ड पर अपने व्यंग्य का वज्र गिराया था। 'भारत दुर्दशा' में उन्होंने स्पष्टतः घोषित कर दिया था कि धार्मिक अन्धविश्वास किसी भी रूप में उनका समर्थन या प्रश्रय नहीं प्राप्त कर सकता।

उनके समकालीन प्रसिद्ध लेखकों ने भी उन्हीं के समान धार्मिक पाखण्ड और अन्धविश्वास के दुर्ग को व्यंग्य और प्रहसन की सुरंगों से उड़ा देने का निरन्तर प्रयत्न किया। इस प्रकार के प्रयत्नों में राधाचरण गोसाई के 'तनमनधन श्री गुसाईं जी के अर्पण' और 'बूढ़े मुँह मुहासे' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'तन मन धन श्री गुसाईं जी के अर्पण' नामक आठ अंकों के प्रहसन में एक गुसाईं जी का जीवन

चित्रित है, जो अपने भक्तों से उनकी रूपवती बहू-बेटियों का समर्पण करवाते हैं। गुसाईं जी ने अपने भक्तों को इसी जीवन में मुक्ति सुलभ करने के लिये रामा नाम की एक कुटी रख छोड़ी है, उसका भी पूतशील इस प्रहसन में निरूपित है। 'बूढ़े मुँह मुहासे' में लाला नारायण दास नाम के एक परम भगवद्भक्त जमींदार के कृत्यों की कथा है, जो राम का नाम जप जप कर अपने ही निर्धन किसान मौला तेली की जवान और सुन्दर स्त्री को वश में करने का संकल्प दृढ़ करते हैं। शैली की दृष्टि से भी यह प्रहसन उत्कृष्ट है, परन्तु उसमें व्यक्त विचारों की विशद स्पष्टता तो वन्दनीय है। संभवतः 'बूढ़े मुँह मुहासे' गोस्वामी जी की मौलिक रचना नहीं है। वह माइकेल मधुसूदन दत्त के 'बुड शालिकेर घोड़रो' का छायानुवाद है।

इन लेखकों की धार्मिक चेतना प्रसन्न, विशद और परिस्फुट होने के साथ ही साथ कितनी सारग्राहिणी थी इसका निदर्शन राधाकृष्णदास का 'धर्मालाप', अर्थात् भारतीय नानाधर्मों का वार्तालाप (व्यंग्य गर्भित) नामक एकांकी (?) है। इसमें कुल एक ही दृश्य है। वृद्ध सनातन धर्म बीच में बैठा हुआ दिखाई पड़ता है जिसको बहुत से लड़के चारों ओर से घेर कर बैठे हैं। इन बालकों में विभिन्न प्रचलित धार्मिक विचार-धाराओं के प्रतिनिधि पंडित, वेदान्ती ब्राह्मण, शैव, शाक्त, कौल, वैष्णव, दयानन्दी, पंचपिरियें (मुसलमान) ब्राह्मों, थियोसोफिस्ट, न्यूफैशनिये नेटिव, क्रिश्चियन नेचरिये या नास्तिक मारवाड़ी, साहोजी, लाला-साहेब और प्रेमी भक्त आदि सब हैं। सनातन धर्म प्रकृत मानव धर्म अथवा विश्वधर्म इन असंख्य मतवादों के बीच भ्रान्त, क्लान्त एवं जीवन्मृत है। वह अपनी समुपस्थित सन्तानों से अपनी रक्षा का कुछ उपाय करने को कहता है। इस पर उन अनुष्ठानों का व्यौरा उपस्थित करता है जो उसने धर्म को तारने के लिये किये हैं। पंडित कहते हैं—धर्म की ओर रुचि और श्रद्धा बनाये रखने के लिये हम लोगों ने पाँच पैसे में गऊदान कराया। अब तक सभाओं में जाकर एक दूसरे का सिर इसीलिए फोड़ते हैं कि धर्म की उन्नति हो! शैव कहता है—'धर्म के लिये वैष्णवों को लाखों गालियाँ देते हैं और अगर बखत पड़ा तो आपुस में सिर कटाने को भी तैयार।' मारवाड़ी जी अपने नम्र निवेदन द्वारा 'तनमन-धन श्री गुसाईं जी के अर्पण' के समर्पणवादी सेठ रूपचन्द की याद दिलाते हैं—'यहाँ तो महाराज पुरोहित जी की आज्ञा बिना कोई काम करें नहीं! घरबार, लड़का, जोरू, धरम, सरम, सबका हाल पुरोहितजी जानै!' साहो जी बड़े सन्तोष से अपनी धार्मिकता का घोष करते हैं— 'नित सबेरे गंगाजी नहाय आइथै और अपना एक पैसा घाटिया को दे दिया। अपन तौ बाबा पुन्न धरम का बड़ा ख्याल रख्खी थै।' इस पर लाला साहब स्पर्द्धा से बोल उठते हैं, 'कलमदान कसम हम

तो खुदा का नाम लिये बिना कोई काम करते नहीं ।' 'हमारे तो गाजीमियाँ बाबा सहाय है' कहकर पंचपिरियें सन्तोष की साँस लेते हैं, पर दयानन्दी यह कहकर कि 'आप लोगों के मारे कुछ नहीं होने पाता' असन्तोष प्रकट करते हैं । संभवतः ब्राह्मणों को अपने धर्मोद्धार कार्य पर विशेष गर्व है क्योंकि वह 'डोम चमार को महाचार्य महाशय के साथ खिलाता और ब्राह्मण का विधवा हलाल खोर का साथ विवाहता ।' इसी प्रकार अन्य सब लोग जब अपनी-अपनी कह लेते हैं, तो प्रेमी भक्त कहता है—'जाति पाँति पूछै नहिं कोई हरि को भजै सो हरि का होई···· परमधर्म हरिपद भजन तजहु न एकहु साँस ।'

इस प्रकार जब उनमें किसी भी प्रकार मतैक्य नहीं होने पाता तो सब आपस में लड़ते हैं—'अपुनों अपुने मत लै लै सब झगरत ज्यों भठियारे ।' इस पर सनातन धर्म दुखी होकर मूर्च्छित हो जाता है ।

इस छोटे से संलाप की परिकल्पना बड़ी विदग्ध, यथार्थ और उदात्त है । विविधधर्मों के प्रतिनिधियों के मुँह से दो दो बातें सुनते ही अनुयायियों का यथार्थ चरित्र-चित्र कल्पना में बरबस उभड़ आता है । इसके अतिरिक्त लेखक यह भी संकेत करता है कि सनातन धर्म केवल हिन्दुओं का ही नहीं अपितु मानवमात्र का है । पंचपिरियें, क्रिश्चियन आदि को उसके बालकों के रूप में दिखा कर लेखक यही निर्देश करता है । इस प्रकार भारतेन्दु युग के लेखक हमें विविध मतवादों से ऊपर उठा कर हमारे मन में एक आधारभूत विश्वधर्म की कल्पना भी जगाते हैं ।

राजनीतिक स्वातंत्र्य की चेतना

जिन लेखकों में अपने देश के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं धार्मिक गौरव का रागात्मक बोध इतना गम्भीर हो उनमें उसकी आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक परतन्त्रता की अनुभूति का अत्यन्त तीव्र होना स्वाभाविक ही है । असहाय भूख की विराट् ज्वाला में जलती हुई देश की नंगी जनता की यन्त्रणाओं की अनुभूति भारतेन्दु में कितनी अग्निमयी थी, यह हम यथास्थल दिखा चुके हैं । उनके युग के अन्य लेखक भी इस दृष्टि से उनके समशील थे, यह भी हम दिखाते आ रहे हैं । सांस्कृतिक, नैतिक, धार्मिक अथवा आध्यात्मिक, किसी भी परम्परा के नाटक में वे "दुष्काल से दलित अथवा निर्धनतारूपी वासंतिक पवन के वेग से अपत्रीकृत" इस दुखी देश को नहीं भूलते हैं । यहाँ तक कि विशुद्ध प्रेमाख्यानक परम्परा के नाटकों में भी वे किसी न किसी बहाने देश के आर्थिक शोषण की चेतना जगा देते हैं । ऐसे लेखकों में राजनीतिक स्वातत्र्य की चेतना का उदय अवश्यम्भावी था ।

परन्तु उस समय का भारत परम परतन्त्र था। अंग्रेजों ने जनता के आर्थिक और राजनीतिक स्वातन्त्र्य का ही हरण नहीं किया था, उसके अँगूठे काट कर और रोजी छीन कर पैरों में गुलामी की जंजीरें ही नहीं पहनायी थीं, अपितु निर्दयतापूर्वक उसकी जबान खींच कर मजबूती से उसका मुँह भी बन्द कर दिया था। उस युग में वाणी पर कितना कठोर नियन्त्रण था इसका आभास भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' नाटक में 'डिसलायटी' के कार्य-व्यापार द्वारा दिया है। इस परिस्थिति में भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने जो कुछ कहा और जितना खुलकर कहा, वह कटु सत्य और उसकी उतनी प्रखर ज्योति तो सम्भवतः आज की सरकार भी कठिनाई से सहन कर पावेगी। अवश्य इन लोगों ने यह सब प्रायः विक्टोरिया के नाम की दुहाई देते हुए उनकी प्रशंसा की आड़ में कहा। पर ऐसा उन्होंने राजद्रोह के दारुण आरोप से बचने के लिये किया, राजभक्ति की अकृत्रिम प्रेरणा से नहीं। तात्पर्य यह कि इस काल के लेखकों ने पहले पहल इस मूक देश को प्रबुद्ध वाणी का प्रसाद दिया, उनकी राजनीतिक चेतना आज भी आश्चर्य में डालने वाली है। वह अपने समय के राजनीतिक नेताओं की स्वातंत्र्य चेतनासे ही नहीं, आगे की गई पीढ़ी के नेताओं की स्वातन्त्रय चेतना से भी आगे है। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी "भारतेन्दु-युग" नामक पुस्तक में इस विषय के अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य दिये हैं। उसका एक अंश उद्धृत कर देने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

"....सारसुधानिधि" का लेख उन्नीसवीं शताब्दी और ये सभ्यता" उस समय की राजनीतिक चेतना का प्रमाण है। हिन्दी के लेखकों ने देश के जागरण में कौन सा भाग लिया, यह जानने के लिये ऐसे लेखों का पढ़ना आवश्यक है। लोगों को यह कहते हुए हम सुना करते हैं कि गाँधी बाबा के पहले तो लोग स्वराज का नाम लेते हुए भी डरते थे, सरकार के विरुद्ध एक शब्द कहने का उन्हें साहस न होता था, ऐसे लोगों को या तो साहित्य की जानकारी नहीं है, या जानबूझकर वे झूठा प्रचार करते हैं। दक्षिण अफ्रीका के जूलू युद्ध में महात्मा गाँधी ब्रिटिश सरकार के साथ थे, यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया था कि न्याय सरकार के साथ नहीं था। गाँधी जी की तब की राजनीतिक चेतना से इस लेख का लेखक कोसों आगे है—उसके समय के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों ने सरकारी नीति की कभी ऐसी कड़ी आलोचना न की थी। वरन् वे सरकार का साथ देते थे। राजभक्ति से देश को स्वाधीन करना चाहते थे या ब्रिटिश राज में रह कर सुख की साँस ले स्वाधीनता को भूल जाना चाहते थे। सरकार कचहरी और प्रेस ऐक्ट के मुकाबिले में डट कर इन स्वार्थ त्यागी लेखकों ने-जिनका इतिहास में नाम भी स्पष्ट नहीं लिखा है--देश में राजनीतिक चेतना फैलाई।"

राजनीतिक चेतना के समान ही इन लेखकों की आर्थिक चेतना भी सुविकसित थी। भारतेन्दु युग का प्रत्येक लेखक जानता है कि देश की भयंकर भुखमरी और नग्नता का कारण अंग्रेज हैं। भारतेन्दु के स्वर में स्वर मिलाकर युग के सभी प्रमुख लेखक 'धन विदेश चलि जात' का राग जनता को रंगमंच पर अलापते हैं। बड़ों की तो बात ही अलग, 'सज्जादसुम्बुल' जैसे रूपान्तरित नाटक का लेखक भी खलनायक शमशेर के मुँह से अँगरेजों की पोल खोलने का अवसर निकाल लेता है :—

दूर बेवकूफ अँगरेज की बात है या कोई और है ? रुपये हो तो चाहो इनकी जात की जात खरीद लो ! रुपये ही के लिये न ये सात समुद्र पार उतर के यहाँ आये हैं।'

इस आर्थिक-राजनीतिक चेतना को भारतेन्दु जी ने पहले पहल 'भारत दुर्दशा' में पुराने प्रतीक-नाटकों की शैली में अभिव्यक्ति प्रदान की। तदुपरान्त इस शैली के अनेक नाटक उनके युग में लिखे गये, जिनमें प्रतापनारायण मिश्र का 'भारत-दुर्दशा रूपक', प्रेमघन का 'भारत सौभाग्य', दुर्गादत्त का 'वर्तमान दशा, खड्गबहादुर मल्ल का 'भारत-आरत' आदि हैं। राष्ट्रीयता के सच्चे व्यापक अर्थ में भारतेन्दु युग का सारा साहित्य राष्ट्रीय है। पर उसका जो संकुचित अर्थ दुर्भाग्य से आज प्रसार पा गया है उसके अनुसार ये राजनीतिक-आर्थिक चेतना सम्पन्न नाटक ही राष्ट्रीय और भावी नाटकों की राष्ट्रीय धारा के प्रवर्तक माने जा सकते हैं।

इस प्रकार की राष्ट्रीयता के अन्य आनुषंगिक पक्षों अथवा प्रश्नों पर भी इन लेखकों की दृष्टि गयी है। ऐसे प्रश्नों में हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रश्न राजनीतिक दृष्टि से प्रधान समझा जाता रहा है। भारतेन्दु ने भी कहा था—'घर में आग लगे तब जिठानी धौरानी को आपस की डाह छोड़कर वह आग बुझानी चाहिए।' घर में अपमान और दरिद्रता की आग लगी ही थी इसलिए जिठानी के पक्ष के अनेक लेखकों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए वातावरण तैयार करने वाले नाटक लिखे जिनमें अप्रैल १८९२ ईस्वी में प्रकाशित रतनचन्द का 'न्याय सभा' उल्लेखनीय है।

इस नाटक के नायक अकबर के चरित्र में धार्मिक उदारता और का पूर्ण विकास दिखाया गया है। वह बीरबल से कहता है—'हमने यह नियम कर लिया है कि हिन्दू और मुसलमान दोनों को एक ही दृष्टि से देखें जिससे वह बैर जो प्रजा के मन में हमारे कौम के बादशाहों की अनीति से उत्पन्न हो गया है, जाता रहे।' बीरबल में हमें नर्मदल के एक ऐसे बुद्धिमान, नीतिज्ञ, चतुर,

वाग्मी एवं दृढप्रतिज्ञ नेता के दर्शन होते हैं जो अकबर से मिलकर देश-जाति का हित-साधन करना चाहता है। वह समय-समय पर शासन के अभावों की ओर अकबर का ध्यान आकर्षित करता रहता है, और इस प्रकार लेखक को अपने समय की नौकरशाही के उन कृत्यों के प्रति आवाज उठाने का अवसर देता है। जब लेखक को आई० सी० एस० परीक्षा के विषय में कुछ कहना होता है तो बीरबल के मुख से वह इस प्रकार बोलता है, 'फाजिल परीक्षा देकर ही सरकारी उच्च पद अकबर के दरबार में प्राप्त होता है। पर इस परीक्षा से हिन्दुओं को वंचित रखने के लिये अनेक प्रतिबन्ध लगाये गये—१. वह काबुल में होती है। २. अरबी के अनेक ग्रंथ उसमें रख दिये गये हैं। ३. बीस वर्ष से अधिक आयु के लोग उसमें बैठ नहीं सकते। ४. परीक्षक विदेशी होते हैं।'

लेखक संभवतः यह भी जानता है कि अकबर की उदार नीति का प्रभाव इस देश में बहुत दूर तक नहीं पड़ा। इसलिए जब हम अकबर को यह कहते हुए सुनते हैं कि 'कैसी भी दशा हमारी हो या देश की हो, हम न्यायमार्ग से च्युत होने की इच्छा नहीं रखते' तो जनता के प्रतिनिधि हरभजन सिंह को यह कहते हुए भी देखते है कि 'म्लेच्छ हमारी आँखों के सामने ही हमारे देशी भाइयों पर हजरत सलामत की आज्ञा के विरुद्ध कैसे अन्याय करते है।' अकबर की शासन-नीति की आलोचना के ब्याज से अंगरेजों की भेद-नीति का रहस्योद्घाटन किया गया है।

इस नाटक का उद्देश्य उदात्त है, इसमें सन्देह नहीं। सम्भवतः भारतेन्दु युग में इसी नाटक में पहले-पहल अकबर की धार्मिक उदारता का चित्रण किया गया है। किन्तु लेखक ने बड़ी कुशलता से यह भी लक्षित कर दिया है कि उसकी यह उदारता भोले-भाले हिन्दुओं को फुसलाने का साधन भर है। इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटक उल्लेखनीय है। सामयिक भाव-प्रवाह के बीच-बीच पात्रों का शील-वैशिष्ट्य भी कुछ न कुछ प्रकाश में आता रहता है। कथोपकथन की भाषा भी एक योजना का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है। उदाहरणस्वरूप, अकबर साधु हिन्दी का प्रयोग करता है। पर उसके समक्ष उपस्थित हिन्दू भी (अंगरेजी शासन के और आज के खुशामदी बाबुओं की तरह) उर्दू मिश्रित भाषा बोलते हैं। संवाद लम्बे अवश्य हैं। पर भारतेन्दु युग के उद्देश्यनिष्ठ लेखकों को अपनी बात पूरी-पूरी कह लेने की जितनी चिन्ता है उतनी नाट्यकला के निर्वाह की नहीं।

इस श्रेणी के लेखकों की राजनीतिक चेतना का विश्लेषण करने पर हम उनमें पौरुष और विवेक का मनोज्ञ सामंजस्य पाते हैं। वर्तमान के प्रति असन्तोष

उन्हें पलायनवादी अथवा निराश नहीं बना पाता अपितु उनके भीतर ऐसे क्षोभपूर्ण पौरुष को जगा देता है जो आर्थिक शोषण और राजनीतिक परतन्त्रता के सब आधार-स्तंभों को हास्य तथा व्यंग्य के प्रहारों से ढहा देने का उत्साह रखता है। 'भारत-दुर्दशा' तथा उसकी अनुवर्ती अन्य व्यंग्यप्रधान रचनाएँ इसी कोटि की हैं। दूसरी ओर अधिक संगत होने पर वही असंतोष उन्हें राष्ट्रीय ऐक्य-विधायक विविध उपदानों को संगठित करने की प्रेरणा देता है।

सामाजिक चेतना

भारतेन्दु की चेतना में असह्य वेदना है। वेदना के इस भार के निवारण के लिये उनके आतमबोध ने अश्रु और हास दोनों का आश्रय लिया है जिसका उतम निदर्शन 'प्रेमयोगिनी' नाटिका से प्राप्त किया जा सकता है। भारतेन्दु के अन्य समकालीन लेखक भी इसी प्रकार सामाजिक जीवन के कटु यथार्थ का तीव्र बोध होने पर खिन्न होते हैं। उनकी यह खिन्नता पहले आँसुओं के रूप में बह जाना चाहती है, पर उतने से ही जब उसका निवारण नहीं हो पाता तो वह हास के रूप में फूट पड़ती है। तात्पर्य यह कि इस समय के लेखकों की सामाजिक चेतना जीवन के यथार्थ रूप के चित्रण में प्रवृत्त है और भारतेन्दु ही के द्वारा प्रारम्भ किये हुए यथार्थवाद के विकास के लिये अनुकूल वातावरण का निर्माण करती है। इन लेखकों का यथार्थवाद वस्तुतः उनके आदर्शवाद का ही दूसरा पक्ष है, जो समय और समाज की जीवनधारा को अवरुद्ध करने वाले विविध अन्तरायों के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन कर कभी हमें रुलाने का उपक्रम करता है और कभी हँसाने का, और इसलिए जिसको मैंने पहले ही आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का नाम दिया है।

इन लेखकों के सामने समय और समाज की जीवनधारा को अवरुद्ध करने वाले अन्तराय कौन से थे? विचार करने पर स्थूल रूप से ये अन्तराय हमें दो प्रकार के दिखायी पड़ते हैं। एक तो वे असामाजिक प्राणी जो अपनी अनेक प्रकार की मानसिक अथवा चारित्रिक विकृतियों को चरितार्थ करने के लिये समाज के जीवन को नष्ट-भ्रष्ट और विषाक्त कर रहे थे, और दूसरे वे दुर्बल जीव जो इन विकृतियों के शिकार होकर अनेक प्रकार के निर्दय अत्याचार सहते अपना जीवन समाप्त कर देते थे। दोनों के कारण समाज की स्थिति दयनीय हो रही थी। अतएव इन लेखकों ने दोनों का चित्रण अपने नाटकों में किया। दूसरे वर्ग के चित्रण में यदि उन्होंने अपने हृदय की करुणा उड़ेली तो पहले वर्ग के चित्रण में निर्ममता से हास्य और व्यंग्य के बाण बरसाये। इसी वर्ग को लक्ष्य करके प्रतापनारायण मिश्र ने कहा था—'यद्यपि देशबांधवों का दुःख देख के दया आती

हैं, पर ऐसे लोग जिनसे सर्वसाधारण का अनिष्ट सम्भावित है, अवश्य दण्डनीय हैं। अवश्य इन लेखकों में अभी उन मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक कारणों, प्रवृत्तियों और परिस्थितियों की सुस्पष्ट चेतना नहीं है जिनके कारण समाज में अनेक प्रकार की बुराइयों और दुःखदायक रूढ़ियों का जन्म लेना और पनपना सम्भव होता है। परन्तु समाज में वास्तव में दुःखी कौन है उनको दुःख देनेवाली रूढ़ियाँ कौन तथा इन रूढ़ियों को सुरक्षा में जिनका हित और स्वार्थ निहित है, वे व्यक्ति, वर्ग अथवा संस्थाएँ कौन हैं, इस सम्बन्ध में इन लेखकों को अन्तर्दृष्टि निर्भ्रान्त है।

इस स्थिति में इन लेखकों की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति जिन नाटकों में हुई उनमें वेदना और व्यंग्य किंवा करुण और हास का साथ-साथ परिपाक मिलता है। जिन नाटकों में समाज के दयनीय व्यक्तियों और उनकी मार्मिक परिस्थितियों का चित्रण है, उनमें करुणा की प्रधानता है। जिनमें विकृतों और उनकी विकृतियों का चित्र है, उसमें हास्य और व्यंग्य की प्रमुखता है। वास्तव में सामाजिक दुरवस्था के दो प्रमुख पक्षों को प्रकाश में लाने की ये प्रभावशाली शैलियाँ हैं अन्य कोई तात्विक अन्तर दोनों में नहीं प्रतीत होता। करुणाप्रधान नाटकों में भी प्रतिपाद्य विषय और प्रसंग के अनुकूल हास्य की योजना है और हास्यरसात्मक नाटक तो व्यंग्य के माध्यम से समाज के शत्रुओं पर आक्रोश प्रकट करते हुए उनके द्वारा पीड़ितों पर हमारी करुणा जगाने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं। पहले वर्ग में भारतीय का 'समुद्र-यात्रा वर्णन' और 'वर्णव्यवस्था', निद्धिलाल का 'विवाहिता विलाप', राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला', रुद्रदत्त शर्मा का 'अबला विलाप नाटक', 'अनमेल ब्याह दुःखरूपक', देवीप्रसाद का 'बाल-विवाह' और श्यामसुन्दरदास का 'वृद्धावस्था विवाह' आदि हैं। दूसरे वर्ग में प्रतापनारायण मिश्र का 'कलिकौतुक रूपक', बालकृष्ण भट्ट का 'शिक्षादान', माधव प्रसाद का 'हास्यार्णव : एक भाग' तथा किशोरीलाल गोस्वामी के 'चौपट चपेट' आदि अनेक नाटक हैं, जो हिन्दी नाटक की प्रहसन धारा के आधार माने जाते हैं।

पहले वर्ग के नाटकों में उन कुरीतियों का चित्रण है जिनके कारण समाज की जीवनीशक्ति का दिन प्रतिदिन ह्रास हो रहा है। इन कुरीतियों में बालविवाह और अनमेल विवाह आदि वैवाहिक प्रथा की बुराइयों के उन विविध पक्षों का विशेष रूप से उद्घाटन किया गया है जिनके कारण स्त्री जाति असहाय और पुरुष जाति हीनवीर्य हो रही है। साथ ही वेश्यागमन और मद्य-सेवन आदि की वृद्धिगत कुत्सित कुप्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है, जिनके कारण पारि-

वारिक जीवन विघटित और दाम्पत्य जीवन विरस हो रहा है। इन सब कुरीतियों का कुपरिणाम सबसे अधिक निःसहाय नारी को भोगना पड़ रहा है इसलिए उसके साथ इन लेखकों की विशेष सहानुभूति है। 'दुःखिनी बाला' में तरुणी विधवा श्यामा का करुण चित्र है जिसे भीतरी सामाजिक परिस्थितियों पर पुरुष-सम्बन्ध स्वीकार करने को बाधा करती है। वह निस्तार का कोई उपाय न देख विष खाकर प्राण दे देती है। अन्य नाटकों में भी इसी प्रकार दुःखान्त सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण है। जाति-प्रथा, छुआछूत, समुद्रसाद्रा-निषेध, फलित-ज्योतिष पर अन्धविश्वास, गोवध के कारण दूध-घी की महार्धता आदि अपने समय की सभी प्रकार की बुराइयों का भी नाटकीकरण इन लेखकों ने किया है। इस वर्ग के नाटक प्रायः प्रचारात्मक अथवा उपदेशात्मक दृष्टि से लिखे गये हैं इसलिये वे आकर में आज के एकांकियों के समान छोटे हैं। इनमें से अधिकांश नाटक दुखान्तक हैं, यह इनकी दूसरी विशेषता है। इस वर्ग के कुछ नाटक प्रतीक-पद्धति का भी अवलम्बन करते हैं, जैसे अंबिकादत्त व्यास का 'कलियुग और घी'। इस नाटक में दिखाया गया है कि कलियुग घी को चर्बी का मेल देकर भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता है, और उत्साह तथा एकता उसकी रक्षा करते हैं। खाद्य पदार्थ में मिलावट जैसे समाज विरोधी कृत्यों पर भी भारतेन्दु-युग के लेखकों की दृष्टि जाती है। सामाजिक चेतना की यह प्रबुद्धता नये से नये लेखकों में भी कम ही दिखायी पड़ती है।

नाटकों के इस वर्ग को कुछ विद्वानों ने 'समस्या प्रधान नाटक धारा' कहा है। पर समस्या प्रधान या समस्या नाटक में जिस निःसंग विचारशीलता, तर्क प्रवणता या बौद्धिकता की आज अपेक्षा रहती है, वह इन नाटकों में नहीं। ये नाटक हृदय को लक्ष्य करके लिखे गये हैं, बुद्धि को नहीं। परिष्कृत भावना अथवा संवेदन की भूमि पर भी इनकी प्रतिष्ठा नहीं हो पायी है। वस्तुतः ये प्रायः आवेग और उद्धेसाप्रधान नाटक हैं जिनका श्रेय सम्भवतः तत्कालीन आर्य-समाज के आन्दोलन को है। इन नाटकों में समष्टिगत बुराइयों का ही चित्रण है और सामान्य रूप से समष्टि पर उनका क्या प्रभाव पड़ रहा है, इसी का निरूपण है। पर विशेष रूप से इनका प्रभाव व्यक्ति पर और समाज पर कैसा पड़ रहा है, ऐसे निर्देशों का प्रायः अभाव है। फिर भी इन नाटकों में प्रायः रूढ़िजनित अथवा परम्परापोषित दुराग्रह और अभिनिवेश का सर्वथा अभाव है। ये नाटक अपने युग की गहन तमिस्त्रा को चीर कर जिस निर्भीकता के साथ प्रत्येक प्रकार की छोटी-बड़ी बुराई को घोषित करते हैं उसे देख सुन कर चकित रह जाना पड़ता है।

यह तथ्य प्रहसन-धारा के नाटकों के अनुशीलन से और भी प्रकाश में आ

जाता है 'भीतर-भीतर सब रस चूसे' कह कर भारतेन्दु ने बता दिया था कि अंगरेज केवल धन ही नहीं 'चूस' रहा अपितु यहाँ की संस्कृति और नैतिकता का हनन करके जातीय जीवन, जन-मन को अन्तःसार शून्य बना रहा है। इस प्रकार उन्होंने सब बुराइयों के मूल विदेशी शासन (मुसलमान और अंगरेज दोनों का) और उसके विविध आधार-स्तम्भों का सूक्ष्म विवेक अपने समकालीनों को प्रदान किया था अतएव उनके प्रबुद्ध समकालीनों ने सामाजिक अधोगति के विधायक उपादानों की कपाल-क्रिया अपने प्रहसनों में विधिपूर्वक की। विदेशी शासन ने जनता को निरन्न और विवसन कर दिया था, सब प्रकार उसकी स्थिति अरक्षित थी। दूसरी ओर इस शासन ने अपने सहायक कुछ ऐसे वर्गों की सृष्टि कर दी थी जिनको निःसहाय जनता की बहू-बेटी तक पर अपना जन्म सिद्ध हक्क समझने की खुली छूट थी। 'बूढ़े मुँह मुँहासे के ल.ला नारायनदास' गहरे ऐयाशी में गर्क ऐसे ही एक वर्ग प्रतिनिधि के रूप में अंकित किये गये हैं जिसका कामकाज तो बस यही है कि दिन भर बैठे-बैठे गड़-गड़ सटक सडसड़ाना और साँझ भई कि खटिये पर आके पड़े....। विदेशी शासकों के चरण जहाँ मजबूती से जमे उन नगरों का आचरण कितना भ्रष्ट हो गया था इसका घोर यथार्थवादी चित्रण 'कलिकौतुक रूपक' में प्रतापनारायण मिश्र ने किया है। अंगरेजों की आर्थिक शोषण-नीति के साधक उन धर्म प्राणसेठों और महाजनों के चरित्रचित्र भी इनमें हैं जो मंदिर, धर्मशाला, मदिरालय और वेश्यालय सबके एक साथ सूत्रधार हैं। साथ ही भारतीयता के कट्टर शत्रु उर्दू के प्रेमियों (कलिकौतुक रूपक के शंकरलाल) और अंगरेजियत के दीवानों (बंगाली बाबुओं) के भी जीवन्त रेखा चित्र उनमें प्राप्त हैं। सर्वोपरि नई समस्या के प्रकाश वाहक उन युवकों के चरित्र के भी कलुषित चित्र हैं जिन्होंने भारतीय नारी के जीवन को रौरव बना दिया है। 'शिक्षादान' की मालती ऐसे एक युवक की चर्चा करती हुई विवशता-पूर्ण नारी-जीवन की मूक विडम्बना को नियंत्रित विद्रोह का स्वर प्रदान करती है—

कभी हमसे बोलते नहीं इस बात का हमें कुछ दुःख नहीं है। जो बदा था सो भया, जी से सुखी रहै, जो भावै सो करै। हमारे भाग्य में जो सुख बदा होता, तो क्या तिरिया का जन्म पाती। नारी के जन्म समान घिनौना जन्म किसी का न होगा, जिसने पुर्बले में बड़े-बड़े पाप कर रखा है, वही स्त्री का जन्म पाती है। पराधीन तिस पर भी अनेक यातना जैसा पिंजरे में बन्द पखेरू हो....ऊँची दीवालों से घिरा हुआ घर क्या मानों पिंजरा है। सूर्यदेव भी जिसका मुख कभी नहीं देखते हों न हवा अंगस्पर्श कर सकती हो वही नारी सती, कुलवंती पतिव्रताओं में मुखिया समझी जाती है, जो बाहर कभी पाँव न रखती हो। लिखने-पढ़ने से चरित्र

बिगड़ जाता है इस कुसंस्कार के कारण उन्हें पढ़ना-लिखना नहीं सिखाया जाता। आठ ही वर्ष में हमें ब्याह देते हैं, सो भी बिना देखेभाले, बहुधा एक ऐसे के साथ कि जन्म ही नष्ट हो जाता है।

भारतेन्दु युग के इन लेखकों ने पददलित और प्रपीड़ित हिन्दू नारी को अपने हृदय की सम्पूर्ण सहानुभूति अर्पित की है। इस प्रक्रिया में लेखकों ने लम्पट पुरुषों की भी खूब छीछालेदर की है। 'शिक्षादान' का रसिकलाल, 'विवाहिता विलाप' का मनधीर, 'बूढ़े मुँह मुहासे' का बूढ़ा लाला, 'वारागंना रहस्य महानाटक' का राजीवलोचन, 'वेश्याविलास' का मकरध्वज, 'आनन्दोद्भव' नाटक का संन्यासी, वेश्या नाटक और कुदंकली (पं० जगन्नाथ शर्मा) के 'मधुकर' और काग आदि इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इन लेखकों ने ऐसी आदर्श पत्नियों का भी चित्रण किया है जिनके सामने बड़े से बड़े लम्पट पुरुष अपने को असमर्थ और असफल पाते हैं। ये आदर्श नारीपात्र गोस्वामी जी की इस उक्ति की याद दिलाते हैं—

डिगइ न सम्भु सरासन कैसे। कामी वचन सती मन जैसे।।

ऐसे आदर्श पत्नी-चरित्रों को प्रस्तुत करने वाले नाटकों में हनुमन्तसिंह रघुवंशी का 'सती चरित्र', रघुवीरसिंह वर्मा का 'मनोरंजनी नाटक', दुर्गाप्रसाद मिश्र का 'सरस्वती नाटक' आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रेम और सौन्दर्य की चेतना

भारतेन्दु काल के लेखकों ने अपनी प्रेम और सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति के लिये जो नाटक लिखे हैं, उनकी शैली उन संस्कृत नाटकों जैसी है जिनका अनुवाद पहले हो चुका था। इन अनूदित नाटकों में 'शकुन्तला' और 'रत्नावली' सर्वाधिक लोकप्रिय थे। भारतेन्दु इस दिशा में कोई मौलिक कार्य करने का अवकाश नहीं निकाल पाये थे। "चन्द्रावली" उन्होंने भक्तितत्व का कलात्मक निरूपण करने के लिये लिखी थी यद्यपि उसमें प्रेमाकुलताजन्य आवेगों की भी ऐसी सघनता है जो अन्यत्र दुर्लभ है। अतएव इस दिशा में उनकी नाटकीय कृतियों में कर्पूर मंजरी और विद्यासुन्दर के रूपान्तर का ही उल्लेख किया जा सकता है जिससे उन्होंने अपनी रुचि और प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है।

प्रत्येक क्षेत्र में नवीनता तथा मौलिकता के आग्रही इन उत्साही लेखकों को संस्कृत में निरूपित प्रेम का आदर्श ही क्यों रुचिकर हुआ? इसका कारण यह कि संस्कृत नाटकों में प्रायः प्रेम के बड़े स्वस्थ और मुक्त स्वरूप के दर्शन होते हैं। यह प्रेम यदि अनैतिक नहीं तो माता-पिता और समाज उसके विकास और परिपाक के मार्ग में कोई बाधा उपस्थिति नहीं करते। प्रेमियों के मार्ग

की बाधाएँ या तो दैवी होती हैं अथवा प्रतिद्वंद्वियों की ईर्ष्या से उत्पन्न। इन बाधाओं के अतिक्रमण की अवधि में प्रेमी-युगल का यौवनगत उद्दाम—आवेश संयत हो जाता है और मिलन की पुण्यबेला में उनका प्रेम शारदीया गंगा के समान प्रसन्न और धीर-गम्भीर होकर प्रकट होता है। प्रेम के इस मुक्त और पवित्र निर्बाध किन्तु संयत स्वरूप की ओर इन लेखकों का झुकाव होना स्वाभाविक था।

पर बाल विवाह अनमेल विवाह और असंख्या विधवाओं के अभिशापमय जीवन की गर्हित विडंबनाओं से परिपूर्ण समाज में क्या प्रेम के इस उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठा सम्भव थी ? प्रेमाख्यानमूलक नाटकों के अनुशीलन से यह भासित होता है कि नाटककार बड़ी महत्वाकांक्षा के साथ इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं परन्तु सामाजिक कवि कृति और दरबारी काव्य परंपरा के कुरुचिपूर्ण संस्कारों के कारण अपने प्रयास में बुरी तरह असफल होते हैं। श्रीनिवासदास जैसे इस काल के समर्थ लेखक भी इन्हीं कारणों से "तप्ता-संवरण" नाटक में सफलता नहीं पाते।

'तप्तासंवरण' की वस्तु और उसका विन्यास दोनों "अभिज्ञान शाकुतंल" से प्रभावित है। पहले अंक में तप्ता के लता-मंडप का दृश्य है जिसमें संवरण पहुँचता है। कण्व के आश्रम में शकुन्तला के लता-कुंज के निकट पहुँचने पर दुष्यन्त को जिस प्रकार शुभ-शकुन हुए थे वैसे ही संवरण को भी होते हैं। जब तप्ता आती है तो वह भी वृक्षों की ओट में छिपकर दुष्यन्त की तरह उसको देखता और उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। आगे चलकर जब दोनों का प्रेम परिपक्व होकर गांधर्व विवाह में परिणति प्राप्त करता है, तो इस नाटक में भी दुर्वासा-शाप की घटना की आवृत्ति होती है। गौतम ऋषि के आने पर तप्ता के ध्यान में डूबा संवरण उनका यथोचित सत्कार नहीं कर पाता, तो वे शाप देते हैं कि वह जिसके ध्यान में है वही उसे भूल जाय। प्रार्थना करने पर इस शाप के निवारण का उपाय भी वे दुर्वासा के समान ही बता देते हैं। परिणामस्वरूप प्रेमी-युगल को दीर्घकाल तक असह्य विरह-बाधा सहनी पड़ती है। अन्ततः संयोगवश शाप-मोचन की परिस्थिति भी आ जाती है, और दोनों का विधिवत् विवाह हो जाता है।

"अभिज्ञान शाकुन्तल" की अनुकृति का यह प्रयास साधारण श्रृंगारी रचना बनकर रह गया है। कारण, इसमें पौराणिक औदात्य का सर्वथा अभाव है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संवरण के रूप में हमें एक निरे स्त्रैण व्यक्ति के दर्शन होते हैं और तप्ता तथा उसकी समवयस्क कुमारियों के चरित्र में भी स्त्रियोचित

शील और शालीनता की कमी खटकने वाली है। कथोपकथन अत्यंत आलंकारिक है और उनमें प्राचीन चमत्कारिक उक्तियों को गद्य में प्रस्तुत किया गया है।

१. तप्ता (लजाकर संवरण से)—महाराज, आपका कल्याण हो !

संवरण—प्यारी ! मेरे कल्याण में अब क्या संशय है। एक खंजन के कमलस्थ देखने से अमित लाभ होता है। मैंने तो एक कमल पर दो खंजन निहारें, मेरे कल्याण में क्या संदेह है ?

२. संवरण—हे मित्र, उसमें मेरा विश्वास नहीं है, तथापि मेरा मन उसी में लगा रहता है। आहा पवन के सै उसकी कटि लचकती, पान की पीक उसके कण्ठ में झलकती है जब उसके ओष्ठ की अरुणाई से मुझे मोती में विद्रुम संदेह पड़ गया, तब उसने मुसकरा कै मेरा सन्देह हर लिया अब वही मुसकान मेरे मन को हरण करै है।

३. हे प्रिया, मुझे अकेले देख बन के पशु-पक्षी भी मेरी हँसी करते हैं। हे पिकवयनी, मृग के नयन, गज की चाल, कुन्द की कली, अनार के दाने, कमल का विकास देख मेरे मन को बड़ा दुख होता है, तू जल्दी आकर इनका अहंकार हर !

कथोपकथनों की यह आलंकारिता सरसता भी इसे अस्वाभाविक और औदात्यहीन होने से नहीं बचा पायी है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि संस्कृत नाटकों से प्राप्त इसके शरीर में हासोन्मुख रीतिकालीन काव्य का आत्मा ही प्रतिष्ठित किया जा सका है। किशोरीलाल गोस्वामी जैसे कुछ लेखक तो इस दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गये हैं। उनके 'मयंक मंजरी' महानाटक का वातावरण उत्तर रीतिकाल में काव्य प्रेमी राजा रईसों द्वारा आयोजित उन गोष्ठियों और सम्मेलनों जैसा है जिनमें अधिकांश निम्नकोटि के शृंगार रस के सवैया और घनाक्षरी धुँवाधार पढ़े जाते हैं। इस नाटक में भी अधिकांश कथोपकथन सवैया जैसे छन्दों में है, और गद्य भी सानुप्रास है परन्तु इन सब में जुगुप्सा उत्पन्न करने वाली अश्लीलता है। कुछ गीत और टेकें तो ऐसी हैं जो प्रायः अर्थहीन हैं और उनका लक्ष्य कामुकतापूर्ण उत्तेजक वातावरण के निर्माण के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होता। कुमारियों द्वारा अमर्यादित हास-परिहास और अश्लील भाव-भाषा का प्रयोग इस नाटक का अक्षम्य दोष है। इस महानाटक में रंगमंच पर चुम्बन और आलिंगन का दृश्य भी प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः रीतिकाल की जिन प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रान्ति के विधायक होने का श्रेय इस युग को प्राप्त है वे ही सब इसमें घनीभूत हो उठी हैं।

परन्तु सन्तोष को बात तो यह है कि कुछ नाटककारों ने अपनी प्रेम और सौन्दर्य चेतना को अधिक युगानुकूल शैली एवं कथानक के माध्यम से व्यक्त किया है। इस वर्ग के लेखकों ने सबसे पहला काम यह किया कि पौराणिक और ऐतिहासिक कथानकों को छोड़कर लौकिक तथा स्वकल्पित कथानकों के नाटकीकरण में प्रवृत्त हुए। इसलिए इनमें पक्ष-प्रतिपक्ष की स्थापना में तथा वस्तु-विन्यास के अन्तर्गत विविध परिस्थितियों की योजना में युग की गहरी छाप पड़ी है। यह ऐसा युग था जब दुराग्रही और अविवेकी माता-पिता बेमेल अथवा अनमेल विवाहों के द्वारा समाज के असंख्य तरुण-तरुणियों का जीवन बरबाद कर रहे थे विशेष रूप से ऐसे जड़ जनकों के अनेक चित्र इस वर्ग के नाटकों में उपलब्ध हैं। वास्तव में उन नाटकों में प्रेम का विकास प्रायः माता-पिता की ओर से ही बाधा उपस्थित किये जाने पर होता है। उदाहरणस्वरूप खड्गबहादुर मल्ल के 'रति-कुसुमायुध' नाटक में अनुरागपुर के युवराज कुसुमायुध और प्रेमपुर की राजकुमारी रति के प्रेममार्ग में राजकुमारी के पिता का हठ ही बाधक है, जिसके कारण दोनों को बहुत कष्ट झेलने पड़ते हैं। युवराज कुसुमायुध अपने सामने उपस्थित समस्या पर विचार प्रकट करने के बहाने लेखक के युग की अनमेल विवाह की समस्या पर आक्रोश व्यक्त करते दिखायी देते हैं—

'वर्तमान समय में कई एक मूर्ख माता-पिता जानबूझ कर पुत्र-पुत्री को नष्ट करते हैं। यद्यपि स्त्रियों के लिये परम धर्म है कि पति की सेवा को ही सर्वोपरि समझना चाहिये। पर इससे यह अर्थ नहीं है कि अवश्य अयोग्य ही विवाह किये जायँ। और केवल किसी मूर्ख ब्राह्मण से जन्मपत्र दिखा लेने पर ऐसा किया जाय। वरन् पूर्वोक्त धर्म का निर्वाह तो तभी हो सकता है जब युवा होने पर परस्पर प्रेमवश ब्याह हुआ करें।'

'रतिकुसुमायुध' नाटक पाँच दृश्यों में विभाजित है। इसमें नांदी और प्रस्तावना नहीं है। नाटक के वस्तु-संविधान पर 'अभिज्ञान शाकुंतल' का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इसके प्रथम दृश्य में दिखाया गया है कि अनुरागपुर का युवराज कुसुमायुध अपने तीन सखाओं के साथ आखेट करने निकलता है और वन में मार्ग भूलकर प्रेमपुर के दुर्ग के समीप पहुँच जाता है। वहाँ पहुँच कर वह प्रेमपुर की राजकुमारी रति तथा उसकी सहेलियों के गीत से आकृष्ट होता है। दूसरे दृश्य में कुसुमायुध और रति का मिलन होता है, दोनों में पूर्वराग का उदय होता है। प्रथम मिलन की इस बेला में ही कुसुमायुध की सेना भी उसे खोजते हुए वहाँ पहुँच जाती है। दोनों मिलकर तत्काल बिछुड़ जाते हैं। इस दृश्य की योजना पर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' तथा 'रत्नावली' दोनों का प्रभाव पड़ा है। इस

दृश्य में अस्वाभाविकता और अनौचित्य भी है। राजकुमार के तीनों सखा राजकुमारी की सखियों में से एक-एक को चुन लेते हैं और अविलम्ब उन्हें 'प्यारी' कहने लगते हैं। बिदा होते समय सब रोते भी हैं। तीसरे दृश्य में कुसुमायुध के वियोग का वर्णन है। वह वियोग में अतिशय व्यथित और आत्मविस्मृत है, किन्तु जब उसे गोधातक सिंह का समाचार मिलता है तो वह उसे मारने को उद्यत हो जाता है। यह दृश्य-योजना 'शाकुन्तल' के छठे अंक के अनुसार है। चौथे दृश्य में मनोहर माधुरी के द्वारा कुसुमायुध का पत्र विरहसन्तप्ता रति के पास पहुँचता है। पाँचवें दृश्य में उपवन में रति का पुनर्मिलन तथा गान्धर्व विवाह होता है। खड्गबहादुर मल्ल की 'कल्पवृक्ष', 'भारत-आरत', 'महारास', 'हरितालिका नाटक' आदि अन्य कृतियाँ भी उपलब्ध हैं। उन सबमें रोमांटिक तत्वों की प्रमुखता है किन्तु कुल मिलाकर मल्ल जी की प्रेम सौन्दर्य-चेतना अपने समसामयिक लाला श्रीनिवासदास, अमान सिंह गोटिया, किशोरीलाल गोस्वामी आदि की अपेक्षा अधिक परिष्कृत प्रतीत होती है।

अमान सिंह गोटिया के 'मदन मंजरी' नाटक में भी राजकुमार मदनमोहन तथा राजकुमारी मंजरी के प्रेम में बाधक कुमारी के पिता हैं, जो दोनों के पत्र-व्यवहार का पता पाकर राजकुमार को पकड़कर बन्दीगृह में डाल देते हैं—मयंक-मंजरी नाटक में भी मयंक के पिता सुमंतदेव उसका विवाह इन्द्रायुध से करना चाहते हैं। परन्तु मयंक और वीरेन्द्र परस्पर अनुरक्त हैं, इसीलिए सुमंतदेव मयंक मंजरी के सुकुमार शरीर में असंख्य यम-यातना सदृश क्लेश पहुँचाते हैं, और राक्षस का धर्म व्यवहार में लाते हैं। रणवीर प्रेममोहिनी नाटक में राजकुमारी प्रेममोहिनी के पिता सूरत-नरेश ऐसे ही राक्षस-धर्मी हैं जो रणधीर सिंह में अनन्य अनुरागवती अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ नहीं होने देते। इसका कारण यह है कि रणधीरसिंह राजकुमार नहीं, वरन् एक साधारण राजपूत है। इस नाटक की विशेषता यह है कि इसमें आर्थिक वैषम्य के कारण होने वाले अनमेल विवाहों की समस्या की ओर संकेत किया गया है और राजाओं के वर्ग की अलोकोपयोगी तथा समाज विरोधी प्रवृत्तियों को भी प्रकाश में लाया गया है। सूरत के राजा का अभिमान तथा अविवेकी पिता का दुराग्रह मिलकर अपनी पुत्री का जीवन नष्ट कर देता है। इस नाटक का अंत दुःखद होता है। इस वर्ग के नाटकों से इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें समाज की वेदनाओं और संघर्षों का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है, और जिनमें युग का यथार्थ जीवन, यौवन और प्रेम सबको शूलों से भरता दिखायी देता है। लाला श्रीनिवासदास ने 'तप्तासंवरण' के बाद 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक लिखा।

कहा जाता है कि उनका प्रथम नाटक 'प्रहलाद चरित्र' और अंतिम 'संयोगिता स्वयंवर' थे किन्तु उनके नाटकों में 'रणधीर प्रेममोहिनी' को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह किसी दूसरे नाटक को नहीं। रणधीर प्रेममोहिनी अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय हिन्दी नाटकों में से एक था इसलिए उसके अनुकरण में कई अन्य नाट्यकृतियाँ लिखी गयीं जिनमें शालिग्राम वैश्य का 'लावण्यवती सुदर्शन', जवाहरलाल वैद्य का 'कमलमोहिनी', भँवरसिंह, श्रीबालमुकुन्द पाण्डेय कृत गंगोत्री नाटक आदि उल्लेखनीय हैं। ये सब नाटक दुःखान्त हैं और शेक्सपियर की दुःखान्तकियों की दृश्य योजना से प्रभावित हैं। इन नाटकों में रंगमंच पर ऐसे अनेक दृश्य दिखाये गये हैं जो भारतीय परंपरा में वर्जित हैं।

इस वर्ग के कवि—कल्पित लौकिक प्रेमाख्यानमूलक नाटक अनेक हैं और उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे भक्तिकाल के सूफियों के प्रेमाख्यानक-मूलक काव्यों से कई बातों में समानता रखते हैं। उन प्रेमाख्यानक काव्यों में भी प्रायः प्रेमियों के मार्ग में माता-पिता की ओर से ही बाधा उपस्थित की जाती है। प्रेमकाव्यों में जिस प्रकार नायक को प्रेमिका की प्राप्ति के लिये असह्य कष्ट सहने पड़ते हैं, उसी प्रकार इन प्रेम-नाटकों में भी नायक ही प्रणय मार्ग के अधिक कष्ट झेलते हैं। जिस प्रकार प्रेमकाव्यों में पशु-पक्षियों के सहयोग और अतिप्राकृत उपादानों के उपयोग उदाहरण मिलते हैं उसी प्रकार के एक दो उदाहरण इन नाटकों में भी उपलब्ध हो जाते हैं। उदाहरण के लिए शालिग्राम के नाटक माधवानल कामकदंला के एक पूरे गर्भांक में नायक-नायिका अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त एक दूसरे को सुनाते हैं। 'मदन मंजरी' नाटक के अन्त में मंजरी अप्सरा बनकर राजकुमार मदनमोहन के प्रेम की परीक्षा लेती है।

ये सब नाटक रसानुगामी हैं चरित्रानुगामी नहीं। इनमें विविध अवस्थाओं की अवस्थिति, पात्रों की कल्पना, संवादों की योजना और भाषा का रूप, विधान आदि सब कुछ रस विशेष की निष्पत्ति की दृष्टि से किया गया है। इस दृष्टि से इनको सफलता भी मिली है। कारण, इन नाटकों के प्रायः विविध स्थायी और संचारी भावों एवं अनुभावों की बड़ी सरस अन्विति मिलती है तथा विभावों का विधान भी प्रायः अभीष्ट लक्ष्य के अनुकूल दिखाई पड़ता है परन्तु चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटकों की विशेषताओं का अनुसंधान इन नाटकों में व्यर्थ होगा। प्रेममार्ग की एकान्तिकता की ओर झुकाव होते हुए भी इन नाटकों में लोक पक्ष की अव-हेलना नहीं की गयी है। 'रणधीर प्रेममोहिनी का रणधीर उच्चकुल का होते हुए भी प्रजा का प्रतिनिधि बनकर बोलता है।' रति कुसुमायुध का कुसुमायुध भी

अत्यंत विरह विह्वलता की अवस्था में भी गोघातक सिंह का समाचार पाकर उसे मारने को उद्यत हो जाता है।

जिस प्रकार सभी वर्गों के नाटकों में हमें प्रतीक-परंपरा की रचनाएँ उपलब्ध होती आयी हैं उसी प्रकार इस वर्ग के लेखकों द्वारा अभी इस दिशा में किये गये एकाध अधूरे प्रयास का परिचय हमें मिलता है। इस दृष्टि से खड्गबहादुर मल्ल का रति कुसुमायुध नाटक विशेष उल्लेखनीय है। इस नाटक में लेखक प्रेमपुर और अनुरागपुर के रति तथा कुसुमायुध के प्रेम-प्रसंग द्वारा मानवीय प्रेम और अनुराग के मूल में व्याप्त काम-संबंधी शाश्वत प्रश्न को उठाने का उपक्रम करता प्रतीत होता है। दोनों के सहचर-सहचरियों के नाम मधुकर, माधुरी, कुमोदिनी, नलिनी आदि इस नाटक के वातावरण के रूप में वर्तमान कुसुमाकर-वसंत की ओर संकेत करते हैं, जो रति और कुसुमायुध का अनन्य सहचर है। पर, समस्या के संबंध में लेखक की दृष्टि बहुत अस्पष्ट है, और प्रतीक विधान इतना दुर्बल है कि इस लक्ष्य को लेकर किया गया लेखक का श्रम भी आसानी से लक्षित नहीं होता।

प्रतीक नाटक—हिन्दी में प्रतीक नाटक लिखने की परंपरा सीधे संस्कृत से आयी है। भारतेन्दु जी ने भी प्रतीक नाटक लिखे थे, इसका विवेचन यथास्थान हो चुका है। भारतेन्दु-युग के कुछ लेखकों ने भी प्रतीक नाटकों की रचना की है, इनमें कमलाचरण मिश्र का लिखा हुआ 'अद्भुत' नाटक (१८८५), रतनचन्द कृत 'न्यायसभा' (१८९२) इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण नाट्य-रचनायें हैं। इन नाटकों की विशेषता यह है कि इनमें भावों और मनोवृत्तियों को पात्रों का रूप दिया गया है।

सांगीत

इस युग के लेखकों की प्रेम और सौन्दर्य चेतना की अभिव्यक्ति ऐसे नाटकों के द्वारा भी हुई जिनको सांगीत कहते हैं। ये सांगीत वास्तव में नौटंकी के रंग-मंच और अभिनय-परंपरा को दृष्टि में रख कर लिखे गये गीति-रूपक हैं। नौटंकी हमारे गीति-रूपक नाट्य की अति प्राचीन परंपरा है, यह पहले विस्तार से बताया जा चुका है। गीति-रूपक या गीति-नाट्य इसी परंपरा का पद्यबद्ध नाटक है। सांगीतों के रूप में इसी शैली के साहित्यिक नाटक भारतेन्दु-काल में प्रस्तुत किये गये, और इन्हीं सांगीतों से आगे चलकर हमारे गीति-नाट्यों की साहित्यिक धारा चली।

भारतेन्दुकाल के लिखित सांगीतों में प्रतापनारायण मिश्र का 'सांगीत शाकुंतल', गुरु गैबीनाथ का 'सांगीत' 'सांगीत गोपीचंदोपाख्यान', अमानत की

'इन्दर सभा' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें अमानत की 'इन्दर सभा' का प्रणयन सबसे पहले सन् १८५३ ई० में हुआ था, जिसे कुछ विद्वानों ने प्राप्य रंगमंचीय नाटकों में सबसे पुरातन नाटक माना है।[1] और उसके ऐतिहासिक महत्व के प्रतिपादन में अनेक पन्ने रँगे हैं। इस प्रकार के कथन अपनी नाट्य-परंपरा की प्राचीनता के संबंध में हिन्दी भाषा-भाषियों में प्रचलित अज्ञान का परिचय तो देते ही हैं, अपनी शब्दावली से अनेक प्रकार के भ्रमों की सृष्टि भी करते हैं। नाटक तत्वतः दृश्यकाव्य होने के कारण सतत रंगमंच-सापेक्ष अर्थात् रंगमंचीय है, अरंगमंचीय है, अरंगमंचीय कृति नाटक स्वीकार नहीं की जा सकती। पुनश्च, रंगमंचीय नाटकों की परंपरा भी हिन्दी में लीलाओं के रूप में अविच्छिन्न रूप से शताब्दियों से चली आ रही है, जिनका विवरण हम पीछे प्रस्तुत कर चुके हैं। इनके रहते अमानत की इन्दर सभा को प्राप्त रंगमंचीय नाटकों में भी सबसे पुरातन स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राप्य अर्थात् जिनको अभी प्रकाश में आना है उनकी चर्चा का अधिकार किसे है? 'इन्दर सभा' वास्तव में नौटंकी अथवा स्वांग का वाजिदअली शाह की रुचि के अनुकूल संयोजन मात्र है। इन्दर सभा में ऐसे कोई विशिष्ट गुण नहीं, जो नौटंकी की परंपरा में पहले से ही प्राप्त न हों। इसके अतिरिक्त भाषा और भाव दोनों की दृष्टि से वह ऐसी भ्रष्ट रचना है कि उसे समकालीन लेखकों ने हिन्दी नाटकों की परंपरा में सम्मिलित करना ही उचित नहीं समझा था। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने तो इसीलिए उसी समय उसे 'चौपट' विशेषण से भूषित किया था और 'अकबर-गोरक्षा-न्याय' नाटक के लेखक जगतनारायण ने उसे देश का नाश करने वाला बताया था।

इस युग में नौटंकी का सबसे साहित्यिक रूप हमें प्रतापनारायण मिश्र के 'सांगीत शाकुंतल' में मिलता है। इसकी भूमिका में लेखक ने बताया है कि एक ओर तो यह उपालम्ब भी दूर कर देना चाहता है कि हिन्दी में ऐसा कोई नाटक नहीं जिसे सचमुच गीतिरूपक कह सके, और दूसरी ओर कालिदास की कविता की उन्हीं के देश में उसके भ्रष्ट और अनुपयुक्त अनुवाद करके जो दुर्दशा की गयी है, उसका प्रायश्चित करना चाहता है। लेखक का पहला उद्देश्य तो सिद्ध ही हुआ और दूसरा भी इस दृष्टि से सफल हुआ कि उसने कालिदास के विश्व-प्रसिद्ध नाटक को प्रत्येक अशिक्षित ग्रामवासी के लिए अत्यंत सरस और सुबोध रूप में प्रस्तुत कर दिया। इस दृष्टि से भी प्रतापनारायण मिश्र की कृति का महत्व है कि इसने नौटंकी की अंतर्निहित शक्ति का फिर से उद्घाटन किया,

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त का हिंदी नाट्य साहित्य का इतिहास, पृ० ९।

भारतेन्दु नीलदेवी रचकर इस दिशा में मार्ग-दर्शन कर गये थे।

इस सांगीत में खड़ी बोली, अवधी और ब्रजभाषा तीनों का प्रयोग है। उच्चवर्ग के लोग खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं, मध्यम अथवा निम्नवर्ग के पात्र अवधी बोलते हैं, और गीत ब्रजभाषा में हैं। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखक कथोपकथनों की पद्यबद्ध भाषा को आश्चर्यजनक रीति से प्रति-दिन के व्यवहार की बोली के निकट ले आया है। पाठ्य की कला में अभ्यस्त अभिनेता के मुँह से वह गद्य ही प्रतीत होगा। इसके दो उदाहरण पर्याप्त होंगे—

१. राजा—न जाने क्या व्यर्थ बक रहे हो !
अरे कोई युक्ति वह बताते कि जिसमें ऋषि भी प्रसन्न होते, जगत में 'हम' पुण्य कीर्ति पाते। तपस्वियों पर 'तो' हम जो तन मन भी वार दें तो महा उचित है। 'अजी' उन्हीं के प्रसाद से तो 'हमारा होता' सदैव हित।

२. प्रतिहारी—अबै औती रहे पै फिरि गई घर।
जौ दीख्यनि यह मोरे हाथे माँ चिट्ठी।
तौ अपना फिरि न आई नाथ ऐसी।

प्रतिहारी की यह उक्ति हिन्दी में अनुकांत काव्य का प्रायः सबसे पुराना उदाहरण है। महाकवि निराला जी ने नाटकीय कथोपकथनों में मुक्तछंद के प्रयोग की आवश्यकता अनुभव की थी।[1] प्रतापनारायण मिश्र के इस प्रकार के प्रयोग उसके पूर्वरूप माने जा सकते हैं। इनके सांगीत में शकुंतला द्वारा गवाये गये एक-आध गीत अक्षम्य रूप से भद्दे भी हैं, जो विश्वमानस में प्रतिष्ठित शकुन्तला की अशेष सौंदर्य मंडित-गरिमा को असभ्यता के साथ आघात पहुँचाते हैं।

विविध सामाजिक प्रसंग

नाटक लिखने का उत्साह भारतेन्दु-युग के लेखकों में इतना था कि उनमें से कुछ ने तो अपने समय की साधारण से साधारण घटना के नाटकीकरण में भी अपनी शक्ति लगाई। इसका एक उदाहरण इटावा के किन्हीं बलदेव प्रसाद का लिखा 'रामलीला विजय' नाटक है जिसमें सन् १८८६-८७ के लगभग विजया-दशमी और मुहर्रम के साथ-साथ पड़ने पर हिन्दू-मुस्लिम दंगे की जो परिस्थिति उत्पन्न हुई थी, उसका नाटकीय विवरण है। मुसलमानों के दुराग्रह से दबकर

१. देखिए—परिमल की भूमिका।

कलेक्टर फिशर ने हिन्दुओं को रामलीला का अपना पुरातन मार्ग बदल देने की आज्ञा दी थी, अंत में संगठित रूप से हिन्दू के द्वारा न्याय की माँग करने पर यह आज्ञा रद्द हुई। राम का विमान पुराने मार्ग से निकला, तथा लेखक को 'रामलीला विजय' का मसाला मिला।

भारतेन्दु जी ने हिन्दी-उर्दू की समस्या पर गहराई से विचार किया था। उन्होंने प्रमाणिक रूप से यह स्वीकार किया था कि हिन्दी और उर्दू में कोई भेद नहीं है। उर्दू-हिन्दी की एक शैली मात्र है। फिर भी सम्प्रदायवादी लोगों और हिन्दी-उर्दू की समस्या को लेकर हिन्दू-मुसलमान में भेद उत्पन्न करने वाली अंग्रेज सरकार ने एक सीधी बात को विषम समस्या बना दिया। इस समस्या को लेकर भारतेन्दु जी ने उर्दू का स्यापा लिखा था, उसी प्रकार उनके समकालीन लेखकों ने इस समस्या को लेकर कई नाटक लिखे।

इसी श्रेणी के कुछ नाटक उन परिस्थितियों को लेकर निर्मित हुए जो उर्दू को कचहरियों और दफ्तरों की भाषा स्वीकार करने से उत्पन्न हुई थी। ऐसी अनेक कृतियों में बलिया के पं० रविदत्तशुक्ल का 'देवाक्षर चरित' एक बड़ा सरस और गंभीर प्रहसन है, जिसमें फारसी अक्षरों के दुर्गुणों से दैनिक व्यवहार में उत्पन्न कठिनाइयों का चित्रण है। मेरठ के प्रसिद्ध हिन्दी-सेवी पं० गौरीदत्त का 'सर्राफी' नाटक भी इसी श्रेणी में गिना जा सकता है। इस श्रेणी के अन्य नाटकों में बाबू रत्नचन्द्र का लिखा हुआ हिन्दी-उर्दू नाटक तथा रामगरीब चौबे का लिखा हुआ 'नागरी विलाप' नाटक भी उल्लेखनीय है। आर्यसमाज और सनातन धर्म के बाहरी झगड़ों को लेकर भी 'दयानन्द परास्त' जैसे एकाध भद्दे नाटक लिख डाले गये।

कला-पक्ष

आलोच्य युग के नाटककार भारतेन्दु के दिखाये हुए मार्ग पर चले थे, इसलिए उनकी दृष्टि अपने युग के प्रेक्षक और रंगमंच दोनों पर सदैव रही। परिणामस्वरूप इनके नाटकों में प्रायः अनभिनेयता का दोष नहीं आने पाया और दृश्यता के गुणों का बाहुल्य रहा जिनके द्वारा प्रेक्षक आकर्षित तथा युगधर्म में दीक्षित हुए अपने प्रेक्षकों को अधिकाधिक वैविध्यपूर्ण मनोरंजन प्रदान करने के लिये इन लेखकों ने वस्तु-प्रयोग के अनेक प्रकार के कौशलों का उपयोग करते हुए रूपक और उपरूपक कई भेदों की अवतारणा की। पौराणिक और ऐतिहासिक प्रसंग तथा सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक विषयों को लेकर नाटक और नाटिकाएँ लिखी गयीं। रात-रात भर नाटक देखने वाले दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रखकर जिनकी संख्या आज भी हमारे समाज में कम नहीं 'रणधीर

प्रेममोहिनी', 'सांगीत शाकुंतल' और 'माधवानल-कामकंदला' जैसे बड़े-बड़े नाटक और 'मयंक मंजरी' 'जैसे महानाटक भी लिखे गए। असाधारण शौर्य के प्रसंगों को लेकर एक ओर जहाँ 'प्रद्युम्न-विजय' तथा 'वारिदनाद-वध' जैसे एकांकी व्यायोग लिखे गये, वहाँ भक्ति, त्याग, बलिदान और अतिकरुण सामाजिक प्रसंगों को लेकर भी छोटे-छोटे नाटक लिखे गये जिन्हें क्रियाकल्प की दृष्टि से एकांकी कहना ही उपयुक्त होगा। हमारे यहाँ उत्सृष्टिकांक, वीथी, नाट्यरासक, काव्य, प्रेंखण, रासक, श्रीगदित, हल्लीश आदि अनेक प्रकार के सरस एकांकी लिखे जाते रहे हैं। परंतु उल्लिखित एकांकियों में से किसी पर इन वर्गों में से किसी एक के लक्षण पूरे-पूरे लागू नहीं होते। शास्त्र-प्रसिद्ध एकांकियों में माधव प्रसाद लिखित ''हास्यार्णव'' जैसे भाण और अनेक प्रकार के प्रहसन अवश्य प्राप्त होते हैं। 'रति कुसुमायुध', 'माधवनालन-कामकंदला' और 'रणधीर-प्रेममोहिनी' के वर्ग के प्रेमाख्यानक-नाटक प्रकरण कहे जा सकते हैं क्योंकि उनका वृत कवि कल्पित और लौकिक है तथा शृंगार अंगी रस है। कमी केवल इतनी ही है कि इनके नायक प्रायः धीरशान्त विप्रट अमात्य अथवा वणिक् न होकर धीरोदात्त या धीरललित राजा किंवा राजकुमार हैं।

इस काल के बहुत से नाटकों में प्रस्तावना मिलती है, जिनमें प्रायः तत्कालीन देश, धर्म अथवा समाज की दशा का वर्णन और नाटक के उद्देश्य का कथन रहता है। प्रतापनारायण मिश्र के 'सांगीत शाकुन्तल' जैसे कुछ नाटकों की प्रस्तावना में सूत्रधार ने कवि का तथा उसके वेश का परिचय भी दिया है। अन्य अनेक नाटकों में प्रस्तावना नहीं है, इसका कारण अंगरेजी नाटकों का प्रभाव माना जाता है। वैसे हमारे यहाँ भी प्रेंखण और रासक आदि असूत्रधार नाटक लिखे और खेले जाते रहे हैं। पता नहीं भारतेन्दु-युग के असूत्रधार नाटककारों की दृष्टि इस ओर थी अथवा अंगरेजी नाटकों की ओर।

इस प्रसंग में बात यह स्पष्ट हो जानी चाहिए कि इन लेखकों ने अपने युग के प्रेक्षक को दृष्टि में रखकर जहाँ अपने नाटकों में अभिनेयता आदि पहले बताये हुए अनेक गुणों का समावेश किया, वहाँ वे प्रेक्षक वर्ग की बौद्धिक और सांस्कृतिक स्थिति से प्रभावित होने से भी अपने को न बचा सके। इस समय देश में निरक्षरता का साम्राज्य था, अतएव नाटकों के प्रेक्षक वर्ग का अशिक्षित होना स्वाभाविक था। फलतः भारतेन्दु-काल के लेखक को अपने नाटकों द्वारा ऐसे प्रेक्षकों को युग-धर्म का संदेश सुनाना पड़ रहा था जिसमें समीक्षा-बुद्धि का सर्वथा अभाव था और उँगलियों पर गिने जाने योग्य जो थोड़े बहुत पढ़े-लिखे

लोग विशेषत: नगरों में थे, उनमें भी आलोचनात्मक वैदग्ध्य का विकास नहीं हो पाया था। भरत और धनंजय के इस देश में इस समय घोर अशिक्षा के कारण नाट्य-चिन्तन शून्य-बिन्दु तक पहुँचा हुआ था। भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक निबन्ध लिखकर नाट्य-चिन्ता का मार्ग तो खोला था, पर उस पर चलने वाले अन्य जन आगे नहीं आ रहे थे। इस परिस्थिति में उस समय का नाटककार यदि अपार विविधता और मनोरंजकता के साथ युग जागृति का संदेश सफलतापूर्वक सुना देता था तो फिर उससे कला पक्ष की ओर विशेष ध्यान देने की माँग करने वाला कोई नहीं होता था।

इसका परिणाम यह हुआ कि इस युग का नाटक-साहित्य जनता को युग-धर्मोन्मुख बनाकर प्रगति के पथ पर प्रेरित करने का ऐसा शक्तिशाली साधन बना, जैसा संभवत: किसी दूसरी भाषा का कम ही हो पाया होगा परन्तु साथ ही साथ इसमें यह कमी भी रह गई कि उसका कला-पक्ष प्राय: उपेक्षित रहा। अतएव वह परिणतिरमणीयता से मंडित न किया जा सका। इसीलिये जब हम भारतेन्दु-युग के नाटक के वस्तु-विन्यास पर दृष्टि डालते हैं, तो उसमें विविधता के साथ-साथ विषमता भी पाते हैं। उसके अन्तर्गत एक ओर जहाँ हमें सुगठित और सुयोजित कथा वस्तु वाले नाटक मिलते हैं, तो दूसरी ओर ऐसे भी अनेक मिलते हैं जिनकी वस्तु योजना शिथिल और विशृंखल है। सुगठित और सुयोजित कथावस्तु-युक्त नाटकों का प्रणयन करने वालों में राधाचरण गोस्वामी अग्रगण्य हैं। उनके नाटकों में कार्य-व्यापार का जैसा संकलन और समन्वय मिलता है, वैसा आज भी बहुतेरे नाटकों में नहीं दिखाई देता है। वे अपने नाटकों में प्रासंगिक कथा की सृष्टि किये बिना तीर की तरह सीधे लक्ष्य पर पहुँचते हैं। उनके 'अमरसिंह राठौर', 'चन्द्रावली', 'श्रीदामा' आदि नाटक तथा अन्य प्रहसन इसके प्रमाण हैं।

बड़े-बड़े नाटकों के लिखने वालों में सबसे व्यवस्थित वस्तु योजना का विधान करने वाले राधाकृष्णदास हैं। उनका नाटक 'महाराणा प्रताप' अनेक दृष्टियों से इस युग को अन्यतम रचना है। यह सात अंकों का नाटक है जिसमें गुलाबसिंह और मालती की लंबी प्रासंगिक कथा-पताका है। ऐसे भी कुछ प्रसंग आ गये हैं जिन्हें प्रकरी के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसका कथानक उत्तरोत्तर अधिकाधिक गतिशील होता जाता है। नि:सन्देह इसमें कतिपय अति-नाटकीय तत्वों की भी योजना है जो अतिनाटकोयता की प्रेमी उस युग की जनता की रुचि का प्रतिबिम्ब है। शेक्सपियर को भी अपने दर्शकों की रुचि को दृष्टि में रखकर अपने नाटकों में अतिनाटकीय तत्वों की योजना करनी पड़ी थी। इस

नाटक की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि इसमें न्याय सभा की तरह चरित्र चित्रण में लीपा-पोती नहीं की गयी है। जो जैसा था, वह उसी प्रकार का चित्रित हुआ है। सात अंकों का यह बृहत्काय नाटक कहीं शिथिल अथवा नीरस नहीं हो पाया है। अपनी रचना के प्रायः तीन दशाब्द तक यह हिन्दी रंगमंच का सबसे लोकप्रिय और सफल नाटक रहा है। आज भी यह थोड़े से हेरफेर और परिष्कार के साथ रंगमंच पर बड़ी सफलता से अभिनीत हो सकता है। इस युग के जिन अन्य नाटककारों को अपनी कुछ कृतियों में वस्तु योजना में अपेक्षाकृत अच्छी सफलता मिली है उनमें श्रीनिवास दास और प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं। इस युग के नाटककारों के वस्तु विन्यास में जो एक सामान्य गुण दिखाई देता है वह यह है कि उसमें शक्ति भर जटिलता कहीं नहीं आने पाती भले ही अतिनाटकीय तत्वों की अति के कारण वह शिथिल और असंगठित रह जाय। लाला खड्गबहादुर मल्ल और किशोरीलाल गोस्वामी के नाटकों के कथानक अतिनाटकीयता के कारण ही शिथिल हो गये हैं। दूसरा सामान्य गुण जो इनमें उपलब्ध होता है वह यह है कि श्रेष्ठ नाटककार अपने सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश से कुछ मार्मिक छबियों और अनुभूतियों को चुनकर इस खूबी से वस्तु के अन्तर्गत सजा देते हैं कि हम रोने अथवा हँसने को बाध्य हो जाते हैं। तीसरा सामान्य गुण इन लेखकों में यह उपलब्ध होता है कि ये रामलीला, रासलीला और नौटंकी आदि की सभी प्राचीन परम्पराओं को दृष्टि में रखकर रचना कर रहे थे, और इस प्रकार यहाँ की नाट्यधर्मी और लोकधर्मी दोनों ही परम्पराओं को मिलाकर सच्चे अर्थ में राष्ट्रीय नाटक की नींव डाल रहे थे। परन्तु साथ ही एक दोष भी सामान्य रूप से इन नाटकों में मिलता है जिसकी ओर पहले भी हम संकेत कर आये हैं। वह यह है कि अतीत का सुसमीक्षित बोध न होने के कारण ये नाटककार पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में देश-काल की सम्यक् अवतारणा नहीं कर पाते। परिणामस्वरूप प्रायः ऐतिहासिक असंगति आदि दोषों के भागी होते हैं।[1]

नेता

इन नाटकों में दिव्य अदिव्य और दिव्यादिव्य एवं उत्तम, मध्यम तथा अधम सभी स्थितियों और श्रेणियों के पात्रों का समावेश किया गया है। पुरुष-पात्रों में जहाँ एक ओर हमें उदात्त, उद्धत, ललित और शान्त सब प्रकार के चरित्र मिलते हैं, तो दूसरी ओर स्त्री-पात्रों में भी हमें स्वकीया, परकीया और गणिका सभी प्रकार की शीलवाली नायिकाएँ मिल जाती हैं। हमारे सामाजिक परिवेश के

१. दे०—'गुन्नौर की रानी' और 'रणधीर प्रेममोहिनी' आदि।

प्रत्येक स्तर और प्रत्येक विभाग का कोई न कोई प्रतिनिधि इन नाटकों में कहीं न कहीं अवश्य उपस्थित है। ऊपर से विशेषता यह कि प्रायः वह थोड़े से थोड़े वाक्यों अथवा कम से कम कार्य-व्यापार द्वारा अपने चरित्र और उसकी पूरी सामाजिक पृष्ठभूमि पर सर्चलाइट का सा तीव्र प्रकाश फेंकता है। चरित्र चित्रण की इस कला में भारतेन्दु-काल के कुछ लेखक बेजोड़ हैं। उदात्त चरित्रों के चित्रण में तो इस देश के लेखक सदा से सिद्धहस्त हैं। यह उनकी अपनी कला है जिसे दूसरों को उनसे सीखना है। अतएव श्रेष्ठ पात्रों के शील-निरूपण में इस युग के कुछ लेखकों ने प्रशंसनीय सफलता पायी है। राधाकृष्णदास के प्रताप, गुलाबसिंह, मालती और पद्मिनी, गोस्वामी राधाचरण के अमरसिंह, श्रीदामा, चन्द्रावली और श्रीनिवासदास के रणधीर आदि भुलाये नहीं जा सकते। वे हिन्दी नाटक-साहित्य की विभूति हैं। इनके विपरीत अनुदात्त अथवा असुर-वर्ग के खल-पात्र हैं जिनके चित्रण में यूरोपीय नाटककारों की सिद्धहस्तता की बड़ी धूम है। शेक्स-पियर तथा फ्रान्स के मोलियर आदि अनेक नाटककार इस कला में अद्वितीय माने जाते हैं। पर हमारे प्रतापनारायण मिश्र इस कला में भी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। 'कलिकौतुक रूपक' में परकीया श्यामा, कुलटा चम्पा, सेठ किशोरीदास, सामान्या लशकरीजान, गुंडा लट्ठासिंह और पतित वणिक्-पुत्र पदमसिंह आदि का असाधारण रूप से सजीव चरित्र-चित्रण करके मिश्र जी ने स्वयं कलियुग महाराज को अपना मुख देखकर प्रसन्न होने के लिए दर्पण प्रस्तुत कर दिया है।

इन लेखकों के पास सब प्रकार के चरित्रों को सजीव बनाने का प्रमुख साधन कथोपकथन है। इन कथोपकथनों में वक्ता के शील का सत्व और अंतस् का तत्व निचोड़ कर भर देना इस युग के श्रेष्ठ लेखकों की कला की सामान्य विशेषता है। आवेश, अनुराग, मान, मनुहार मुग्धता (भोलापन), क्षोभ और घृणा आदि सब प्रकार के भावों के अनुरूप भाषा लिखने में ये लेखक दक्ष हैं। ये लेखक जहाँ संस्कृत के कवियों की शैली पर आलंकारिकता कथोपकथन लिखते हैं, वहाँ भी भाषा को अत्यन्त सरल और सरस बनाकर अलंकारों को प्रतिदिन के व्यवहार की बोली का अनिवार्य-सा अंग बना देते हैं—

१. संवरण—'हे मित्र ! उसने मेरा विश्वास नहीं किया, तथापि मेरा मन उसी में लगा रहता है। आहा, पवन के झोंके से उसकी कटि लचकती है, पान की पीक उसके कंठ में झलकती है। जब उसके ओष्ठ की अरुणाई से मुझे मोती में विद्रुम का संदेह पड़

गया तब उसने मुसकरा कै मेरा संदेह हर लिया। अब वही मुसकान मेरे मन को हरण करै है।'

२. 'हे प्रिया! मुझे अकेला देख बन के पशु-पक्षी भी मेरो हँसी करते हैं। हे पिकबयनी, मृग के नयन, गज की चाल, कुंद की कली, अनार के दाने, कमल का विकास देख मेरे मन को बड़ा दुख होता है, तू जल्दी आकर इनका अहंकार हर।'

—(श्रीनिवासदास कृत 'तप्ता संवरण' नाटक)

मेरा तात्पर्य यह है कि कथोपकथनों में इस युग के प्रतिनिधि लेखक चित्त के स्थायी क्षोभ और भावावेश को इस कौशल और चारुता से व्यक्त करते हैं कि उनके नाटक कम से कम काव्यगुण से कभी हीन नहीं होते। इसके अतिरिक्त ये लेखक पात्रों की सामाजिक स्थिति और प्रादेशिक विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए भारतीय नाट्यशास्त्र की परंपरा के अनुसार आवश्यकता पड़ने पर विविध भाषाओं और बोलियों से भी काम लेते हैं जिसके उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं। इन लेखकों की भाषा में वक्रता, व्यंजकता, शक्ति और मार्मिकता आदि सद्‌गुण हैं, कमी है तो केवल यह कि इनकी दृष्टि अभी अच्छी तरह से व्याकरण के नियमों पर नहीं जमी है।

रस

इस युग के लेखकों के मुख्य रस करुण और हास्य हैं। इसके सामाजिक कारणों की विवेचना हम अन्यत्र कर चुके हैं। वीर और श्रृंगार रस की रचनाएँ यद्यपि संख्या में कम नहीं, परन्तु वे भी देशकाल के प्रति करुण परिवेश से आवृत्त हैं। प्रत्येक नाटक के मर्म में—वह किसी भी रस का हो—राष्ट्र की अभावमयी वेदना छिपी हुई है, जो हमें बारंबार आँख खोलकर अपने दुखी देश की हतभामिनी जनता की ओर देखने को प्रेरित करती है।

विदेशी प्रभाव

अंगरेजी के अनेक नाटकों के अनुवाद इस युग में हो गये थे और पारसी रंगमंच के माध्यम से विदेशी रंगमंचों के आचरण की संस्कृति भी धीरे-धीरे प्रसार पा रही थी। इसलिए हिन्दी नाटकों पर भी परकीय प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। प्रस्तावना और भरतवाक्य को तो धीरे धीरे त्यागपत्र मिलना प्रारम्भ हो गया था और उसके स्थान पर एक-दो नाटकों में नाट्यशास्त्र में वर्जित ऐसे दृश्यों का समावेश भी प्रारम्भ हो चुका था जो सदैव हमारी संस्कृति के परिपंथी समझे जाते रहे हैं। उदाहरणस्वरूप किशोरीदास गोस्वामी ने 'मयंक मंजरी' महानाटक में मयंक और वीरेन्द्र को रंगमंच पर चुम्बन और आलिंगन की पूरी

स्वतन्त्रता प्रदान करके हिन्दी नाटक को भारतीय नाट्यशास्त्र की सांस्कृतिक मर्यादाओं से मुक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। प्रसन्नता की बात है कि इस प्रकार विदेशी प्रभाव आत्मसात करने का उत्साह इस युग के अन्य श्रेष्ठ नाटककारों में नहीं उमड़ा। उन्होंने विदेशी नाटकों के गुण ही ग्रहण करने का प्रयत्न किया। ऐसे लेखकों में लाला श्रीनिवास दास का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इस युग के नाटकों में दुःखान्तकी का प्रवेश भी विदेशी प्रभाव माना जाता है।

दुःखान्तकी की भावना

इस प्रसंग में एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। क्या भारतेन्दु-युग में हिन्दी में दुःखान्तकी का उदय अंगरेजी के प्रभाव के कारण हुआ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर प्राप्त करने के लिये हमें भारतेंदु-युग के कुछ दुःखान्त नाटकों की परिस्थिति पर विचार करना चाहिए। इनके लिये हम तीनों नाटक चुनते हैं। पहला भारतेंदु का 'नीलदेवी', दूसरा राधाकृष्णदास का 'दुःखिनी बाला' और तीसरा श्रीनिवास दास का 'रणधीर प्रेममोहिनी'। ये तीनों ही रचनाएँ दुखान्त हैं पर तीनों दुःखान्तकी की परिस्थितियों से सर्वथा अलग है।

इस विश्लेषण में प्रविष्ट होने के पूर्व हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि भारतेंदु के युग तक अंग्रेजी से प्रायः शेक्सपियर के नाटकों का ही अनुवाद हिन्दी में हो पाया था। अतएव शेक्सपियर अथवा उसके पूर्व के नाटककारों के दुःखांतकी के आदर्श का ही हिन्दी में लोकप्रिय होना अधिक सम्भव था। शेक्सपियर की दुःखान्तकी का मुख्य लक्षण यह है कि उसमें नायक को दुर्भाग्य से ऐसी प्राणघाती शक्तियों का सामना करना पड़ता है जिन पर उसका कोई वश नहीं होता।[1] साथ ही उसके नायक श्रेष्ठ वंश के और असाधारण श्रेणी के व्यक्ति होते हैं, जिनके स्वभाव में एकांगिता का ऐसा दोष होता है जो ठीक समय पर उनको या तो अकर्मण्य बना देता है अथवा असमय में कोई अवांछित काम करवा डालता है। शेक्सपियर के पूर्व अरस्तू का दुःखान्तकी का आदर्श यूरोप में सर्वाधिक मान्य था। उसने भी नायक का श्रेष्ठ होना आवश्यक माना है किन्तु वह न तो परम पुण्यवान होता है और न अपराधशील ही। उसके जीवन की परिणति किसी मानवीय दुर्बलता या वासना के कारण दुःखमय होती है, यद्यपि वह स्वेच्छा से अपराध के पथ पर पैर नहीं रखता।[2]

ध्यान से देखने से ये कोई भी लक्षण भारतेंदुकालीन दुःखान्तकी पर लागू

१. देखिए—ए० निकॉल कृत 'थियरी ऑफ ड्रामा', पृ० १७२।

२. वही, पृ० १४७।

होते नहीं दिखाई देते । 'नीलदेवी' में नायिका नीलदेवी असाधारण श्रेणी की तो है, पर स्वभाव की एकांगिता अथवा किसी अन्य मानवीय दुर्बलता के कारण उसका अन्त दु:खद नहीं होता । अपनी असाधारण असफलता के क्षणों में जब वह कौशल्या और कुन्ती आदि राजमाताओं की तरह अपने पुत्र की पथप्रदर्शिका बनकर जीवित रह सकती थी, वह दिवंगत पति की स्मृति में सती हो जाती है । अतएव, यह दु:खान्तकी शेक्सपियर की दु:खान्तकियों के किसी वर्ग में परिगणित नहीं की जा सकती । शेक्सपियर के हैमलेट, आॅथेलो, लियर, मैकबेथ और ब्रूटस आदि सब नायक अपनी इच्छा के विरुद्ध काल के ग्रास बनते हैं, क्योंकि भीतरी और बाहरी सब परिस्थितियाँ उनके प्रतिकूल हैं और वे अपनी विफलता से भयभीत हैं । इसके विपरीत जब सब दृष्टियों से सभी परिस्थितियाँ नीलदेवी के अनुकूल हैं और सफलता चरणों पर लोट रही है तब वह स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करती है । जहाँ शेक्सपियर दु:खान्तकियों से करुण और त्रास की उत्पत्ति होती है और उनका नायक हमारी सहानुभूति का पात्र बनता है, वहाँ नीलदेवी का चितावरण उसके प्रति हमारी श्रद्धा उत्पन्न करता है और त्रास के स्थान पर उत्साह और उल्लास के भावों को जगाता है । इसलिये—'नीलदेवी' दुखान्तकी होते हुए भी शुद्ध भारतीय परम्परा में है, जिसे हम कर्तव्य या बलिदान दु:खान्तकी कह सकते हैं । विद्वद्वर डा० दशरथ ओझा 'नीलदेवी' को दु:खान्त नहीं मानते । उनका कहना है, 'दुखान्त तो तब होता है जब धर्म के ऊपर अधर्म की विजय होती या रानी नीलदेवी को पराजय प्राप्त हो जाती । रानी नीलदेवी का ध्येय पूरा होता है । देश स्वतंत्र रह जाता है, पति का हत्याकारी परलोकगामी बनता है और रानी का पुत्र सिंहासनासीन होता है । एक आर्य-ललना को और क्या चाहिये ? पति युद्धभूमि में अधर्मियों का संहार करते हुए वीरगति पाता है और पुत्र उसके राज्य को सम्हाल लेता है । रानी स्वर्ग से पति का पुनरागमन कराने में असमर्थ थी, अतएव उनसे मिलने को प्रस्थान करती है । इसमें दु:ख किसको और क्यों हो ? प्रेक्षक रानी को चितारूढ़ नहीं देखते । हाँ, रानी अन्त में यह कहते हुए अवश्य सुनी जाती है, 'मेरी यही इच्छा थी कि मैं इस चाण्डाल का अपने हाथ से वध करूँ....सो इच्छा पूर्ण हुई । अब मैं सुखपूर्वक सती हूँगी ।'

तात्पर्य यह कि इस नाटक को दु:खान्त मानने के विरुद्ध डा० ओझा की दो प्रमुख आपत्तियाँ हैं—एक कथावस्तु-विषयक और दूसरी प्राविधिक । कथावस्तु को लेकर यह आपत्ति कि 'दु:खान्त तो तब होता जब धर्म के ऊपर अधर्म की विजय होती' मान्य नहीं हो सकती । कारण मध्यकालीन भारत की सभी सतियों

का जीवन ऐसा ही रहा है। स्वेच्छा से मृत्यु का वरण करनेवाली इन सतियों का अन्त अधर्म पर धर्म की विजय तो अवश्य है, पर उनकी बलिदान-गाथा लोक-मानस को चिरकाल तक करुणा में निमज्जित रखने का अमोघ साधन भी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अवश्य यह करुण रस पाश्चात्यों के त्रासद करुण से अधिक उदात्त है और यही भारतेंदु को अभीष्ट भी था। 'प्रेक्षक रानी को चितारूढ़ नहीं देखते' यह प्राविधिक आपत्ति भी अधिक व्यावहारिक नहीं। रानी के मुख से सती होने का संकल्प सुनकर सहृदय प्रेक्षक उसके साथ कल्पनात्मक तादात्म्य तो कर ही लेते हैं। मेरा मत है कि भारतेंदु भारतीय नाट्य-शास्त्र की मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए अपनी परम्परा के अनुकूल दुःखान्त नाटक का ठाठ खड़ा कर रहे थे। यह उनका पहला प्रयत्न अवश्य है, पर कार्य की असाधारणता और गुरुता को देखते हुए उनकी सफलता छोटी नहीं है।

"दुःखिनी बाला" पर भी उल्लिखित पाश्चात्य दुःखान्तकी के लक्षण संगत नहीं बैठते। इसकी नायिका सरला जूलियट और क्रियोपैट्रा आदि की तरह न किसी राजवंश की है और न असाधारण कुल की। उसमें कोई मानवीय दुर्बलता या वासना भी ऐसी नहीं जिसके कारण उसे विष खाने को बाध्य होना पड़ा हो। नियति ने, अपितु बालविवाह के उत्तरदायी समाज और उसकी रूढ़ियों ने उसे विधवा बना दिया है। इसलिये उसी समाज के दुराचारी उसके द्वारा छिपकर अपनी घृणित वासना चरितार्थ करना चाहते हैं। अत्यन्त निर-वलंबता की दशा में वह अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये विष खाकर प्राण दे देती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस नाटक का लेखक दुःखान्तकी की सृष्टि के लिए शेक्सपियर की तरह उच्च वर्ग के सम्राट्-साम्राज्ञी, वीरों और सेनापतियों एवं उनकी प्रेमिकाओं को नहीं चुनता, अपितु जन साधारण के जीवन को उसका आधार बनाकर वर्गगत उच्चता की भावना को धक्का देता है। सामाजिक रूढ़ियों के दारुण निपीड़न-यंत्र में पिसते हुए साधारण से साधारण मानव की महत्ता का प्रभावशाली प्रतिपादन करते हुए वह उच्चता की हमारी परम्परागत भावना को सदा के लिये झकझोर देता है। राधाकृष्णदास की 'दुःखिनी बाला' जैसी रचनाओं ने जिस दुःखान्तकी का बीजारोपण किया, वही आगे चलकर 'गोदान' के होरी में पूर्ण विकसित रूप में दिखाई पड़ी। इन रचनाओं में दुःखान्तकी का जो आदर्श जन्म ले रहा था उसी का प्रतिपादन इसी समय के आसपास के बेलजियम में मारिस मैटरलिंक कर रहा था।

'रणधीर प्रेममोहिनी' की दुःखान्तकी भी रोमियो जूलियट के समान

शुद्ध नियति-वृत्त (Pure tragedy & fortune) नहीं। हम पहले ही बतला चुके हैं कि उसमें प्रेमी और प्रेमिका के मार्ग में सामाजिक स्थिति का वैषम्य बाधक है क्योंकि सूरत-नरेश रणधीर को एक साधारण राजपूत समझ उसके साथ अपनी राजकुमारी का विवाह करने को प्रस्तुत नहीं होते। अतएव यहाँ भी नायक और विशेषतः नायिका 'दुःखिनी बाला' की सरला की तरह, विपथगामी सामाजिक शक्ति के विरुद्ध अपने को निरवलंब पाकर काल-कवलित होने को बाध्य होती है। ये दोनों कृतियाँ सामाजिक दुःखान्तकी कही जा सकती हैं। भारतेन्दु युग के अन्य दुःखान्त नाटक भी इन्हीं दोनों वर्गों में से किसी एक के अन्तर्गत है, अर्थात् या तो वे कर्तव्य दुःखान्तकी हैं जैसे 'अमरसिंह राठोर' और 'चन्द्रावली' आदि अथवा सामाजिक दुःखान्तकी हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि हिन्दी की दुःखान्तकी का उदय स्वतंत्र रूप में शुद्ध सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना की भूमि पर हुआ। शेक्सपियर की दुःखान्तकी की तरह भय, करुणा और त्रास के रूप में इस युग की दुःखान्तकी की प्रतिक्रिया नहीं होती, उसकी प्रतिक्रिया कर्तव्य के प्रति सात्त्विक उल्लास और करुणा प्रेरित समाज सेवा के उत्साह के रूप में होती है।

हास्य और व्यंग्य

भारतेन्दु की प्रतिभा का वैभव करुणा और विनोद के दो रूपों में विशेष प्रतिभात हुआ था। उनके समकालीनों में से प्रायः प्रत्येक ने हास्य और विनोद के सृजन को प्रतिभा का प्रमाण दिया। इसी को लक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है, "हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामायिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है, वह है सजीवता या जिन्दादिली। सब में हास्य या विनोद की मात्रा थोड़ी बहुत पायी जाती है।.........शिक्षित समाज में संचारित भावों को भारतेन्दु के सहयोगियों ने बड़े अनुरंजनाकारी रूप में ग्रहण किया।" इस काल के हास्य की प्रेरक चेतना का स्वरूप हम पहले ही निरूपित कर चुके हैं। इन जिन्दादिल लेखकों ने अनेक प्रकार के जिन कौशलों से हास्य की अवतारणा की, उन्हीं का संक्षिप्त निर्देश इस प्रसंग में शेष है।

इस युग में जो हास्य हमें प्राप्त होता है, उसको कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—१. अंगज और वेशज हास्य, २. चरित्रजन्य हास्य, ३. परिस्थितिजन्य हास्य, ४. आचरणजन्य हास्य, ५. वाणीजन्य हास्य (वाणी नर्म)। वेशज हास्य प्रायः विदूषक प्रधान होता है। इस काल के बहुत थोड़े नाटकों में विदूषक का उपयोग किया गया है, परन्तु इस वर्ग के हास्य की अवतारणा अन्य अवसरों पर हुई है। भारतेन्दु ने 'भारत दुर्दशा' को आधा

क्रिस्तानी और आधा मुसलमानी वेष प्रदान कर इसी कोटि का हास्य उत्पन्न करना चाहा है।

चरित्रजन्य हास्य का सबसे सुन्दर उदाहरण 'बूढ़े मुँह मुँहासे' के लाला नारायणदास प्रस्तुत करते हैं, जो राम का नाम ले लेकर तेली की लड़की को वश में करने की प्रतिज्ञा करते हैं और सोचते हैं कि जब वह हाथ चढ़ जावेगी, तो फिर बाद को भगवान् से भी निपट लेंगे। धार्मिक ऊँचे दरजे के हैं, इसलिए एक पुराने मन्दिर को संकेत-स्थल बनाते हैं। ऊपर से तुर्रा यह कि एक इत्र की शीशी भी वहाँ ले जाते हैं, जिसका प्रयोग प्रेयसी के मुख की प्याज की गन्ध का निवारण करने के लिए करना चाहते हैं।

परिस्थितिजन्य हास्य के उदाहरण 'कलिकौतुकरूपक' में अनेक मिलते हैं। श्यामा का उपपति रसिक बिहारी उसके गले में हाथ डाल कर उसको उर्दू के समयोपयुक्त रसीले शेर कहना सिखा रहा है। उसी समय उसका पति किशोरीदास आ जाता है, जिसे स्वयं वेश्या के यहाँ जाने की जल्दी है। इधर श्यामा अपने उपपति को छिपा देती है और उधर पति महाशय धार्मिकता का ढोंग रचकर कथा सुनने के बहाने वेश्या के घर की ओर प्रस्थान करते हैं। पत्नी कुछ समय के लिए इस वियोग की चर्चा से बाहर से बहुत दुखी होती है, पर पतिदेव के टल जाने से रसिक बिहारी के साथ एकान्त का उपयोग करती है। इस प्रकार के हास्य के इससे भी घोर यथार्थवादी अन्य उदाहरण 'कलिकौतुक-रूपक' में उपलब्ध हैं।

व्यवहार अथवा आचरणजन्य हास्य का एक उत्तम उदाहरण 'सज्जाद सम्बुल' नाटक का वैज्ञानिक हेमचन्द्र प्रस्तुत करता है। वह मूर्ख नहीं है, बड़ा भारी विद्वान् है। पर उसको डार्विन के विकासवाद की ऐसी सनक सवार है कि वह प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु को उसी के चश्में से देखता है। सज्जाद से उनका पुराना परिचय है पर एक अनुसन्धान के सिलसिले में जब वह समुद्र की खुदाई करा रहा है, तो उसकी भेंट सहसा सज्जाद से हो जाती है, जिसको कुछ डाकुओं ने वहाँ कैद कर रखा था। उसे देखते ही उनके भीतर का डार्विन सजग हो उठता है—

"वा: खूब बोलते पारे देखचो, तोम क्या मानुष हाय! ना। एकटा आधटा प्रमाणे किछु विश्शाश उचित नोय। जुक्ति शास्त्र नियम विरुद्ध हुआ पा मानुषेर चेये, एक्टा लम्बा बोले बोध होच्चे। तोमकों दुम है कि नहीं देखे। तोम घूम जाओ तो हाम तुमरा दुम देखने को माँगता है।"

वाणीजन्य हास्य नाटक में कथोपकथन का अंगभूत होता है, इसलिए इसका महत्व बहुत अधिक है । इसका सबसे निकृष्ट साधन विकृत भाषा का प्रयोग और सबसे उत्कृष्ट रूप वाग्वैदग्ध्य है । इन दोनों कोटियों के बीच में भी इस वर्ग के हास्य के अन्य प्रकार और स्तर हैं । भारतेन्दु युग के नाटककारों ने इनमें विकृत भाषा में लगाकर वाग्वैदग्ध्य तक वाणीजन्य हास्य के विविध रूपों का सफल प्रयोग किया है, जिसके कुछ उदाहरण पहले दिये जा चुके हैं । भारतेन्दु जी की हास्य-सृष्टि की कला का उल्लेख करते हुए हमने उनकी जिन विशेषताओं की ओर संकेत किया है, वे इस युग के अन्य लेखकों में भी सहज उपलब्ध हैं ।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भारतेन्दु में हमें नर्म के अनेक प्रकार के प्रयोगों के चमत्कार दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार उनके युग के लेखकों में भी उसका अभाव नहीं । विशेषतः प्रेमाख्यानक नाटकों में हमें इनके अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । प्रेमाख्यानक नाटककारों में श्रीनिवासदास और खड्गबहादुर मल्ल आदि दो चार लेखक कैशिकी वृत्ति और नर्म के प्रयोग में विशेष कुशल हैं ।

अन्त में यह भी कह देना आवश्यक है कि भारतेन्दु-युग में हास्य-रस का प्रवाह धीरे-धीरे उद्दाम होकर बाद में वर्षा की बाढ़ की तरह बह चला । परिणामस्वरूप इसमें कुछ कूड़े-कचरे का होना स्वाभाविक था । पर उससे इस युग के हास्य और व्यंग्य में जो श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण है, वह निकृष्ट और निर्महत्व नहीं बन जाता । मेरी दृष्टि इस युग के उत्कर्ष की चूड़ा पर निविष्ट है, गंदी परनालियों पर नहीं । खेद है, कुछ विद्वानों ने भारतेन्दु-युग के हास्य और व्यंग्य के उदात्त पक्ष की उपेक्षा ही की है ।

भारतेन्दु ने अनुवादों और रूपान्तरों का जो आदर्श स्थापित किया था उसके अनुपालन में भी इस युग के कुछ लेखकों ने अच्छी सफलता प्राप्त की है । अनुवाद संस्कृत, बंगला और अंग्रेजी तीनों के नाटकों के हुए । अनुवादकों में लाला सीताराम, बाबू रामकृष्ण वर्मा, केशवराम भट्ट, दयाल सिंह ठाकुर, पुरोहित गोपीनाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

लाला श्रीनिवास दास

(जन्म-सन् १८५१, मृत्यु-सन् १८७८)

भारतेन्दु-युग के लेखकों में लाला श्रीनिवास दास का स्थान विशिष्ट है । लाला श्रीनिवास दास का लिखा हुआ 'परीक्षा गुरु' उपन्यास हिन्दी का प्रथम उपन्यास

माना जाता रहा है। नाटक के क्षेत्र में उनका कृतित्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके द्वारा लिखे हुए ४ नाटक उपलब्ध हैं—'प्रहलाद-चरित्र', 'तप्ता संवरण' (१८७४ ई०), 'रणधीर प्रेम मोहिनी' (१८७८) और 'संयोगिता स्वयंवर' (१८८५)। 'प्रहलाद-चरित्र' ग्यारह दृश्यों का अंकरहित नाटक है। आचार्य शुक्ल का कथन है, 'इसके संवाद आदि रोचक नहीं हैं, भाषा भी अच्छी नहीं है।' उनका दूसरा नाटक 'तप्ता संवरण' है, जिसको भारतेन्दु जी ने १८७४ में अपनी पत्रिका 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' में छापा था, १८८३ में यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। इस नाटक के कथानक में चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक का अनुसरण करते हुए शाप का प्रयोग किया गया है। अन्तर यह है कि कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक में शाप नायिका को दिया गया है, इस नाटक में शाप नायक को दिया जाता है। संवरण, तप्ता के ध्यान में तल्लीन रहने के कारण गौतम मुनि के आने पर उनको प्रणाम नहीं करता है। इस पर गौतम ऋषि उसको शाप देते हैं कि जिसके ध्यान में लीन होने के कारण उसने मर्यादा का उल्लंघन किया है, वह उसे भूल जाय। शाप के इस प्रसंग को केन्द्र बनाकर कथानक का विस्तार होता है। अन्त में नायक-नायिका सम्मिलन होता है। इस नाटक में नाटककार की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

लाला श्रीनिवास दास का तीसरा नाटक 'रणधीर और प्रेम मोहिनी' एक दुःखान्त नाटक है। लाला जी ने इसकी रचना अंगरेजी के दुःखान्त नाटकों की शैली में की थी। इस नाटक की भूमिका में लाला जी ने अंगरेजी नाट्य-साहित्य की कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है। 'रणधीर और प्रेममोहिनी' में शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक के तत्वों का समावेश करने का योजनाबद्ध प्रयत्न किया है। उनका यह नाटक शेक्सपियर के रोमियो और जूलियट से विशेष रूप से प्रेरित है। शेक्सपियर के इस नाटक के मनोहर एकालापों अथवा संवादों से प्रेरित होकर लाला जी ने भी बड़े रोचक किन्तु मौलिक संवाद लिखे हैं। यह नाटक अपने समय में कई बार सफलतापूर्वक अभिनीत भी हुआ था, इससे इसकी लोकप्रियता सिद्ध है। अंगरेजी शैली पर लिखा गया यह हिन्दी का प्रथम दुःखान्त नाटक है। लाला जी स्वच्छन्दतावादी नाट्य परम्परा के आदि उन्नायकों में हैं।

भारतेन्दु जी ने 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक के विषय में अपनी पत्रिका 'कविवचन सुधा' में यह प्रकाशित किया था कि 'एक लोटा ही पास हो तो उसे बेचकर इस नाटक को खरीद दो।' सन् १८७१ की ६ दिसम्बर को इसका

मंचन पहले-पहल प्रयाग में आर्य नाट्यसभा के द्वारा किया गया था। इस नाटक की प्रस्तावना में नटी और सूत्रधार के संवाद स्वयं भारतेन्दु जी ने लिखे थे। डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, 'रणधीर और प्रेममोहिनी की प्रेमवार्त्ता पुराने आलंकारिक ढंग की है, पर उसमें एक मर्मस्पर्शी सरलता है। ·· इसमें नव-जागृति का स्वर स्पष्ट है।' डॉ० शर्मा ने यह भी लिखा है कि 'यहाँ पर आधुनिक साहित्य में पहली बार एक व्यक्ति ने अपनी झोपड़ी पर अभिमान प्रकट करते हुए अपने आपको मनुष्य होने के नाते राजा के बराबर कहा है, उसने राजसी अभिमान को अपनी साधारणता की भूमि से ललकारा है।'[1]

भरत के नाट्यशास्त्र में यह निर्देश दिया गया है कि पात्रों की सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति के अनुरूप विभिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसके संबंध में नाट्यशास्त्र में विस्तृत निर्देश दिये गए हैं। उदाहरणस्वरूप, उत्तम तथा मध्यम श्रेणी के पंडितादि पुरुषों की भाषा नाटकों में संस्कृत हो, इसी श्रेणी की स्त्रियों की भाषा शोरसेनी हो, चेट राजकुमार और सेठ, अर्धमागधी बोले इत्यादि। इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए लाला श्रीनिवास दास ने अपने नाटक के पात्रों द्वारा भिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग करवाया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भले ही इस नाटक की आलोचना की हो, किन्तु उस समय की हिन्दी के अन्य पत्र-पत्रिकाओं में तथा बंगला, गुजराती और अंगरेजी के पत्रों में इस नाटक की मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई थी। लंदन के 'इंडियन मेल' पत्र में लिखा गया था कि इसमें विभिन्न प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया गया है। इसलिए यह भारतवर्ष की आर्यभाषाओं के अध्येताओं के लिए असाधारण रूप से रुचिकर और उपयोगी है। इलाहाबाद से निकलने वाले 'इंडियन ट्रिब्यून' में भी इस नाटक के प्रगतिशील दृष्टिकोण की प्रशंसा की गई है। इस नाटक के पात्रों के चित्रण की भी समसामयिक जीवन के यथार्थ को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है।

लाला श्रीनिवास दास का चौथा नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' है। यह नाटक पृथ्वीराज द्वारा जयचंद की पुत्री संयोगिता के हरण की घटना को लेकर लिखा गया है। इस कथा का स्रोत चंदबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' है। लाला श्रीनिवास दास प्रचलित कथा में एक परिवर्तन किया है। संयोगिता के साथ पृथ्वीराज के गान्धर्व विवाह की सूचना पाकर जयचंद दान-दहेज देकर उन्हें ससम्मान विदा करते हैं। उनका वैर समाप्त हो जाता है।

---

१. भारतेन्दु युग और भाषा की विकास परम्परा, पृष्ठ ५६-५७।

पं० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' हिन्दी में समीक्षा के आदि प्रवर्तकों में हैं। उन्होंने अपनी 'आनंद कादंबिनी' पत्रिका में 'संयोगिता-स्वयंवर' पर पड़े अंगरेजी के अविवेकपूर्ण प्रभाव की बड़ी कठोर आलोचना की थी। उसका एक नमूना उद्धृत किया जा रहा है। '....गर्जे कि इस सफहे की कुल स्पीचें 'मर्चेंट आफ वेनिस' से ली गई हैं। पहले तो मैं यह पूछता हूँ कि मुद्रिका परिवर्तन की रीति इस देश की नहीं बल्कि यूरोप की है। मैंने माना कि आप शकुन्तला को दुष्यंत के मुद्रिका देने का प्रमाण देंगे, पर वो तो परिवर्तन न था, किंतु महाराज ने अपना स्मारक चिह्न दिया था।' इस नाटक में ऐतिहासिक असंगति भी है। चंद पृथ्वीराज के शौर्य का उद्‌बोधन करने के लिए उनके सामने भूषण का यह प्रसिद्ध छंद पढ़ता है—

इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर....आदि।

यदि लाला श्रीनिवास दास को यह आभास होता कि यह ऐतिहासिक असंगति उनके नाटक का एक बड़ा दोष है, तो इसके स्थान पर वे चन्दबरदाई का ही कोई छन्द रख देते अथवा अपना रचा हुआ कोई छन्द जोड़ देते।

राधाकृष्णदास (१८६५–१९०७)

भारतेंदु जी के समकालीन नाटककारों में राधाकृष्णदास अपनी ऐतिहासिक कृतियों के लिए विशेष उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले उन्होंने 'दुःखिनी बाला' नाम का एक रूपक लिखा था। यह छः दृश्यों का एक छोटा सा नाटक है, जिसकी मुख्य पात्र सरला नाम की एक कन्या है। सरला के पिता गोवर्द्धन दास उसका विवाह एक अनपढ़ और अयोग्य वर लल्लू के साथ करते हैं। उनके सामने कई सुशिक्षित और योग्य वर हैं। इन योग्य वरों की कुण्डली सरला की कुण्डली से मेल नहीं खाती हैं, इसलिए वे उनको त्याग देते हैं। लल्लू की जन्म-कुण्डली मेल खा जाती है, इसलिए गोवर्द्धन दास सरला का विवाह लल्लू के साथ कर देते हैं। सरला कुछ दिनों में विधवा हो जाती है और अपने पिता के घर लौट आती है। समाज उसको पुनर्विवाह करने की अनुमति नहीं देता है। उसका जीवन यातनामय बन जाता है। अन्त में विष खाकर वह आत्महत्या कर लेती है। यह नाटक प्रमाणित करता है कि भारतेंदु-युग के सभी नाटककारों में समाज के वेदना की बड़ी गहरी अनुभूति थी। वे उनको व्यक्त करने के लिए साहित्य के अनेक मार्गों का अनुकरण करते हैं।

राधाकृष्णदास जी के नाट्यरचना का कौशल उनके ऐतिहासिक नाटकों में पूरे उत्कर्ष के साथ प्रकट हुआ है। उनका पहला ऐतिहासिक नाटक 'महारानी पद्‌मावती (१८९३) है। इसमें चित्तौड़ की महारानी पद्‌मावती और महाराणा

रत्नसेन की गौरव गाथा नाटक के रूप में प्रस्तुत की गई है। इसमें छः अंक हैं और प्रत्येक अंक में तीन-तीन दृश्य हैं। 'महारानी पद्मावती' नाटक भी एक दुःखान्त कृति है। भारतेंदु-युग के लेखकों में अपने अतीत और वर्तमान की सुसमीक्षित चेतना थी। वे अपने देश के वर्तमान की दुर्वस्था देखकर दुःखी थे। इसलिए उनकी सभी प्रकार की रचनाओं में करुण रस की बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। वस्तुतः भारतेंदु-युग में जो नाटक लिखे गये, उनमें से अधिकांश दुःखान्त ही हैं। यदि हम समग्र भारतीय नाट्य-परम्परा पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु-युग के नाटककारों ने उसे एक नया मोड़ दिया। भारतेंदु-युग की सभी प्रकार की रचनाओं में करुण रस और वीर रस के समन्वय के अभिनव कला का निदर्शन पाते हैं। इस नाटक में भी एक ओर हम पद्मावती और चित्तौड़ की सैकड़ों वीराङ्गनाओं और कुलललनाओं के अग्नि-प्रवेश का दारुण दृश्य देखते हैं तो दूसरी ओर गोरा, बादल आदि की वीरता की रोमांचकारी घटनाओं को रंगमंच पर घटित होते हुए देखते हैं। वीर और करुण का यह अंगी और अंग भाव नाटक रचना के क्षेत्र में एक नये प्रवर्तन का सूचक है।

राधाकृष्णदास के नाटक राष्ट्रीय चेतना के संचार के शक्तिशाली माध्यम हैं। 'पद्मावती' नाटक पर भारतेंदु जी की 'नीलदेवी' नाटिका का गहरा प्रभाव पड़ा है। यह नाटक 'नीलदेवी' से प्रेरित होकर उसकी रचना के एक वर्ष बाद लिखा गया। 'नीलदेवी' और 'पद्मावती' के क्रियाकल्प में बहुत साम्य है। अन्तर इतना ही है कि 'नीलदेवी' गीतिरूपक है, और 'पद्मावती' गद्यपद्यमय छः अंकों का नाटक है। इस नाटक का उद्देश्य है विधर्मी शासकों द्वारा किये गये अत्याचारों का वर्णन कर उनके प्रतिकार के लिए जनमानस में प्रेरणा जगाना। 'पद्मावती' नाटक का नायक रत्नसेन कहता है—

> जिन तोरी मूरति बहुती हदुन करत अधर्म,
> नासत हैं गाइयन कौ करत सदैव कुकर्म।
> कुलनारिन को करत जो सदा पतिव्रत भंग,
> बल प्रकाश करि दुष्टगण करत कुमारी संग॥

(पद्मावती, अंक ६—३)

इस नाटक में अलाउद्दीन का चरित्र-चित्रण एक नृशंस शासक के रूप में किया गया है। भिन्न धर्मवालों को परिवार सहित नष्ट कर दिया जाय, यह उसका आदेश है। इस प्रकार के क्रूर अत्याचारों के विरोध में भारत की नारी जाति महारानी पद्मावती के नेतृत्व में सामूहिक आत्म-बलिदान करती है।

'पद्मावती' नाटक में यह गौरव-गाथा तत्कालीन रंगमंचीय उपकरणों के माध्यम से बड़े प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत की गई है। इस नाटक में विधर्मियों के द्वारा किये गये अत्याचारों की जो भावना अभिव्यक्त हुई है उसका अन्य नाटककारों ने भी चित्रण किया है। अम्बिकादत्त व्यास ने अपने 'भारत सौभाग्य' नाटक में भारत दौर्भाग्य नामक पात्र अपने सहायकों का प्रशस्ति-गान करता हुआ कहता है, "हमारे एक महमूद और पैदा हुआ होता, तो मैं मोछों पर ताव देता"....

कहाँ अलाउद्दीन आज
चित्तौर संघारक
अंतिम औरंगजेब कहाँ
भारत बिनसावन।

ऐसे नाटकों में भारतेन्दुकालीन लेखकों ने तत्कालीन जन-भावना को अभिव्यक्त किया है।

राधाकृष्णदास का तीसरा नाटक है 'धर्मालाप'। यह एक विचित्र प्रयोग है। नाटक का शीर्षक है, धर्मालाप अर्थात् भारतीय नाना धर्मों का वार्तालाप (सन् १८८४)। यह अंकरहित है और इसमें बाइस पात्र हैं। इस नाटक का मुख्य पात्र सनातन धर्म है

मध्यकालीन नाट्य-परंपरा का विवेचन करते हुए यथा स्थान यह बतलाया जा चुका है कि मध्यकाल में नाट्याभिनय के अभाव की पूर्त्ति के लिए पद्यात्मक नाटकीय संवादों की एक परम्परा चली थी। इसके अन्तर्गत नरहरि, दुलारे आदि जैसे कवियों ने छोटे-छोटे नाटकीय संवाद लिखे, 'सोने लोहे को झगरो' आदि प्रसिद्ध हैं। इन पद्यात्मक नाटकीय संवादों के लेखन की परम्परा को भारतेन्दु जी ने नया रूप दिया। उन्होंने 'दो मित्रों का वार्तालाप (कुलपालक और विश्वबन्धु दो मित्रों का समागम)' और 'सबै जात गोपाल की' जैसे व्यंग्य और परिहास से परिपूर्ण नाटकीय संवाद लिखे। इसी परंपरा में राधाकृष्णदास ने 'धर्मालाप' नामक नाटकीय संवाद लिखा। इसके पात्रों में सनातनी, वेदान्ती, वैरागी, शैव, शाक्त, कौल, वैष्णव, दयानन्दी, ब्राह्मी, थियोसोफिस्ट आदि हैं। इस नाटक में तीन संवादों का आयोजन कराया गया है। पहले संवाद में पंडित, वैरागी, वेदान्ती, ब्राह्मण, शैव, शाक्त, कौल तथा वैष्णव परस्पर वाद-विवाद करते हैं। मुख्य पात्र सनातन धर्म इस वाक्युद्ध को दूर खड़ा हुआ सुनता है। सनातन धर्म को उनके वाद-विवाद को सुनकर बड़ा दुःख होता है। दूसरे वार्तालाप में मारवाड़ी, साहो जी, बाबू साहब, लाला साहब, पंचपिरिए, दयानन्दी, ब्राह्मी, थियोसोफिस्ट, न्यू फैशनिए, नेटिव क्रिश्चयन और नास्तिक आपस में झगड़ते हैं

और अपनी-अपनी जातिगत श्रेष्ठता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सनातन धर्म दूर खड़ा होकर इनका वाक्‌युद्ध देखता-सुनता है। वह निराश होकर मूर्च्छित हो जाता है। तीसरे संवाद में आशा और साहस सनातन धर्म को होश में लाते हैं। होश में आने पर सनातन धर्म एक बार फिर प्रबल जिजीविषा से भर जाता है। अंत में सनातन धर्म का जयघोष सुनाई पड़ता है। भारतेन्दु-युग में जो आलाप या वाद परक साहित्य लिखा गया, उसमें 'धर्मालाप' एक अभिनव प्रयोग है। इस परंपरा में भारतेन्दु-युग में बहुसंख्यक नाटकीय संवाद लिखे गये हैं।

राधाकृष्णदास जी का सबसे प्रसिद्ध और सबसे सफल नाटक 'महाराणा प्रताप सिंह' (१८९७) है। इस नाटक में सात अंक और छत्तीस दृश्य हैं। इस नाटक में दो समानान्तर कथानकों की योजना की गयी है। एक कथानक महाराणा प्रताप और अकबर के ऐतिहासिक वृत्त को प्रस्तुत करता है, तो दूसरा कथानक गुलाब और मालती के प्रेम और बलिदान की गाथा को रेखांकित करता है। महाराणा प्रताप और अकबर का वृत्त इस नाटक की आधिकारिक कथा है और गुलाब तथा मालतो का वृत्त प्रासंगिक है। नाटककार ने दोनों का समुचित समन्वयात्मक संयोजन किया है। गुलाब और मालती का प्रासंगिक कथानक इस नाटक की रोचकता और प्रभविष्णुता में वृद्धि करता है। अभिनेयता की दृष्टि से हिन्दी के सबसे सफल नाटकों में एक है। वाराणसी में और उसके बाहर भी यह नाटक अनेकानेक बार अभिनीत हो चुका है। आज भी इस नाटक का आकर्षण कम नहीं हुआ है। इस नाटक का अंगीरस वीर है। श्रृंगार और करुण का योग इस नाटक की पठनीयता और अभिनीयता की वृद्धि करता है। इस नाटक की भाषा में नाटककार ने कई प्रकार के प्रयोग किये हैं। राधाकृष्ण जी ने विभिन्न पात्रों के शील, स्वभाव और योग्यता के अनुरूप भाषा शैली का उपयोग किया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह नाटक बड़ा प्रभावशाली बन पड़ा है। महाराणाप्रताप, भामाशाह, गुलाब, मालती आदि के चरित्र का चित्रण बड़ी उदात्त भूमिका पर किया गया है। भारतेन्दु-युग के नाटककारों में राधाकृष्णदास जी का स्थान भारतेन्दु जी के समकक्ष है। हिन्दी के नाट्य-साहित्य में राधाकृष्णदास को ऐतिहासिक नाट्य-परंपरा का जनक माना जाना चाहिए। भारतेन्दु जी ने 'सती-प्रताप' नाम का नाटक लिखना आरंभ किया था। यह नाटक पूरा नहीं हो पाया और उनका निधन हो गया। राधाकृष्णदास ने उनके 'सती प्रताप' नाटक को पूरा किया। राधाकृष्णदास उस समय के एक ऐसे नाटककार थे, जिन्होंने नाटक के श्रव्य और अभिनेय दोनों रूपों का कलापूर्ण

सामंजस्य का सफल प्रयत्न किया। उनके नाटक जितने रसानुयायी हैं, उतने ही वे चरित्रानुयायी भी हैं। उनके नाटकों में हास्य और व्यंग्य का कुशल प्रयोग पाठक अथवा प्रेक्षक को साद्यन्त वशीभूत रखता है।

देवकीनन्दन त्रिपाठी

भारतेन्दु-युग हिन्दी साहित्य के सर्वतोमुखी जागरण और उत्थान का युग है। विशेष रूप से इस युग में नाट्य रचना के क्षेत्र में अनेक दृष्टियों से बड़ा क्रान्तिकारी कार्य हुआ। भारतेन्दु जी नाट्य रचना के माध्यम से राष्ट्रीयता और सामाजिक उत्थान की चेतना जगाना चाहते थे। इस काल में उनके आदर्श का अनुसरण करने वाले कई बड़े नाटककार हुए, जिनका कृतित्व आज विस्मृत और उपेक्षित हो गया है। ऐसे नाटककारों में देवकीनन्दन त्रिपाठी का स्थान अग्रगण्य और अविस्मरणीय है। भारतेन्दु जी के प्रतिभाशाली सहयोगियों और सहकर्मियों ने नाटकों के द्वारा आधुनिक गद्य साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन किया। उनके सहयोगियों में प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, बाबू राधाकृष्ण दास, राधाचरण गोस्वामी, खड्गबहादुर मल्ल आदि के साथ-साथ देवकीनन्दन त्रिपाठी भी नाटककार के रूप में अविस्मरणीय हैं। भारतेन्दु जी के सहयोगियों में अधिकांश ने अपने नवीन विचारों के प्रचार के लिए पत्र-पत्रिकायें निकाली थीं। इनमें प्रतापनारायण मिश्र का 'ब्राह्मण', राधाचरण गोस्वामी का 'भारतेन्दु', बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की 'आनन्द कादम्बिनी', लाला श्रीनिवास दास का 'सदादर्श' आदि उल्लेखनीय हैं।

ये पत्र-पत्रिकायें आधुनिक युग के वैचारिक उत्थान के प्रचार-प्रसार के लिए निकाली गईं थीं। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया और सं० १९४० वि० में 'प्रयाग समाचार' नाम का पत्र निकाला। इसी वर्ष प्रतापनारायण मिश्र ने कानपुर से अपना प्रसिद्ध पत्र 'ब्राह्मण' निकाला था। इसी वर्ष कालाकांकर के प्रसिद्ध देशभक्त राजा रामपाल सिंह ने 'हिन्दुस्तान' नाम का पत्र निकाला था और रामदास वर्मा ने लखनऊ से 'दिनकर प्रकाश' नाम के पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इस कालखण्ड के अन्य सब पत्रों की तरह देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'प्रताप समाचार' भी थोड़े ही दिन चलकर बन्द हो गया। इन पत्रों के सम्पादकों के सामने सबसे बड़ी समस्या पाठक उत्पन्न करने की थी। उन दिनों हिन्दी के पत्र-पत्रिकाओं के पढ़ने वाले ही नहीं थे। इसलिए सम्पादकों को बराबर आर्थिक कठिनाई रहती थी और उन्हें अपने पत्र को असमय बन्द कर देना पड़ता था। अपने समकालीन अनेक पत्रों की तरह देवकीनन्दन त्रिपाठी का 'प्रयाग समाचार' भी अधिक दिन तक नहीं चल पाया।

पत्रकारिता के क्षेत्र में देवकीनन्दन त्रिपाठी का योगदान भले ही स्थायी महत्व का न हो पाया हो, किन्तु नाटक के क्षेत्र में उन्होंने जो कार्य किया है, वह भुलाये जाने योग्य नहीं है। भारतेन्दु-काल में जो नाटक लिखे गये, वे पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमांटिक, हास्यरस प्रधान, प्रतीकात्मक आदि वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। ये नाटक अपने समय में प्रवर्तमान रंगमंच को लक्ष्य कर लिखे गये थे। रामलीला और रासलीला की परम्परा भक्तिकाल से ही चली आ रही थी, उसको लक्ष्य कर भारतेन्दु और उनके सहयोगियों ने अनेक पौराणिक नाटक लिखे। इस परम्परा में देवकीनन्दन त्रिपाठी ने 'सीताहरण', 'रामलीला', 'कंसवध', 'नन्दोत्सव', 'रूक्मिणी हरण' आदि कई नाटक लिखे। देवकीनन्दन त्रिपाठी के ये नाटक भारतेन्दु के नाटकों के समान साहित्यिक तो नहीं बन पाये हैं किन्तु इनमें रंगमंचीयता भरपूर है।

त्रिपाठी जी ने अपने पौराणिक नाटकों में अलौकिकता हटाकर कथानक तथा पत्रों को इतिहास की मानवीय भूमिका पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने अपने 'सीताहरण' नाटक को पूर्ण रूप से अलौकिकता से मुक्त रखने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने इस नाटक में सुग्रीव और हनुमान आदि को पूँछवाले और विकृत मुखवाले बन्दर नहीं बनाया है। इन सब बानर पात्रों को उन्होंने मानवों के रूप में प्रस्तुत करने का अभिनव प्रयत्न किया है। जयन्त और जटायु भी मनुष्यों के रूप में चित्रित किये गये हैं। देवकीनन्दन त्रिपाठी पौराणिक वानरों और पक्षियों को मानव रूप में प्रस्तुत करते हुए कलात्मक दृष्टि से बहुत सफल भले ही न हुए हों, किन्तु वे युगानुरूप नयी साहित्यिक चेतना को नाटकों में प्रतिष्ठित करने वाले भारतेन्दु-युग के अग्रणी लेखक अवश्य हैं।

कृष्णलीला नाटकों की परम्परा में भी देवकीनन्दन त्रिपाठी नये युग के अनुरूप अपनी क्रान्तिकारी दृष्टि का परिचय देते हैं। 'रूक्मिणी हरण' नाटक में भी वे कृष्ण को मानवीय रूप में चित्रित करते हैं और सम्पूर्ण कथानक के कार्य-व्यापार को लौकिक भूमिका पर प्रतिष्ठित कर उसे अधिक से अधिक विश्वसनीय बनाने का प्रयत्न करते हैं। 'रूक्मिणी हरण' नाटक में त्रिपाठी जी ने रूक्मिणी के द्वारा कृष्ण के पास भेजे गये दूत-प्रसंग का मनोहारी चित्रण किया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अनंग-कथन से बचकर चलते हैं। कई दृष्टियों से वे अपने समसामयिक नाटककारों की अपेक्षा अधिक आधुनिक हैं।

देवकीनन्दन त्रिपाठी ने समसामयिक समस्याओं को लेकर सुधारवादी दृष्टि

से भी कई नाटक लिखे हैं। उनके 'वेश्या विलास' नाटक में एक वेश्यागामी पुरुष की दुर्गति का चित्रण किया गया है, जो वेश्या के चंगुल में पड़कर अपना धर्म और धन दोनों ही खो देता है। इसी दृष्टि से उन्होंने 'बाल-विवाह' नाटक लिखा है जिसमें बाल-विवाह के दुष्परिणाम दिखाये गये हैं। त्रिपाठी जी का 'जयनारसिंह की' नामक नाटक हिन्दू समाज के अंधविश्वासों पर गहरा प्रहार करना है। नाटक की नायिका श्यामा अपने पुत्र को रोगमुक्त करने के लिए ओझों की झाड़-फूंक पर ज्यादा विश्वास करती है, वैज्ञानिक चिकित्सा पद्धति पर नहीं। इसका भयानक परिणाम उसको भोगना पड़ता है। यह नाटक त्रिपाठी जी ने एक उदात्त सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखा है।

गोवध की समस्या प्रत्येक युग में हिन्दू हृदयों को उद्वेलित करती रही है। इस विषय पर अनेक प्रकार का साहित्य रचा जाता रहा है। देवकीनन्दन त्रिपाठी ने इस समस्या को लेकर दो नाटक लिखे हैं। दोनों एक ही वर्ष अर्थात् १८८१ में लिखे गये। इस विषय का पहला नाटक है 'प्रचण्ड गोरक्षण' नाटक। मुसलमान गाय की कुर्बानी करना चाहते हैं, इस समस्या को लेकर हिन्दू-मुसलमानों में संघर्ष छिड़ जाता है। इस नाटक के संवाद बड़े रोचक और प्रभावशाली हैं। इनका दूसरा नाटक 'गोवध निषेध' है। इस नाटक में अकबर के द्वारा 'गोवध निषेध' किये जाने की घटना का वर्णन किया गया है। त्रिपाठी जी सदैव समय से कुछ आगे रहने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए इस नाटक में वे अखबारों के प्रचलन को चर्चा करते हैं और अंग्रेज तथा अंग्रेजी की भी बात करते हैं। आधुनिकता के अति उत्साह में त्रिपाठी जी का यह नाटक ऐतिहासिक असंगतियों के दोष से भर गया है।

देवकीनंदन त्रिपाठी ने अपने समय की सामाजिक स्थितियों के अनेक रूपों को चित्रित किया है। ग्रामवासी होने के कारण उनको कृषकों के जीवन की कठिनाइयों का घनिष्ठ परिचय था। प्रेमचन्द जी ने 'गोदान' आदि में कृषकों के जीवन की जिन विषमताओं का वर्णन किया है, उनका अनुभव देवकीनंदन त्रिपाठी ने भी किया था। 'एक-एक के तीन-तीन' नामक नाटक में उन्होंने यह दिखाया है कि साहूकार किस प्रकार किसान को थोड़े से रुपये उधार देकर उसका सर्वस्व हरण कर लेता है। इस दुःखान्त नाटक में त्रिपाठी जी ने किसान के जीवन की बड़ी करुण कथा लिखी है।

उस समय की समस्याओं को चित्रित करने वाले उनके अन्य नाटक हैं, 'बैल छै टके का'। यह नाटक ठगों की समस्या को लेकर लिखा गया है।

'कलयुगी जनेऊ', 'सैकड़ों में दस-दस' आदि नाटक इनके प्रखर सामाजिक चेतना के प्रमाण हैं। भले ही उनके नाटक बहुत साहित्यिक न हों, किन्तु सामाजिक चेतना की जो व्यापकता और निशितता उनमें मिलती है, वह भारतेन्दु जी की कलादृष्टि याद दिलाती है। देवकीनंदन त्रिपाठो प्रहसन लिखने की कला में भी सिद्धहस्त हैं। उनके 'रक्षाबंधन' और 'स्त्री चरित्र' आदि प्रहसन इसके प्रमाण हैं। जिस प्रकार भारतेन्दु जी ने 'भारत दुर्दशा' नाटक में प्रतीकात्मक शैली में अपने देश की दुर्दशा का चित्रण किया है, उसी शैली में त्रिपाठी जी ने 'भारत-भूमि' और 'भारत संतान' की दुर्दशा का अनुभव कराने के लिए 'भारत हरण' नाम का नाटक लिखा है। देवकीनंदन त्रिपाठी के अन्य नाटकों में 'चक्षु-दान', 'लक्ष्मी सरस्वती मिलन' भी उल्लेखनीय हैं। उनके लिखे हुए बीस से अधिक नाटक मिलते हैं और ये सब देश और समाज के उत्थान की भावना से भावित हैं।

श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि

(१८६३–१९३८)

आधुनिक काल आरंभ होने के पूर्व प्रायः तीन सौ वर्षों से हिन्दीतर कहे जाने-वाले क्षेत्रों में हिन्दी में काव्य-रचना हो रही थी। राष्ट्रीय स्तर के शोधकार्य द्वारा अहिंदी क्षेत्रों के कवियों के लिखे हुए कई सौ ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं और कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ सुसंपादित होकर प्रकाशित भी हो गई हैं। इस सामग्री पर कुछ विशिष्ट विद्वानों के शोधपरक प्रामाणिक ग्रन्थ भी प्रकाशित हो गये हैं। अहिंदी कहे जाने वाले क्षेत्रों में गहन शोध के परिणामस्वरूप अहिंदी क्षेत्रों के कुछ विशिष्ट नाटककार और उनकी कृतियों के विषय में जानकारी प्राप्त हुई है। इन नाटककारों में असम के महान् भक्त शंकरराव देव का नाम सर्वप्रमुख है। उन्होंने हिन्दी में कई भक्तिपूर्ण सरस अंकियानाट लिखे हैं, जिनमें 'कालिदमन यात्रा', 'रूक्मिणी हरण', 'केलिगोपालनाट', 'पत्नीप्रसाद', 'पारिजात हरण' प्रमुख हैं। महापुरुष शंकरदेव का जन्म १४४९ के आसपास हुआ था। वे प्राचीन भाषा नाटक के एक अन्यतम उन्नायक हैं।

दक्षिण भारत में भी हिन्दी में नाटक लिखने की परम्परा प्रवर्त्तमान रही। तंजौर पर सन् १६८४ से १७१२ तक भोंसला वंश के शाह जी महाराज ने शासन किया। उन्होंने हिन्दी में यक्षगान लिखे जिनके नाम हैं—(१) राधा-बंसीधर विलास नाटक (२) विश्वातीत विलास नाटक। ये दोनों नाटक आन्ध्र-प्रदेश की विशिष्ट रचना-शैली यक्षगान की पद्धति का अनुसरण करते हुए लिखे गये हैं। शाह जी ने संस्कृत, हिन्दी, तेलुगू, मराठी, तमिऴ, मऴयाळम भाषाओं

को मिलाकर 'पंचभाषा विलास नाटक' नाम से नाट्यक्षेत्र में एक नवीन प्रयोग किया है। 'उनके नाटकों में प्रयुक्त हिन्दी बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा है और गीतों के रागताल कर्नाटक संगीत के अनुसार हैं। दक्षिण भारत के संगीत के साँचे में हिन्दी भाषा को ढालने का यह प्रथम एवं सफल प्रयास है, जो राष्ट्रीय भाव-समैक्य का सुन्दर उदाहरण है।' शाह जी महाराज कवियों के कल्पवृक्ष थे। उनके दरबार में हिन्दी के कवि रहते थे। रामचंद्र कवि ने उनके संबंध में लिखा था—

दक्षिण उत्तर रक्षण को, इत शाह जू हैं उत शाहजहाँ।

दक्षिण भारत की, विशेषतः महाराष्ट्र की, कई नाटक मंडलियाँ देश भर में घूम-घूम कर हिन्दी के नाटकों का प्रदर्शन करती थीं। अकेली नाट्यकला प्रवर्तक नाटक मंडली ने इक्कीस हिन्दी नाटकों का अभिनय किया था।[1]

अहिन्दी क्षेत्र के हिन्दी नाटककारों में श्री नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि का स्थान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका रचना-काल भारतेन्दु-युग के अन्तर्गत आता है। इन्होंने बत्तीस नाटकों की रचना की, जिनमें से केवल चौदह ही उपलब्ध हो सके हैं। नादेल्ल ने ये सब हिन्दी नाटक तेलुगू लिपि में लिखे थे। डॉ० भीमसेन 'निर्मल' ने इनका संपादन कर उन्हें उपयुक्त टिप्पणियों के साथ हिन्दी लिपि में संपादित और प्रकाशित किया है। इन नाटकों के विषय में डॉ० निर्मल का कहना है—कवि जी की नाट्यशैली—'नाटकों के प्रस्तावना भाग में, मंगलाचरण के रूप में ईश्वर वन्दना युक्त छन्द पाठ के उपरान्त गणपति और सरस्वती की स्तुति करने पर उनका स्वयं रंगमंच पर आकर, प्रदर्शन की सफलता का आर्शीर्वाद दे जाने के पश्चात् सूत्रधार तथा विदूषक के संवादों में अभिनेय नाटक के कथानक का परिचय दिया जाता था। ये नाटक अंकों में विभाजित नहीं हैं। दृश्य-परिवर्तन की सूचना के रूप में सूत्रधार आगामी दृश्य के अंश पर आधारित एक गीत गा देता था। नाटक की समाप्ति सूत्रधार के मङ्गल गीत से होती थी।.... हिन्दी प्रान्त के समसामयिक रंगमंचीय पौराणिक नाटकों के जो सामान्य लक्षण हैं, लगभग वे ही लक्षण कवि जी के नाटकों में पाये जाते हैं।'

नादेल्ल जी का जन्म आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जिले के सीतारामपुरी स्थान में अप्रैल १८६३ ई० में हुआ था और उनकी मृत्यु १९३८ ई० में हुई। हिन्दी नाटकों के अतिरिक्त उन्होंने तेलुगू और संस्कृत में भी अस्सी पुस्तकें लिखी हैं। उनके प्रमुख हिन्दी नाटकों के विवरण इस प्रकार हैं—

---

१. देखिये—हिन्दी रंगमंच और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' (१८५३-१९६० ई०) पृष्ठ २९।

(१) रामदासु चरित्रमु—इस धार्मिक नाटक में रामदास के नाम से प्रख्यात् भक्त गोपन्न का चरित्र अंकित किया गया है। यह ऐतिहासिक नाटक गीत प्रधान है। इसमें सूत्रधार के गाये हुए ४८ गीत हैं। रामदास ने कबीर से राम नाम की दीक्षा ली। (२) अहल्या संक्रन्दनीयमु (र० का० १५-४-१८८५)—इसमें गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के जन्म, विवाह, शाप और शापमोचन की कथा है। इसमें सूत्रधार द्वारा गाये गए २४ गीतों का समावेश है। इन दो के अतिरिक्त उनके लिखे हुए प्रमुख नाटक हैं—(३) 'सीमन्तिनी चरित्रमु' (र० का० २०-६-१८८५), (४) 'भद्रापुरम्युदयमु' (र० का० १६-११-१८८५), (५) 'कीर्ति मालिनी प्रदानमु' (र० का० ३०-११-१८८५), (६) 'व्रत महिमा या अपूर्व दाम्पत्यमु' (र० का० २१-६-१८८६)। डॉ० विद्यावती लक्ष्मण राव 'नम्र' ने लिखा है कि उनके निम्नलिखित नाटकों के केवल गीत-मात्र मिलते हैं—

(१) पुत्र कामेष्टि, (२) सीता कल्याण, (३) दशरथ निर्वाण, (४) रामारण्य-वास, (५) सीता अपहरण, (६) सुग्रीव-पट्टाभिषेक, (७) हनुमत्प्रताप, (८) रावण संहार।

नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि का कृतित्व आश्चर्यजनक रीति से भारतेन्दु जी के कृतित्व से मेल खाता है। उन्होंने स्वयं हिन्दी नाटकों की रचना की और सूत्र-धार बनकर अपने नाटकों के अभिनय का आयोजन किया। भारतेन्दु जी के ही समान ये भी उच्चकोटि के कवि थे और जिस प्रकार उनको भारतेन्दु की उपाधि प्राप्त हुई थी उसी प्रकार नादेल्ल पुरुषोत्तम कवि को 'सरस-चतुर्विध-कविता-साम्राज्य-धुरंधर' की उपाधि प्राप्त हुई थी। पसुमूर्त्ति यज्ञनारायण शास्त्री ने 'आन्ध्रनट प्रकाशक' (१९२०) नामक ग्रन्थ में लिखा है, 'आन्ध्र में हिन्दी के अनेक नाटककार और अभिनेता हुए हैं।

●

उत्तर भारतेन्दु-युग

नामकरण की समस्या

भारतेन्दु के बाद हिन्दी भाषा और साहित्य का जो दूसरा उत्थान हुआ, उसके प्रमुख प्रेरणा-केन्द्र पं० महाबीरप्रसाद द्विवेदी थे। इसीलिए साधारणतया यह युग द्विवेदी-युग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस दूसरे उत्थान में काव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, समालोचना आदि साहित्यांगों की उत्तरोत्तर वृद्धि तो होती रही, पर नाटक की गति अवरुद्ध होती हुई दिखाई पड़ी। भारतेंदु-युग के लेखकों का जो अभूतपूर्व उत्साह बहुसंख्यक नाटकों के प्रणयन का कारण बना था, वह इस युग में आकर मन्द पड़ गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि 'भारतेन्दु के पीछे नाटकों की ओर प्रवृत्ति कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक न दिखाई पड़े। अनुवादों की परम्परा अलबत चलती रही।'[1] वस्तुतः भारतेन्दु जी का समय हिन्दी नाटकों का स्वर्णयुग कहा जा सकता है, और उनके बाद ही नाटकों के क्षेत्र में जो ह्रासो- न्मुखता दिखाई पड़ी थी, उससे उस समय के विद्वानों और लेखकों को मार्मिक कष्ट हुआ। 'चौपट चपेट' नामक प्रहसन में उपलब्ध किशोरीलाल गोस्वामी का कथन इसका प्रमाण है—

'हिन्दी के अभाग्यवश जब से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी परलोक सिधारे हैं, तब से साहित्य की बड़ी दुर्दशा हो रही है। गद्य की तो जो हुई सो हुई है, पर पद्य की दशा ऐसी भयानक हो रही है कि देखते ही शरीर काँप उठता है। बहुत से मूर्खाधिराज कविता का श्राद्ध करने पर उतारू भये हैं। अस्तु, और नाटक-विद्या को तो कदाचित् बाबू साहब अपने संग ही ले गये हों। उनके पीछे दो-एक रूपक कि जिनके घंटा भर जी लगै, छोड़के और आज तक कोई नाटक नहीं बने जिससे हिन्दी भाषा की पुष्टि होय, यह अभाग्य नहीं तो क्या है?'

इसी प्रकार रामकृष्ण वर्मा ने भी अपने 'कृष्णकुमारी' नाटक में भारतेंदु के पीछे नाटकों की हीन अवस्था पर खेद-प्रकाश किया है—

'....जब से श्रीयुत भारतभूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने और विशेषतः विद्वद्शिरोमणि लाला श्रीनिवासदास जी ने इस भारतवर्ष को छोड़कर स्वर्ग को

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४९३।

भूषित किया, तब से अभागिनी हिन्दी में कोई भी नाटक, उपन्यास अथवा कोई अपूर्व मनोहर ग्रन्थ देखने में न आया। नाटकों की जैसी कुछ दुर्दशा इन दिनों है वह केवल वे ही लोग जान सकते हैं, जो नाटक के गुण-दोष और लक्षणों से अभिज्ञ हैं। इन दिनों यह परिपाटी पड़ गई है कि दो-तीन पुरुषों की बातचीत अथवा रंगभूमि पर व्यर्थ ही हाथ-पैर हिलाने ही को लोग नाटक कह देते हैं। स्वर्गवासी बाबू हरिश्चन्द्र जी ने इन दोषों को दूर करने और लोगों को नाटक के लक्षण और लाभ समझाने के लिए 'नाटक' नामक एक उत्तम ग्रन्थ लिखा था परन्तु आलसी लोग उसे कब देखते हैं.....'।

भारतेन्दु-युग की तुलना में द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में नाटकों के प्रति लेखकों का जो उपेक्षा-भाव दिखाई पड़ा, उसी का यह परिणाम है कि हिन्दी-नाटक-साहित्य के इतिहास अथवा विकास पर लिखने वाले प्रायः सभी लेखकों ने उसको निर्महत्व समझकर उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकार की है। बाबू ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि "भारतेंदु जी तथा उनके मंडल के अस्त होने पर हिन्दी-साहित्य-प्रेमियों ने नाटकों की ओर अपनी कृपादृष्टि एकदम कुछ दिन के लिए बन्द कर ली।"[1] इसीलिए सम्भवतः उन्होंने अपने 'हिन्दी-नाट्य साहित्य' में भारतेन्दु-काल के नाटकों का स्वतंत्र रूप से विवरण देने के बाद वर्त्तमानकाल का विवेचन प्रारम्भ कर दिया है, और नाटकों की दृष्टि से द्विवेदी-युग का स्वतंत्र अस्तित्व और महत्व स्वीकार नहीं किया है। इसी प्रकार डॉ० सोमनाथ गुप्त ने भी 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में १९०५ ई० से १९१५ ई० तक के समय को जो पूर्ण रूप से द्विवेदी जी का ही युग है, संधिकाल की संज्ञा प्रदान की है। आश्चर्य है, गुलाबरायजी ने भी इसी प्रकार संधिकाल कह कर द्विवेदी-युग की उपेक्षा की है।[2] प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० दशरथ ओझा जैसे अन्य लेखकों में भी नाटकों के उत्कर्ष को दृष्टि से द्विवेदी-युग के सम्बन्ध में ऐसी ही धारणा पाई जाती है। पर हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास में द्विवेदी-युग के प्रति इस प्रकार के दुर्लक्ष्य या उपेक्षा भाव को प्रश्रय देना समीचीन नहीं है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु-युग में जितने नाटक लिखे गये, सम्भवतः उसके तृतीयांश भी द्विवेदी-युग में नहीं लिखे गये। यह भी सत्य है कि युगधर्म और अपने युग की सभी समस्याओं को नाटकीयता प्रदान करने का जो अदम्य उत्साह भारतेन्दु-युग के लेखकों में दिखाई पड़ा था, उसके दर्शन हमें द्विवेदी-युग

---

१. ब्रजरत्नदास कृत 'हिन्दी नाट्य-साहित्य', पृ० १२३, द्वितीय संस्करण।
२. गुलाबराय कृत 'काव्य के रूप', पृ० ८३।

के लेखकों में नहीं होते। हिन्दी नाटक और रंगमंच के उत्थान और निर्माण के लिए भारतेंदु जी ने ऐतिहासिक महत्व का जैसा कार्य किया, वैसा द्विवेदी जी नहीं कर सके। फिर भी द्विवेदी जी ने नाटक की नितान्त उपेक्षा की, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' नामक एक पुस्तिका इस विषय के संस्कृत, अंग्रेजी, मराठी और हिन्दी के उस समय के सब उपलब्ध ग्रन्थ पढ़कर लिखी है। इस पुस्तिका को पढ़कर यह प्रकट होता है कि आचार्य द्विवेदी जी को अपने समय के नाटकों को देखकर बड़ा दुःख हुआ था,[1] और वे अभीष्ट दिशा में उनका अधिक से अधिक उत्कर्ष-साधन करना चाहते थे। पर नाट्यशास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक ज्ञान से विहीन जो अनधिकारी लेखक अपनी लेखनी की कालिख नाटक-साहित्य के मुख पर पोतने लगे थे, उनकी अवश्य उन्होंने बड़े-कड़े शब्दों में भर्त्सना की है—

'नाटक लिखने की प्रणाली का जिन्हें अत्यल्प भी ज्ञान नहीं, उन्होंने भी हिन्दी में नाटक लिखने की कृपा की है। ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि इस प्रकार ऊटपटाँग लिखकर उसे प्रकाशित करने से हिन्दी की ही नहीं, स्वयं उनकी भी हानि है। नाटक लिखना सबका काम नहीं, उसके लिए उपयुक्त विद्या-बुद्धि के अतिरिक्त लोक-व्यवहार और मनुष्य-प्रकृति का पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए।'[2]

इसी प्रकार उन्होंने लेखकों को भी कड़ी फटकार बताई है, जो पारसी कम्पनियों के लिए अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी के ऐसे नाटक लिख रहे थे, जिनसे सदाचार की मर्यादा का हनन हो रहा था—

'नाट्यकला का फल उपदेश देना है। उसके द्वारा मनोरंजन भी होता है और उपदेश भी मिलता है। चाहे जैसा नाटक हो और चाहे उसे जिसने बनाया हो, उससे कोई न कोई शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो नाटककार का प्रयत्न व्यर्थ है, और अभिनेता का परिश्रम व्यर्थ है और दर्शकों का नेत्र-व्यापार भी व्यर्थ है। जो लोग इन्द्रसभा और गुलबकावली आदि खेल, जो पारसी थियेटर वाले आजकल प्रायः खेलते हैं, देखने जाते हैं, उन्हें अपना हानि-लाभ सोचकर वहाँ पधारना चाहिए।'[3]

---

१. देखिये—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी कृत 'नाट्यशास्त्र का उपसंहार'—'अभाग्यवश हिन्दी में दो-चार को छोड़कर कोई अच्छे रूपक ही नहीं। नाटक लिखना लोगों ने खेल समझ रखा है'।

२. देखिए—वही, पृ० ५७।

३. देखिए—वही पृ० ५७।

इन अवतरणों से यह सिद्ध होता है कि आचार्य द्विवेदी हिन्दी नाटक की गतिविधि को बहुत ध्यान से देखते रहते थे, कम से कम वे उस ओर से असावधान तो कदापि नहीं थे। उनके द्वारा हिन्दी-भाषी जनता के प्रायः दो दशकों के अनवरत साहित्यिक अनुशासन के परिणामस्वरूप जिस साहित्यिक आदर्शवाद का जन्म हुआ था, उसने नाटक-साहित्य की प्रगति पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डाला। अवश्य इस साहित्यिक आदर्शवाद से अनुप्राणित ऐसा कोई महान् व्यक्तित्व नाटक के क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ा, जैसा आलोचना के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का, कविता के क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त का और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद जी का था। द्विवेदी जी का रोषपूर्ण भृकुटि-भंग देखकर अनधिकारी और व्यवसायी दोनों ही प्रकार के नाटक-लेखकों के दिल दहल गये थे और उनके आतंक के कारण उनके समय में भारतेंदु-काल की नाटकों की वेगवती धारा मंद पड़ गई थी और क्षीण भी। किन्तु मंद और क्षीण होकर इस धारा में जो निर्मलता आई, वह हिन्दी नाटक के इतिहास की निर्महत्व घटना नहीं है। अतएव भारतेंदु-युग की परिसमाप्ति के बाद हिन्दी नाटक की विकास-दिशा में जो परिवर्तन लक्षित होता है, उसका सम्यक् श्रेय आचार्य द्विवेदी जी को प्राप्त होना चाहिए। द्विवेदी जी का प्रभाव हिन्दी नाटक-साहित्य पर कई रूपों में प्रतिफलित प्रतीत होता है। एक तो जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आचार्य जी के आतंक के कारण अनधिकारी लेखक हिम्मत हार बैठे जिसके परिणामस्वरूप उस कूड़े-कचरे की बाढ़ रुक गई जो नाटक-साहित्य के नाम पर हिन्दी के कलेवर को मलिन बना रहा था। दूसरी बात यह हुई कि अपनी उल्लिखित 'नाट्यशास्त्र' नामक पुस्तिका में आचार्य द्विवेदी जी ने जो निर्देश दिये,[1] उनके प्रकाश में लेखकों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता को ठीक-ठीक पहचाना। इसका परिणाम यह हुआ कि मौलिक नाटक-रचना की सहज क्षमता रखने वाले कुछ इने-गिने व्यक्ति ही पूरी तैयारी के साथ इस क्षेत्र में टिके रह पाये। अन्य लोग जिनको हिन्दी नाटक-साहित्य को समृद्ध करने की सच्ची लगन थी, संस्कृत, बँगला, अंगरेजी आदि भाषाओं की श्रेष्ठ नाटकीय कृतियों के सफल अनुवाद करने में दत्तचित हुए। इसीलिए आलोच्य-काल में उत्तम अनूदित नाटकों की बहुत अच्छी संख्या हमें उपलब्ध होती है। तीसरी महत्वपूर्ण बात यह हुई कि पारसी थियेटर के नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध व्यवसायी रंगमंच पर हिन्दी और हिन्दूपन दोनों का थोड़ा-बहुत प्रवेश हुआ। द्विवेदी जी ने अपने युग के लेखक और प्रेक्षक को पारसी थियेटर वाले अभिनयों

१. देखिये—आचार्य द्विवेदी कृत 'नाट्यशास्त्र का उपसंहार'।

के सम्बन्ध में जो चेतावनी दी,[1] उसका अभीष्ट प्रभाव हुआ। इसी समय पारसी रंगमंच पर राधेश्याम कथावाचक जैसे लेखकों को स्थान मिला जिनकी रचनाओं में हिन्दीपन के साथ-साथ भारतीय आचार को मर्यादा का निर्वाह भी दिखाई पड़ता है।

इस प्रकार हम आचार्य द्विवेदी जी के साहित्यिक आदर्शवाद और नीतिवाद से व्यवसायी रंगमंच को भी थोड़ा-बहुत प्रभावित पाते ही हैं। चौथी उल्लेखनीय बात यह है कि द्विवेदी जी के समकालीनों के अधिकांश मौलिक नाटक उनके साहित्यिक-व्यक्तित्व की मुद्रा धारण करते हैं। इन सब नाटकों में हमें द्विवेदी जी द्वारा अनुष्ठित "नीतिवाद, व्यवहारवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद" का ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष व्याख्यान सुनाई पड़ता है। परन्तु नाटक मनुष्य की मूलतः विविध शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं का अनुकरण है।[2] इसलिए इतने कठोर प्रतिबन्धों के बीच उसके सहज विकास का रुक जाना भी स्वाभाविक ही है। यही कारण है, द्विवेदी-युग के मौलिक नाटक सजीवता, सरसता और कलात्मक परिपाक की दृष्टि से भारतेन्दु-युग के नाटकों से आगे नहीं जाते। अवश्य, उनकी भाषा कुछ अधिक परिष्कृत और परिमार्जित है जो द्विवेदी-काल की सर्वप्रमुख विशेषता है। सम्भवतः इसी कारण वे अनेक अव्यवसायी नाटक मण्डलियाँ जो भारतेन्दु-युग के उन्मुक्त वातावरण में प्रादुर्भूत हो चलीं थीं, द्विवेदी-युग के घोर नीतिवादी तथा शुद्धिवादी वातावरण में साँस न ले सकीं और कुछ समय बाद काल-कवलित हो गईं। पं० माधव जी शुक्ल जैसे उत्साही नाटक-लेखकों और श्रेष्ठ अभिनेताओं ने भी लखनऊ, जौनपुर और कलकत्ता आदि में जाकर नाटक-मण्डलियों की स्थापना के जो प्रयत्न किए, वे भी असफल हो गये। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए हम आचार्य द्विवेदी जी के प्रभाव को हिन्दी नाटक के लिए पाषाणधर्मी तो नहीं मानेंगे, फिर भी समष्टि रूप से उनके व्यक्तित्व की सीमाओं से हम उसको चारों ओर से मर्यादित अवश्य पाते हैं। पर आचार्य के आदर्शनिष्ठ व्यक्तित्व की सीमाओं से मर्यादित होकर हिन्दी नाटक की हानि हो हानि हुई, ऐसा समझना बहुत भारी भ्रम होगा। अपने कठोर साहित्यिक अनुशासन में आचार्य ने हिन्दी नाटक को संयम का जो पाठ पढ़ाया, उसी से वह प्रसादकालीन नव्योत्थान के उपयुक्त शक्ति संतुलित कर सका। तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी के प्रभाव को हिन्दी नाटक के लिए परिणाम में हम अप्रत्यक्षरूप से शुभावह ही पाते हैं, और इसलिए इस आलोच्य अवधि को

---

१. देखिये—आचार्य द्विवेदी कृत 'नाट्यशास्त्र का उपसंहार'।

२. "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्"—दशरूपक।

यदि कोई द्विवेदी-युग कहे तो हम उसे अनुपयुक्त नहीं समझते ।

परन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इस द्वितीय उत्थानकाल में जिसे काव्य-रचना आदि के क्षेत्र में द्विवेदी-युग कहा जाता है, मौलिक नाटकों की रचना की अपेक्षा अनुवाद का कार्य बहुत अधिक हुआ। इसीलिए कतिपय विद्वान् इसे 'अनुवाद-काल' कहना अधिक संगत समझते हैं। भारतेन्दु के जीवनकाल में हमें जैसा उत्साह मौलिक नाटकों के प्रणयन में दिखाई पड़ता है, वैसा ही उत्साह अब नाटकों के अनुवाद-कार्य में लक्षित होता है। ये अनुवाद विभिन्न भाषाओं में किये गये, पर इनमें बँगला के अनूदित नाटकों की संख्या सम्भवतः सबसे अधिक है और संस्कृत, अंगरेजी, मराठी, गुजराती आदि का स्थान क्रमशः उसके बाद आता है। द्विवेदी जी ने स्वयं विभिन्न भाषाओं से अनेक ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया था और इस कार्य को वे निरंतर प्रोत्साहित भी करते रहते थे। अतएव उस युग के लेखकों में अनुवाद-कार्य के प्रति विशेष उत्साह होना स्वाभाविक ही था।

इस युग के मौलिक नाटक पूर्ववर्ती पीढ़ी के नाटकों की अपेक्षा संख्या में बहुत कम तो हैं ही, भाषा-परिष्कार को छोड़कर अभिनेयता आदि नाटक के अन्य अन्तर्वर्ती व्यावर्तक गुणों में भी हीन हैं। भारतेन्दु-युग के नाटकों में जीवन के यथार्थ के अभिव्यंजन और अनुकरण का जो अदम्य उत्साह परिलक्षित होता है, वह भी इनमें नहीं है। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के नाटकों में व्यंग्य और परिहास की भी जो सहज वेगवती कल्लोलिनी प्रवहमान है, उसका उत्स भी अब कुछ सूखता-सा प्रतीत होता है। इन सब दृष्टियों से हम इसे भारतेन्दु-युग के नाटक का ह्रासकाल अथवा उत्तर भारतेन्दु-युग कह सकते हैं।

किन्तु, इस युग में मौलिक नाटकों की सर्जना का प्रयास भले ही मन्द पड़ गया हो, पर हिन्दी रंगमंच की स्थापना और हिन्दी नाटकों के अभिनय की कलापूर्ण परम्परा के प्रवर्तन का जैसा संगठित प्रयास इस युग में हुआ, वैसा उसके बाद आज तक नहीं हो पाया है। भारतेन्दु के आदर्श से अनुप्राणित अनेक साहित्यकारों और साहित्य प्रेमियों ने स्थान-स्थान पर नाटक मंडलियों की स्थापना कर हिन्दी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान का जो संगठित प्रयत्न किया, वह हिन्दी नाटक-साहित्य के इतिहास का सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य अत्यन्त गौरवशाली अध्याय है। खेद है, वह अब तक विस्मृत है। जिस समय यह प्रयत्न किया गया उस समय व्यावसायिक पारसी रंगमंच का साम्राज्य था, उसकी होड़ में बिना किसी सहयोग, सहायता या समर्थन के यह महाप्राण आन्दोलन असफल

अवश्य हो गया, पर आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक महान् आदर्श छोड़ गया। मुझे इस बात पर आश्चर्य है कि आचार्य द्विवेदी जी का आशीर्वाद भी इन प्रयत्नों को नहीं प्राप्त हुआ। कम से कम उसका कोई उल्लेख या प्रमाण नहीं मिलता। भारतेन्दु-युग की नाट्य-चेतना के इस प्रतिभापूर्ण प्रसार को देखकर इस युग को मैं भारतेन्दु-युग का उत्तरार्द्ध कहना ही अधिक उपयुक्त समझता हूँ।

पीठिका

आलोच्यकाल प्रारम्भ होने के पूर्व राष्ट्र के जीवन में ऐसी कई महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हो चुकी थीं, जिनका हमारे साहित्य पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। एक तो राष्ट्र की शिक्षा-व्यवस्था में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया था जिसके परिणामस्वरूप देश की सांस्कृतिक भाषा, संस्कृत और विविध देशी भाषाओं को पूर्ण रूप से अपदस्थ कर उनके स्थान पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठित कर दिया गया था। अंगरेजी के द्वारा अंग्रेजियत का व्यापक प्रवर्तन करके देश की सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतना को निःशेष कर देने की मैकाले की व्यापक योजना अब पूर्ण रूप में व्यवहृत हो चली थी। १८५४ ई० में चार्ल्स वुड ने अपनी आयोजना में 'हाईस्कूल तक की प्रारम्भिक शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ और उच्चशिक्षा का माध्यम अंगरेजी रखने की सम्मति प्रकट की।.... परन्तु सरकार ने अपने हित-साधन के लिए उन बातों को कार्यक्रम में परिणत नहीं किया और न उसने उनको प्रोत्साहन ही दिया।....अंगरेजी ही शिक्षा का माध्यम बनी रही।' अंगरेजी के माध्यम से उच्चशिक्षा देने के लिए कलकत्ता, बम्बई और मद्रास आदि में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। पर, 'अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाने से भारतीय साहित्य और जीवन का बड़ा अहित हुआ। भाषाओं की उन्नति रुक गई और देश की क्रियात्मक शक्ति का बड़ा ह्रास हो गया। अंग्रेजी शिक्षा पाने वालों पर पाश्चात्य शिक्षा का गहरा प्रभाव पड़ा। परन्तु उससे उनकी मौलिकता और मानसिक शक्ति का विकास न हुआ। विदेशी भाषा के माध्यम द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर जो कुठाराघात हुआ, वह शायद संसार के किसी अन्य देश में न हुआ होगा।' तात्पर्य यह कि भारत में जो शिक्षा-प्रणाली इस समय प्रचलित की गई थी, वह यहाँ की जनता के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। 'वह देशीय आवश्यकताओं के प्रतिकूल एवं जातीय मनोवृत्तियों के प्रति उदासीन थी। उसका आधार पूर्ण रूप से अंग्रेजी था।'[1] भारतेन्दु ने अंग्रेजी शिक्षा के दुष्परिणामों का अनुमान लगा लिया था,

१. डॉ० ईश्वरी प्रसाद कृत 'आधुनिक भारत', पृष्ठ २७३।

इसलिए समय-समय पर उन्होंने जनता का ध्यान अपनी सहज मनोहारी शैली द्वारा इस दिशा में आकृष्ट किया है। उनकी यह मुकरी बहुत प्रसिद्ध है—

सब गुरुजन को बुरो बतावै, अपनी खिचड़ी आप पकावै।
भीतर तत्व न, झूठी तेजी, क्यों सखि सज्जन, नहिं अंगरेजी ॥

द्विवेदी-युग तक पहुँचते-पहुँचते इस शिक्षा-व्यवस्था के परिणाम चारों ओर अच्छी तरह प्रकट होने लगे थे। इसीलिये सन् १९०२ में जो यूनिवर्सिटी कमीशन नियुक्त हुआ और उसके परिणाम स्वरूप सन् १९०४ में जो यूनिवर्सिटीज ऐक्ट' पास हुआ, उन दोनों का ही भारतीय जनता द्वारा घोर विरोध किया गया।

परन्तु प्रबल भारतीय संस्कारों की प्रेरणा से अंग्रेजी-शिक्षा प्राप्त कुछ ऐसे व्यक्ति भी कालान्तर में निकल आये, जिनमें अपने देश की हीनावस्था के प्रति असंतोष का उदय हुआ। उन्होंने अंगरेजी शासन की अनीति और अत्याचार के यथार्थ स्वरूप को समझा, इसलिए वे इस स्थिति के प्रतिरोध के लिए कृतसंकल्प हुए। ऐसे ही लोगों द्वारा 'इस देश में राजनीतिक संघर्ष का बीजारोपण हुआ।' राष्ट्रीय आत्मसम्मान का यह उन्मेष राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा, उसके परिणामस्वरूप सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में भी असाधारण प्रगति हुई। अतः चारों ओर सुधार की माँग होने लगी। समाज-सुधारक राजाराम-मोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। इस समाज ने हिन्दुओं के पारस्परिक भेदभाव दूर करने के लिए मूर्तिपूजा और जातिभेद का विरोध किया। उधर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में आर्य समाज की स्थापना की। इस समाज ने वेद-वर्णित उच्च भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार का प्रशंसनीय प्रयास किया। इसके प्रचार कार्य से भारतीयों को अपनी सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति गौरव-भाव और अपने अतीत के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न हुए।''''इन सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं ने भारतीयता को संबल प्रदान किया और राष्ट्रीयता की उन्नति में योग दिया। लोगों ने समझ लिया कि हमारी सामाजिक एवं धार्मिक अवनति का मुख्य कारण हमारी राजनीतिक परतन्त्रता है।'[1]

इन्हीं दिनों प्लेग और दुर्भिक्ष के देशव्यापी भीषण प्रकोप के कारण चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई थी। मरी और भुखमरी के हृदयविदारक दृश्यों को देखकर भारतेन्दु-काल के लेखकों की चेतना किस प्रकार आन्दोलित हुई थी,

१. देखिये—वही।

इसका विवरण यथास्थान दिया जा चुका है। इस युग में भी वह स्थिति प्रायः ज्यों की त्यों रही। सन् १८९९ में जब लार्ड कर्जन वायसराय होकर आया उस समय देश प्लेग और दुर्भिक्ष की दुःसह यन्त्रणाओं के कारण छटपटा रहा था। कर्जन ने सारे देश का दौरा करके असंख्य भारतवासियों को कीड़ों-मकोड़ों की तरह बिलबिलाते, तड़पते और मरते देखा और द्रवीभूत होकर उसने स्वयं देश-विदेश के लोगों से पीड़ितों की सहायता के लिए अपील की। कर्जन जैसे घोर साम्राज्यवादी को द्रवीभूत कर देनेवाली इस स्थिति ने राष्ट्र की उदीयमान राजनीतिक चेतना को भी उदीप्त किया। चारों ओर अंग्रेजों की शासन-नीति की कटु से कटु आलोचना और तीव्र से तीव्र निन्दा हुई। इन सब बातों का एक परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस जिसकी स्थापना ए. ओ. ह्यूम नामक एक सिविलियन अफसर द्वारा सम्भवतः राष्ट्रीय चेतना को प्रवंचित करने के लिए हुई थी, एक राष्ट्रीय संस्था बन गई। अब कांग्रेस दादाभाई नौरोजी, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, सर फिरोजशाह मेहता, श्री गोखले, महामना मालवीय प्रभृति नेताओं के प्रभाव में आ गई, जिससे उसकी लोकप्रियता बढ़ी और वह लोकहित और लोकमत की अभिव्यक्ति का एकमात्र प्रभावशाली साधन बनने लगी। इस प्रकार देश में जिन दिनों चारों ओर असंतोष और क्षोभ बढ़ रहा था, कर्जन ने १९ जुलाई सन् १९०५ को बंग-विच्छेद की अपनी योजना घोषित की। इस योजना ने भारतीयों के जले हृदय पर नमक छिड़का और वह आग जो भीतर ही भीतर सुलग रही थी, उसमें मानों घृत की आहुति पड़ गई। सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने लिखा है कि 'यह घोषणा एक बम के गोले की भाँति गिरी। हमें ऐसा लगा कि हम अपमानित, उपेक्षित और प्रवंचित किये गये हैं।' बंग-भंग की इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने की बड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई, जिसके परिणामस्वरूप वह ऐतिहासिक स्वदेशी आन्दोलन चला तो सात वर्षों तक निरंतर जारी रहकर अन्त में सन् १९१२ में तभी रुका जब बंग विभाजन का कानून रद्द कर दिया गया। इस स्वदेशी आन्दोलन को निर्मूल करने के लिए सरकार ने कठोर दण्ड का आश्रय लिया, पर उसकी दमन-नीति भी इस विराट् जन-आन्दोलन के समक्ष असफल सिद्ध हुई।

इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि बंगभंग के पूर्व राजनीतिक-चेतना का प्रसार थोड़े से शिक्षित उच्च और उच्च-मध्यवर्ग तक ही हो पाया था। इसलिए उस समय की राजनीति ने जो वैधानिक नीति ग्रहण की थी वह लिबरल अथवा नरमदलीय कही जाती है। सन् १९०५ तक नरम दल वालों की इस नीति का ही देश की राजनीति में प्राधान्य रहा। पर सन् १९०७ के आसपास

देश की राजनीति का सूत्र गरम दल वालों के हाथ में चला गया जो लिबरलों की वैधानिक नीति को निर्बल और व्यर्थ समझते थे तथा उग्रातिउग्र मार्ग का अवलम्बन करके शीघ्र से शीघ्र अंग्रेजी सत्ता का उन्मूलन कर डालना चाहते थे। गरम दल वालों में प्रधान लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक थे, जिनका 'केसरी' अंग्रेजी शासन का सबसे प्रभावशाली शत्रु था। लोकमान्य तिलक की ही नीति के प्रबल पोषक बंगाल के बिपिनचन्द्र पाल और पंजाब के लाला लाजपत राय थे। इन गरम दल वाले नेताओं के प्रभाव से राजनीतिक चेतना का प्रसार निम्न-मध्यवर्ग और जन-साधारण में भी हो चला और बंग-भंग विरोधी आंदोलन ने इसे पूर्ण रूप से सर्वसाधारण तक पहुँचा दिया। सन् १९०६ में काँग्रेस ने भी वैधानिक सुधारों की क्षुद्र याचना का मार्ग छोड़कर अपना ध्येय स्वराज्य घोषित कर दिया था। इतना ही नहीं, आलोच्यकाल के भीतर ही सावरकर जैसे राष्ट्र-प्राण तेजस्वी तरुणों ने 'अभिनव भारत' जैसी संस्थाओं का भी संगठन किया था, जिनकी पहली प्रतिज्ञा सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा राजनीतिक दृष्टि से सम्पूर्ण भारतवर्ष को स्वतंत्र करना था।

इसी अवकाश में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भी कुछ ऐसी घटनायें घटित हुईं जिन्होंने हमारी अभ्युदयशील राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित और पुरस्कृत करने में महत्वपूर्ण योग दिया। इस प्रकार की एक उल्लेखनीय घटना रूस और जापान का युद्ध है, जिसमें छोटे से एशियाई देश जापान ने रूस को करारी पराजय दी। 'अभी तक योरोपीय अजेय समझे जाते थे। परन्तु जब सन् १९०५ में एशियाई देश जापान ने रूस जैसे विशाल योरोपीय देश को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया तो एशिया के अन्य परतन्त्र देशों की आशा बलवती हो गई'।[१] इसके अतिरिक्त विवेकानन्द और रामतीर्थ जैसे महापुरुषों ने यूरोप और अमरीका जाकर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में भारतवर्ष की सर्वोपरिता प्रतिपादित और प्रचारित की। इसके पहले ही कालिदास के 'मेघदूत' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' आदि ग्रन्थ यूरोपीय भाषा में अनूदित हो चुके थे, जिसकी पश्चिमी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। इन सभी बातों से राष्ट्र के प्रबुद्ध आत्म सम्मान की अभिवृद्धि हुई। इसलिए सन् १९१३ में जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ, तो देश में चतुर्दिक हर्ष और उत्साह की लहर फैल गई।

वस्तुतः सन् १९०५ से १९२० तक का समय भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास का काल है। राष्ट्रीयता के उद्भव और विकास में सहायता देनेवाली

---

१. डॉ० ईश्वरी प्रसाद कृत 'आधुनिक भारत', पृष्ठ ३८०

शक्तियों और परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण पहले दिया जा चुका है। ध्यान देने की बात यह है कि राष्ट्रीयता का यह नव्योत्थान अंग्रेजों के पास अधिकाधिक अधिकारों और राजनीतिक सुधारों के आवेदनपत्र भेज करके ही सन्तुष्ट रहनेवाला नहीं था। अब वह संगठित और उग्र होकर स्वराज्य तथा होमरूल के लिए आग्रह और आन्दोलन करने लगा था। इस प्रसंग में यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि हमारे अलोच्यकाल का आरम्भ लगभग उसी समय होता है जब देश बंग-भंग विरोधी विराट जन-आन्दोलन में प्रवृत्त होने वाला है और इसका अन्त भी प्रायः उस समय होता है जब सारा राष्ट्र महात्मा गाँधी के नेतृत्व में सन् १९२० का ऐतिहासिक सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ करने की तैयारी कर रहा है। ऐतिहासिक महत्व के इन दो राष्ट्रीय जन-आन्दोलनों के बीच अवस्थित द्विवेदी-युग के साहित्य ने सदैव शक्तिभर राष्ट्रीयता का पोषण और संवर्द्धन किया।

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि भारतेन्दु जी की राष्ट्रीय भावना और चेतना में जो प्रखरता थी, वह आचार्य द्विवेदी जी में नहीं थी। भारतेंदु जी ने अपनी अल्प जीवन-अवधि में यह अच्छी तरह समझ लिया था कि अंग्रेज देश का आर्थिक शोषण कर रहे हैं, जनता दिन-दिन गरीब होती जा रही है और बहुसंख्यक जन दाने-दाने को तरस रहे हैं। दूसरी प्रमुख विशेषता थी, उनका अंग्रेजी विरोध। वे देख रहे थे कि अंग्रेज शासक अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम, सरकारी कामकाज की भाषा बनाकर दासता और शोषण के साम्राज्यवादी तंत्र को मजबूत बनाने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। इसलिए उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक शोषण और शिक्षा तथा सरकारी कामकाज के क्षेत्र में अंग्रेजी के आरोपण का खुलकर और जमकर विरोध किया। उनका सम्पूर्ण साहित्य इसका प्रमाण है। उनका 'नाट्यसाहित्य' इन्हीं विचारों के प्रचार के लिए लिखा गया था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को भी अंग्रेजी साम्राज्य की शोषण प्रक्रिया का पूरा-पूरा ज्ञान था। उन्होंने अपने 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक ग्रन्थ में लिखा था, "प्रजा के हितचिन्तकों की राय है कि इस देश की जमीन प्रजा की ही है। न राजा की है, न जमींदारों की। जो जमीन जिस काश्तकार के कब्जे में चली आती है, उसे उसकी मौरूसी जायदाद समझना चाहिए" (पृ० १३०)। ये विचार उस समय को देखते हुए बड़े क्रान्तिकारी हैं। आचार्य द्विवेदी भी भारतेंदु जी की तरह स्वदेशी आन्दोलन के समर्थक हैं, किन्तु अंग्रेजी के विरोध में वे भारतेन्दु जी की तरह मुखर नहीं हैं। वे अपना महत्वपूर्ण पत्र-व्यवहार भी अंग्रेजी में करते हैं। कविवर श्रीधर पाठक का और उनका पत्र-व्यवहार अंग्रेजी में ही होता था। इन दोनों महारथियों के वे अंग्रेजी पत्र अब

प्रकाशित हो गये हैं। कविता, कथा-साहित्य, समीक्षा आदि पर द्विवेदी जी का गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु नाटक-साहित्य अधिकांश भारतेन्दु के दिखाये गये मार्ग पर ही चलता रहा। द्विवेदी जी की राष्ट्रीय-चेतना में वैसी आग्नेय प्रखरता नहीं थी जैसी भारतेन्दु जी में थी। द्विवेदी जी उनकी तुलना में बहुत सौम्य थे।

पर, यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि द्विवेदी-युग की राष्ट्रीयता का साँचा राजनीति में भी पूर्ण स्वदेशी था। उस पर विदेशी छाप तब तक नहीं पड़ पायी थी। उस समय के प्रायः सभी प्रमुख राजनीतिक नेता भारत के ही गौरवमय अतीत से अनुप्राणित थे। गीता के महान् व्याख्याता लोकमान्य तिलक ही उस समय की राजनीतिक चेतना के प्रमुख सूत्रधार थे। उनके द्वारा राष्ट्रीयता के जिस स्वरूप का निर्माण हो रहा था, वह विशुद्ध भारतीय था। उसका विकास भारत की अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक परम्पराओं के बीच से हो रहा था। निःसन्देह हमारे राजनीतिक नेताओं के समक्ष मेजिनी और गैरीबाल्डी के आदर्श भी आ चुके थे और इन विदेशी देशभक्तों के प्रति हमारे देश के नेताओं और नवयुवकों में श्रद्धा भी थी। पर, वे लोग राम, कृष्ण, प्रताप और शिवा को भूले नहीं थे, प्रत्युत अपने इन्हीं महापुरुषों के आदर्श उनके जीवन में सतत क्रियाशील थे। इन लोगों के हृदय में अपने देश के लिए जितनी भक्ति थी, उतनी ही भक्ति अपने धर्म के लिए भी थी। इसीलिए सशस्त्र क्रांति में विश्वास रखनेवाले तरुण भी जब फाँसी पर चढ़ते थे तो उनके हाथ में गीता और उनके मुख में उसके श्लोक होते थे।

राष्ट्रीयता का यह स्वरूप उत्तर भारतेंदु-युग के साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में परिलक्षित होता है। हमने इस काल में नाटकों के अनुवाद की ओर अधिक प्रवृत्ति होने का उल्लेख किया है। अनुवाद के लिए चुने गये नाटकों का अध्ययन करने से भी इस धारणा की पुष्टि होती है। इस काल में लिखे गये मौलिक नाटकों में प्रतिपादित विषय-वस्तु से भी इस प्रवृत्ति की सूचना मिलती है कि यह स्वदेशी ढाँचे की धर्मप्रवण राष्ट्रीयता के उत्थान का युग था। भारतवर्ष का धर्म और धर्मप्रवणता दोनों ही सदैव नितान्त असाम्प्रदायिक रहे हैं और उनकी व्यवहार-भूमि सर्वथा आध्यात्मिक रही है। फिर भी इस युग के साहित्य में किसी को कहीं साम्प्रदायिकता का आरोपण प्रतीत हो, तो उसे उस साम्प्रदायिकता की सहज प्रतिक्रिया का परिणाम माना जा सकता है जिसका पोषण सर सैयद अहमद खाँ जैसे लोगों की छत्रच्छाया में अलीगढ़ आदि स्थानों में हुआ था और जो अब अंगरेजों से प्रोत्साहन पाकर निरन्तर वृद्धि करती जा रही थी।

इस युग की राष्ट्रीयता का स्वरूप सबसे अधिक उन अव्यवसायी नाटक-मण्डलियों के अभिनयों द्वारा प्रकाश में आया, जो इन दिनों विभिन्न नगरों में स्थापित हुई थीं। इन अभिनयात्मक प्रयासों को महामना मालवीय जी का आशीर्वाद और राजर्षि टण्डन जी का सहयोग प्राप्त रहता था और माधव शुक्ल, रासबिहारी शुक्ल तथा महादेव भट्ट जैसे उस समय के प्रमुख अभिनेता सन् १९१५ के आगे-पीछे पुलिस की सूची में प्रथम श्रेणी के क्रान्तिकारी गिने जाते थे। उसी से हिन्दी के इस युग के नाटकीय प्रयत्नों का वास्तविक स्वरूप समझा जा सकता है।

इस युग के नाटकों का स्वरूप और उनके प्रकार

इस युग के मौलिक नाटककारों की धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक और राजनीतिक चेतना की परिधि और परिवेश बहुत-कुछ वही है, जो पिछली पीढ़ी के नाटककारों में उपलब्ध है। पर दो बातों में अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। एक तो यह कि भारतेंदु और उनके सहयोगी लेखकों की हास-संज्ञा जितनी विकसित है, उतनी इन परवर्ती लेखकों की नहीं। हास्य और व्यंग्य अब भी लिखा जाता है और उसके लिखनेवालों की संख्या भी नितान्त नगण्य नहीं है, पर भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की 'जिन्दादिली' इस हास्य और व्यंग्य में नहीं रह गई है। सम्भवतः द्विवेदी-युग का कठोर नीतिवाद अथवा आदर्शात्मक बुद्धिवाद इसके लिए उत्तरदायी है। दूसरी बात यह है कि भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने देश की आर्थिक व्यवस्था और राजनीतिक पराधीनता की पीड़ा को जितने अप्रच्छन्न तथा मार्मिक रूप में व्यक्त किया है, वैसा ये लेखक नहीं कर पाये हैं जिसका कारण सम्भवतः यह था कि अब अंगरेजों का दमन-चक्र अधिक सक्रिय एवं जागरूक हो गया था और राष्ट्र को साहित्यिक गतिविधि को अधिक शंका और संदेह की दृष्टि से बड़ी सूक्ष्मता के साथ जाँचा जाने लगा था। विशेषतः हमारे नाटक और रंगमंच पर साम्राज्यशाही की शनिदृष्टि थी, इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। प्रयाग में बालकृष्ण भट्ट और मुरलीधर मिश्र जैसे साहित्यसेवियों की प्रेरणा से 'नागरी प्रवर्द्धिनी सभा' की स्थापना हुई थी। इसी के अवधान में सन् १९०० के आसपास वहाँ 'हिन्दी नाट्य-समिति' की स्थापना हुई, जिसके मुख्य संचालक माधव शुक्ल थे। यह समिति लगभग १९१६ तक चलकर टूट गई। इससे टूटने का कारण यह था कि इसके प्रमुख अभिनेता राजनीतिक क्षेत्र के कार्यकर्त्ता भी थे। सन् १९१६ में इस समिति ने लोकमान्य तिलक को 'महाराणा प्रताप' नाटक का अभिनय करके दिखाया था। नाटक का आरम्भ इस गीत से हुआ था--'जय जय श्री तिलक

देव भारत हितकारी।' इसी कारण समिति को सरकार का कोप-भाजन होना पड़ा और माधव शुक्ल को प्रयाग से हटना पड़ा। समिति के अन्य सामान्य सदस्यों ने यह समझा कि इसमें रहना पुलिस के अत्याचारों को निमंत्रण देना और जेल जाना है इसलिए माधव शुक्ल के चले जाने पर वह चल न सकी। यही कारण है कि इस काल के मौलिक नाटककार देश की आर्थिक दुरवस्था और राजनीतिक पराधीनता की चर्चा अब उतने खुलकर नहीं करते थे। उन्हें सामयिक समस्याओं पर जो कुछ कहना होता है, उसे वे पौराणिक अथवा ऐतिहासिक रूपकों में प्रतीकात्मक या सांकेतिक शैली में कहते हैं। विदेशी शासन के निग्रह का प्रभाव इन नाटकों में प्रत्यक्ष है।[1]

नाट्यकला के स्वरूप और विषय-वस्तु का निर्माण और निर्णय अन्ततः दर्शक-मण्डली के द्वारा होता है। कहा गया है कि नाटक के प्रनियमों का विधान उसके संरक्षक करते हैं।[2] कहा गया है कि नाटक के प्रेक्षक ही उसके संरक्षक होते हैं और प्रेक्षक का भाव-जगत ही नाटक को रूप-रचना का अधिष्ठान होता है। अतएव भारतेन्दु-युग के इस उत्तरार्द्ध अथवा ह्रास के नाटक का स्वरूप समझने के लिए तत्कालीन दर्शक-मंडली की रुचि और प्रवृत्ति से परिचय हो जाना आवश्यक है।

यह बताया जा चुका है कि भारतेंदु ने हिंदी की स्वकीय नाट्य-परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए अपने नाटक लिखे थे और स्वयं उनका अभिनय करके उनके लिए अपने आदर्शों से अनुप्राणित दर्शक मंडली तैयार करने का प्रयत्न भी किया था। पर, उनके युग के उत्तरार्द्ध का कोई भी मौलिक नाटक-लेखक

---

१. देखिये—बदरीनाथ भट्ट कृत 'दुर्गावती' पृ० १००।

कर्मचारी—क्या तुम विदेशियों के पंजे से अपनी स्वतन्त्रता, अपने सुख, अपने घर, अपने भाई बन्धु, अपने खेत और अपने मंदिरों की रक्षा करके संसार में अपनी बात बनाए रखना चाहते हो ?

गँवार—हाँ।

देखिये—माखनलाल चतुर्वेदी कृत 'कृष्णार्जुन युद्ध'—

नारद—'सत्ता का दुरुपयोग करने से क्या दुर्घटनायें होती हैं। यह सबको मालूम हो जायेगा।

'राजमद में आकर श्रेष्ठ राजा भी न्याय के सिद्धान्तों का उल्लंघन करने में नहीं हिचकते। ऐसी अवस्था में दीन निर्बल की रक्षा का कोई ठिकाना नहीं रहता।

२. The drama's laws the dramas Potrons give.'

भारतेन्दु जी के इस प्रयत्न को प्रगति न प्रदान कर सका। इस समय के प्रधान मौलिक नाटककार थे मिश्रबन्धु, बदरीनारायण भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, जी० पी० श्रीवास्तव आदि। इनमें से किसी का भी अभिनय या रंगमंच से सीधा सम्बन्ध नहीं था। अतएव नाटक लिखते समय इन लोगों का ध्यान जिन प्रेक्षकों पर रहता था, उनकी रुचि या प्रकृति के निर्माता भारतेन्दु जी की तरह ये लोग स्वयं नहीं थे। वस्तुतः इन प्रेक्षकों की रुचि और प्रकृति का यथार्थ दर्पण उस समय की बहुसंख्यक व्यावसायिक पारसी नाटक कम्पनियाँ थीं। आलोच्य अवधि के बीच इन कम्पनियों का बढ़ता हुआ प्रभाव तत्कालीन दर्शक की रुचि की सच्ची कसौटी है। किन्तु पारसी नाटक-कम्पनियों के प्रभाव को समाज के लिए अनिष्ट-कर समझकर भारतेन्दु के चरण-चिह्नों का अनुगमन करनेवाले अभिनय और रंगमंच की कला के कुछ साधनात्रान् उपासकों ने हिन्दी का अव्यवसायी रंगमंच और उसकी दर्शक मंडली का प्रभाव ज्ञाताज्ञात रूप में उस समय के सब मौलिक नाटककारों पर पड़ा था। इसलिए मौलिक नाटककारों की रचनाओं का अनु-शीलन आरम्भ करने के पूर्व तत्कालीन व्यवसायी और अव्यवसायी रंगमंच की गतिविधि का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

व्यवसायी रंगमंच

पारसी नाटक कम्पनियों के रूप में व्यवसायी रंगमंच का उद्भव और प्रसार भारतेन्दु काल में ही हो चुका था। पर भारतेन्दु के नाटक व्यवसायी कम्पनी के रंगमंच पर अभिनीत नहीं हुए थे। हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त ने लिखा है कि व्यवसायी रंगमंच पर पहला हिन्दी नाटक १८६८ ई० में खेला गया था।[1] यह कौन सा नाटक था और किस कम्पनी द्वारा खेला गया था, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। सम्भवतः पहली पारसी नाटक कम्पनी 'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी' थी जिसका सन् १८७० तक वर्तमान रहना निर्विवाद माना जाता है।[2] इसमें दो मुसलमान नाटक लेखक थे—मोहम्मद मियाँ 'रौनक' तथा हुसेन मियाँ 'जरीफ'। 'जरीफ' ने तीस नाटक लिखे थे। १८७७ ई० में खुरशेद बल्लीवाला ने 'विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की जिसके लिए काशी के मुंशी विनायक प्रसाद ने 'गोपीचन्द', 'हरिश्चन्द्र', 'रामायण', 'कनकतारा' आदि अनेक नाटक लिखे। इन नाटकों की भाषा 'जरीफ' के नाटकों की अपेक्षा हिन्दी की प्रकृति के अधिक निकट है। इसी समय के आसपास 'विक्टोरिया पारसी आपरा कम्पनी' की स्थापना हुई जिसने सन् १८८२ में कलकत्ते के प्रसिद्ध कोरिंथियन

---

१. 'इंडियन स्टेज', चतुर्थ भाग, पृ० २२७।

२. डॉ० सोमनाथ गुप्त–'हिन्दी नाट्य-साहित्य का इतिहास', पृ० १००-१०१।

स्टेज पर कई नाटक दिखलाये। बम्बई के 'पारसी एलफिंस्टन ड्रामेटिक क्लब' के कुछ हिन्दी नाट्य-प्रयोग भी कलकत्ते में बहुत लोकप्रिय हुए थे। सन् १८८४ की फरवरी में बंगाली भद्रजनों के अनुरोध पर इस कम्पनी ने कोरिंथियन स्टेज पर गिरीशचन्द्र घोष के प्रसिद्ध नाटक 'नल-दमयन्ती' के हिन्दी अनुवाद का अभिनय किया था।[1] इस कम्पनी ने 'हरिश्चन्द्र' नाटक का भी अभिनय किया था जिसमें प्रयुक्त हिन्दी भाषा बंगाली जैसी परिमार्जित और संस्कृतनिष्ठ थी।[2]

सन् १८७७ में कावसजी खटाऊ ने 'पारसी एलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' की स्थापना की। इस कम्पनी ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त की जिसका बहुत कुछ श्रेय इसके दो लेखकों को है जिनके नाम हैं सैयद मेहदी हसन 'अहसान' और पं० नारायण प्रसाद 'बेताब'। 'महाभारत', 'रामायण', 'गोरखधन्धा', 'पत्नी-प्रताप', 'कृष्ण-सुदामा' आदि व्यवसायी रंगमंच के सबसे सफल नाटक समझे जाते थे। कावसजी खटाऊ ने बर्मा तक में अपने नाटकों का अभिनय करके लोकप्रियता प्राप्त की थी। सन् १९१० के पश्चात् कावसजी खटाऊ के अभिनयों की कलकत्ते में बड़ी धूम थी। उनके द्वारा प्रस्तुत 'महाभारत', 'रामायण', 'बिल्व-मंगल', 'यहूदी की लड़की', 'पत्नी-प्रताप', 'धर्मंजय' आदि के हिन्दी अभिनय बंगाली और हिन्दी भाषी दोनों ही प्रकार की जनता में अतिशय समादृत थे। 'महाभारत' में विशेष रूप से शुद्ध हिन्दी शब्दों का अधिकाधिक प्रयोग किया गया था। ३ दिसम्बर १९१३ ई० में बम्बई की 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनी' तथा 'एलफिंस्टन थियेट्रिकल कम्पनी' दोनों मिलकर एक हो गयीं। इस विलयन के पश्चात् कम्पनी के लिए पंडित नित्यबोध विद्यारत्न ने विशेष रूप से 'रामायण', 'महाभारत', 'श्रीकृष्ण-चरित्र', 'सती सावित्री', 'नल-दमयन्ती', 'मधुर मुरली', 'वीर बालक', 'ध्रुव चरित्र' आदि नाटक लिखे। इन नाटकों के अभिनय ने बंगाली प्रेक्षकों को भी मुग्ध कर लिया। इस कम्पनी की अभिनेत्री कुमारी गौहर ने स्त्री-पात्रों के अभिनय में मास्टर मोहन, दोराबजी मेहबबाला, शोभाराम नक्षत्र आदि को भी ऐसी ही प्रसिद्धि मिली थी।[3]

हिन्दी नाटक-रचना की दृष्टि से इन पारसी कम्पनियों में सबसे अधिक उल्लेखनीय 'न्यू एलफ्रेड कम्पनी' मानी जा सकती है जिसके प्रमुख नाटककार आगा मोहम्मद 'हश्र' काश्मीरी और पं० राधेश्याम कथावाचक थे। 'हश्र' ने उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी में भी लगभग नौ नाटक लिखे हैं। पं० राधेश्याम कथावाचक

---

१. देखिये—हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त, 'दी इंडियन स्टेज', पृ० २२२।
२. वही, पृ० २२२।
३. वही, पृ० २३०।

ने लगभग एक दर्जन हिन्दी नाटक लिखे हैं। इनके कथानक पौराणिक हैं और ये सब की सब आदर्शवादी कृतियाँ हैं। पारसी रंगमंच पर सुरुचि के संचार और हिन्दी के प्रचार का सर्वाधिक श्रेय राधेश्याम कथावाचक को ही दिया जा सकता है। इनके लिखे हुए 'वीर अभिमन्यु' का पारसी रंगमंच पर प्रवेश एक स्मरणीय घटना है, क्योंकि 'इतने हिन्दीत्व का कोई नाटक इसके पहले पारसी स्टेज पर नहीं खेला गया था।' इसके बाद ही हरिकृष्ण जौहर के 'पतिभक्ति' एवं 'वीर-भारत' तथा शैदाजी के 'नलदमयन्ती' आदि हिन्दी प्रधान नाटक पारसी रंगमंच पर पहुँचे थे। उपर्युक्त कम्पनियों के अतिरिक्त अन्य अनेक पारसी कम्पनियों का भी उद्भव हुआ जिनमें न्यू एल्फ्रेड, शेक्सपियर थियेट्रिकल, ओल्ड पारसी थियेट्रिकल कम्पनी, जुबिली कम्पनी, अलेक्जेंडिया कम्पनी आदि हैं। इन व्यवसायी नाटकों के शिल्प का अनुसरण करने वाले अन्य उल्लेखनीय नाटककार किशनचन्द 'जेबा', तुलसीदत्त 'शैदा', हरिकृष्ण 'जौहर', श्रीकृष्ण और हसरत थे।

पारसी नाटकों के अतिरिक्त व्यवसायी रंगमंच के क्षेत्र में कुछ और भी उल्लेखनीय उपक्रम हुए थे। इनमें काठियावाड़ की 'श्री सूरविजय' और मेरठ की 'व्याकुल भारत' नामक मण्डली के नाट्य-प्रयोग भुलाये नहीं जा सकते। इन व्यवसायी नाटक मंडलियों ने अपने अभिनयों को पारसी रंगमंच की बहुत सी कुरुचिपूर्ण एवं असांस्कृतिक प्रवृत्तियों से मुक्त रखने का कुछ प्रयत्न किया था। 'व्याकुल भारत' कम्पनी का 'बुद्धदेव' नाटक अपने समय में बहुत लोकप्रिय हुआ था। इसी कम्पनी में रहकर द्विवेदी-युग के प्रसिद्ध नाटककार गोविन्द वल्लभ पंत ने नाटक लिखने की प्रेरणा प्राप्त की थी। पर व्याकुल जी के असमय देहावसान से यह कम्पनी भी दीर्घजीवी नहीं हो पायी। अहिन्दी प्रदेश काठियावाड़ की 'सूरज विजय' नाटक कम्पनी की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि इसने अपने सब नाटकों का अभिनय हिन्दी में ही किया। राधेश्याम कथावाचक का अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय नाटक 'श्रवण कुमार' विशेषतः इसी कम्पनी के लिए लिखा गया था। यह कम्पनी भी दीर्घजीवी नहीं हुई, सम्भवतः सम्पन्न पारसी कम्पनियों की प्रतियोगिता में यह टिक नहीं पायी।

हिन्दी नाटक के इतिहास में पारसी रंगमंच के प्रभाव और योगदान का मूल्यांकन कई दृष्टियों से किया जा सकता है। पारसी कम्पनियों ने अपने रंगमंच द्वारा कुरुचिपूर्ण असांस्कृतिक प्रवृत्तियों का खुलकर प्रचार किया, यह स्पष्ट ही है। जनार्दन भट्ट ने माधुरी में लिखा था[1]—"कलकत्ते की एक बड़ी प्रसिद्ध

---

१. माधुरी, कार्तिक, तुलसी संवत् ३०५, 'पारसी रंगमंच और हिंदी नाटक'।

पारसी कम्पनी के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध नाटककार से मुझसे बातचीत हुई। उन्होंने बताया, कम्पनी वाले कहते हैं""हम यहाँ रुपया पैदा करने आये हैं, कुछ साहित्य-भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का हमने ठेका नहीं ले रखा है, हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा, वही करेंगे।" उन्होंने यह भी लिखा है[1] कि "पारसी कम्पनियों ने पहले तो कुरुचिपूर्ण आशिक-माशूक के उर्दू नाटक खेलकर खूब धन कमाया, पर जब जनता का ध्यान हिन्दी नाटक की ओर गया.... यहाँ तक कि उर्दू नाटक देखनेवाली मुसलमान जनता भी हिन्दी नाटक पसन्द करने और अपनाने लगी....तब तो इन पारसी कम्पनियों ने अपना रुख इधर भी किया। इनका ध्येय रुपया पैदा करना है।....ये कभी नहीं चाहते कि जनता का ध्यान सुरुचि की ओर खिंचे। ये एकमात्र व्यवसायी हैं, रुपया खींचना ही इनका काम है। अब ये पारसी कम्पनियाँ हिन्दी के नाटक करने लग गई हैं, अच्छे-अच्छे सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक नाटक न करके, बे-सिरपैर के नाटक बनवा और लाखों रुपये सीन-सीनरी में नष्ट करके, मेंमों को नचवा, जनता के धन और समय का अपहरण करती हैं....।" पारसी रंगमंच की इन असांस्कृतिक प्रवृत्तियों को उदाहृत करते हुए आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है...."पारसी थियेटर की मिस पुटी भी तो 'सीता' की भूमिका में कलकत्ते के अल्फ्रेड कोरेंथियन के रंगमंच पर उतरती है। नेपथ्य से रंगमंच तक आते आते तक न जाने कितनी बार उसकी कमर बल खा जाती है।....उसकी हर एक चंचल चितवन में सीता के आदर्श की हत्या और हर एक मनहर मुसकान में राम की मर्यादा की अवहेलना होती है। और वहाँ के राम भी बड़े रसीले होते हैं। नेपथ्य की ओर जाते समय ऐसी तिरछी निगाहों के साथ सीता को अपनी लटपटी गलबाहियों में समेट ले जाते हैं कि तालियों की गड़गड़ाहट के मध्य बार-बार उन्हें 'प्रस्थान' और 'प्रवेश' करना पड़ता है। इसी प्रसंग में आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने पारसी नाटक के प्रेक्षक पर भी बड़ी सटीक टिप्पणी जड़ी है। वे कहते हैं.... 'रंगमंच तो वास्तविकता, स्वाभाविकता और आदर्श के प्रकृत प्रदर्शन का स्थान है, चारों के फँसाने का शिकारगृह नहीं। अपने हुनर और नाटकों का इश्तिहार चिपकाने के लिए पोस्टरबोर्ड नहीं। किन्तु इसे समझे कौन ? हमारे समाज की जनता ही ऐसी बुद्धू है कि नाटक को वेश्यानृत्य की तरह सिर्फ दिलेबस्तगी का एक सामान समझती' है।[2]

इन व्यवसायी पारसी कम्पनियों के पेशेवर लेखकों की सामान्य विशेषताएँ

---

१. माधुरी, कार्तिक, तुलसी संवत् ३०५, 'पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक'
२. माधुरी, जुलाई, १९२७ ई०।

संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती हैं। '"""सारी रचनायें कंपनी की सुविधा और विशेषता के भीतर ही सीमाबद्ध हैं। इनके अधिकांश पात्र गद्य में भी तुकबंदियाँ जोड़कर बोलते हैं, वार्तालाप में भी पद्यों की भरमार करते हैं और खूब गाना गाते हैं। हँसते भी गीत में हैं, रोते भी गीत में हैं, किसी काम को करते भी गीत में हैं और किसी काम को करने का आदेश भी गीत ही में देते हैं। फिर गीतों का क्या कहना ? एक ही में दादरा भी है, सारंग भी है और भैरवी भी....एक ही में चार-चार और पाँच-पाँच राग-रागिनियाँ मिश्रित हैं। ताल में भी अभी सुरफाख्ता, अभी तीन, अभी डेढ़ अभी भड़कनाली है। संगीत में सामयिकता भी अनिवार्य नहीं। नौ बजे रात में बिहाग या भैरवी तथा दो बजे रात में मालकोश या वागेश्वरी अलापे जाते हैं। पुराणवर्णित या कथाप्रसिद्ध घटनाओं को तो जाने दीजिए, काल्पनिक कथानक में भी ये लेखक केवल ट्रांसफर सीन की शोभा के लिए बेचारे कृष्ण, नारद और धर्मादि देवताओं को जब चाहते हैं, बेरहमी से हर जगह घसीट लाते हैं। इनके विदूषक का अपना परिवार ही अलग है[1]।" इसके अतिरिक्त पारसी रंगमंच का सामान्य लेखक अस्वाभाविक आवेश और मस्ती की सर्जना करता था, उसके स्त्री-पात्रों की लोच-लचक और भावभंगी 'फाहिशापन' की स्थिति तक पहुँचते रहते थे।

इन दोषों के रहते हुए भी पारसी रंगमंच को दो उपलब्धियों का श्रेय दिया जाता है। उनमें से एक यह है कि उनके द्वारा हिन्दी का प्रचार हुआ। विचारणीय यह है कि इन पारसी कम्पनियों ने हिन्दी के प्रचार के लिए न तो हिन्दी के नाटक लिखवाये और न उनका अभिनय करवाया। बताया जा चुका है कि पहले ये उर्दू के नाटक ही खेलती थीं। हिन्दी के नाटक तो इन्होंने व्यावसायिक दृष्टि से यह समझ कर लिखाये और खेले कि उनके प्रेक्षक देश के कोने-कोने में उपलब्ध हैं और उन्हीं की संख्या सर्वाधिक है। आज भी यह कहकर कि सिनेमा के द्वारा देश में हिन्दी का प्रचार हो रहा है, एक उल्टी बात प्रचारित की जा रही है। वस्तुतः सिनेमा-व्यवसायी सारे देश में हिन्दी का व्यापक प्रचार देखकर ही हिन्दी फिल्मों का अधिक से अधिक निर्माण करते हैं। पारसी रंगमंच की दूसरी उपलब्धि थी उसके सुशोभन सीन-सीनरियाँ, उनके दृश्य-विधान की यह कला हिन्दी रंगमंच के विकास की एक निश्चित अवस्था मानो गई है![2]

---

१. ललित कुमार सिंह 'नटवर' कृत—'हमारा रंगमंच और अभिनय कला', माधुरी, वैशाख, तुलसी संवत् ३०६।

२. हेमेन्द्रनाथ दास गुप्त—इण्डियन स्टेज, चतुर्थ भाग, पृ० २३२-२३३।

अव्यवसायी रंगमंच

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि उत्तर भारतेन्दु-युग का व्यवसायी रंगमंच अत्यन्त समृद्ध और साधनसम्पन्न था। दुर्भाग्य से उसे साहित्यिक सुरुचि, संस्कृति और सदाचार की चिन्ता न थी। इसके विपरीत इस काल का अव्यवसायी रंगमंच व्यवसायी रंगमंच के अभावों की पूर्त्ति के लिए प्रयत्नशील हुआ था। उनके उत्थान के लिए कुछ संगठित प्रयत्न भी हुए थे। कुछ ऐसे व्यक्तियों ने उसके उन्नयन में योगदान दिया था जिनके नाम भारतीय इतिहास में अमर हैं। फिर भी यह अव्यवसायी रंगमंच साधन और समुचित संरक्षण के अभाव में अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। इस रंगमंच को उस समय की सरकार से सहयोग मिलने की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि जनता इतनी शिक्षित, संस्कृत और सुरुचि-सम्पन्न नहीं थी कि इस रंगमंच के प्रयत्नों का महत्व समझती और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से उसके विकास की साधक बनती।

इस युग की अवधि में साहित्यिकों और साहित्य-प्रेमियों द्वारा लोकरुचि के परिष्कार और संस्कार के लिए जिन-जिन हिन्दी नाट्य-परिषदों की स्थापना हुई थी, उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—प्रयाग की 'हिन्दी नाट्य मंडली' और 'हिन्दी नाट्य समिति', कलकत्ते की 'नागरी नाटक मंडली' तथा 'भारतेन्दु नाट्य समाज', जबलपुर के सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर स्थापित 'नाट्य समिति', आरा की 'मनोरंजन नाटक मंडली', मुजफ्फरपुर की 'नवयुवक समिति' और 'बालोपकारिणी समिति', छपरा की 'शारदा नवयुवक समिति' आदि। इन हिन्दी नाट्य-परिषदों के विषय में ज्ञातव्य है कि इनके अधिकांश संचालक और अभिनेता बड़े उग्र राष्ट्रवादी थे और अपने नाट्य-प्रयोगों के द्वारा यथासम्भव राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार-प्रसार का कोई अवसर नहीं चूकते थे। इन नाट्य-परिषदों के इतिहास का यह पक्ष बड़ा गौरवशाली है। जिन दिनों पारसी कम्पनियाँ विलासिता और आचारहीनता का प्रचार कर रही थीं, उन्हीं दिनों ये साधनहीन नाट्य-परिषदें राष्ट्रीय चेतना को प्रबुद्ध करनेवाले अभिनय आयोजित करती थीं।

आचार्य शिवपूजन सहाय जी के अनुसार उल्लिखित नाट्य-परिषदों में प्रयाग की 'हिन्दी नाट्य समिति' सबसे पुरानी थी[१]। सन् १८९३ में यह 'रामलीला नाटकमण्डली' के रूप में स्थापित हुई थी। इसके संस्थापकों में प्रमुख थे पं० माधव शुक्ल, पं० बालकृष्ण भट्ट के दूसरे पुत्र महादेव भट्ट, अलमोड़ा के लक्ष्मीकांत

१. माधुरी, मार्गशीर्ष, तुलसी संवत् ३०६, पृ० ८५३।

भट्ट, महामना मालवीय जी के सुपुत्र रमाकांत मालवीय, बाद को 'अभ्युदय' के यशस्वी सम्पादक कृष्णकान्त मालवीय, वेणीप्रसाद गुप्त, देवेन्द्र प्रसाद बनर्जी आदि। सन् १९०५ के जनवरी-फरवरी के 'हिन्दी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने 'प्रयाग की रामलीला नाट्य मंडलो' शीर्षक एक लेख लिखा था उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"घुणाक्षर न्याय से बहुधा असंभव भी संभव और असाध्य बात भी सुसाध्य हो जाती है, पर तभी जब घुन बाँध नोन सतुआ ले उसके पीछे पड़ता है—दृढ़ अध्यवसाय न रहने से बहुधा लोग यत्न करने पर भी पूरी तरह कामयाब नहीं होते। यहाँ मुद्दत से कुछ लोग यत्न करते थे कि नाटक की एक मण्डली कायम करें पर बीच में थोड़ा भी विघ्न आ पड़ने से सब लोग निरस्त हो जाते थे। विघ्न आ पड़ने के अनेक कारण होते थे, बड़ा कारण अगुआ बनने का था। हम अपने एक साधारण विद्यार्थी को धन्यवाद देते हैं जो लोगों से अनुत्साहित होने पर भा अनेक कठिनाइयों को झेल 'रामलीला नाटक मंडली' के नाम से अभिनय करनेवालों का एक दल कायम ही तो कर डाला और तीन रात तक बराबर रामायण का बड़ी सफाई के साथ नाटक के आकार में अभिनय किया तो दर्शकों को बहुत ही रुचा।....इस मण्डली का दूसरा अभिनय ७ जनवरी को भारतेन्दु बाबू रचित 'सत्य हरिश्चन्द्र' का किया गया। सूत्रधार ने अपने पाठ में हिन्दी की वर्तमान दशा को अच्छा दरसाया और यह सिद्ध कर दिया कि भाषा की उन्नति में एकमात्र नाटक बड़ा सहारा है। उपन्यासों की भरमार और नये नाटकों का लिखना एकदम गुम हो जाना अभिनय के बन्द होने से क्या हुआ है। नाशकारी पारसी थियेटर में भी इसीलिए लोगों की रुचि बढ़ गई है। मण्डली ने अभिनय बहुत उत्तम किया। हरिश्चन्द्र, शैव्या, रोहित, नारद, विश्वामित्र, कलि सबों ने अपना-अपना भाग बहुत अच्छा दरसाया। अभिनय भी इन सबों का सब भाँति निर्दोष था—छोटा सा बालक रोहित का अभिनय देख दर्शक बड़े चकित और मुदित हुए। अब मण्डली से यही वक्तव्य है कि आपस में फूट का बीज न बो सब लोग मेल-मिलाप से रह नित्य नया नाटक तैयार कर खेलते रहें, तो भाषा और देश दोनों का बहुत कुछ सुधार हो।" इस उद्धरण में जिस 'साधारण विद्यार्थी' का उल्लेख है, वे सम्भवतः माधव शुक्ल थे।

आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने बताया है[1] कि इस नाटक मंडली का पहला खेल 'सीतास्वयंवर' था जिसके दर्शकों में पुण्यश्लोक महामना मालवीय जी भी थे जो उस समय राजनीतिक विचारों की दृष्टि से पूरे माडरेट थे। 'सीतास्वयंवर'

---

१. माधुरी, मार्गशीर्ष, तुलसी संवत् ३०६, पृष्ठ ८५३।

के अभिनय के बीच एक बड़ी स्मरणीय घटना घटित हुई। राष्ट्रीय चेतना से भावित अभिनेताओं में से एक जो जनक का अभिनय कर रहा था, बड़े जोश से कह बैठा—"ब्रिटिश कूटनीति के समान कठोर इस शिवधनुष को तोड़ना तो दूर रहा, वीर भारतीय युवक इसे टस से मस भी नहीं कर सके, यह अत्यन्त दुःख का विषय है। हाय!" इस कथन पर प्रेक्षकों में आफत मच गई, मालवीय जी भी उठ खड़े हुए। फिर भी इस मण्डली के संचालकों ने अपने नाट्यप्रयोगों में राजनीति और राष्ट्रीयता का पुट बराबर रखा, इस प्रकार की घटनाओं से वे विचलित नहीं हुए। यह 'रामलीला नाटक मण्डली' १९०७ तक बराबर चलती रही। माधव शुक्ल इसके प्रमुख संचालक थे और उनके मुख्य सहयोगी थे महादेव भट्ट तथा पण्डित गोपालदत्त। पं० माधव शुक्ल असाधारण प्रतिभा सम्पन्न नाट्यप्रयोक्ता थे। नाटक के प्रणयन में वे जितने कुशल थे, उतनी ही कुशलता और पटुता से वे रंगमंच पर उसके अभिनय की भी प्रभावशाली व्याख्या करते थे। उन्होंने भाषा, वेशभूषा, भाव आदि में नवीनता एवं सामयिकता का समावेश किया था। किन्तु मालवीय जी के परिवार के नवयुवकों से कुछ मतभेद हो जाने के कारण यह मण्डली भंग हो गयी, फिर भी अप्रतिहत उत्साह-सम्पन्न पं० माधव शुक्ल ने १९०८ ई० में 'हिन्दी नाट्य-समिति' के नाम से इसका पुनर्गठन किया। इस कार्य में उन्हें पं० बालकृष्ण भट्ट का पूरा सहयोग मिला। माधव शुक्ल ने जौनपुर, लखनऊ आदि में भी घूम-घूमकर हिन्दी नाटक मण्डलियों की स्थापना की थी जिनका उद्देश्य 'शुद्ध हिन्दी के नाटकों का प्रचार' था। माधव शुक्ल जी की इस साधना के पीछे पं० बालकृष्ण भट्ट की बलवती प्रेरणा बराबर काम करती रहती थी। कहा जाता है कि माधव शुक्ल के अनेक नाट्य-प्रयोगों में पं० बालकृष्ण भट्ट स्वयं सूत्रधार के रूप में उपस्थित होकर अपनी ओजस्वी वाणी से प्रेक्षकों को नाटक के आदर्श और उद्देश्य की भावना से आविष्ट कर देते थे। कुछ और तरुण भी माधव शुक्ल के आदर्शों से अनुप्राणित होकर उनके सहयोगी बन गये थे जिनमें कुछ के नाम हैं—प्रधान चन्द्रप्रसाद, बाबू भोलानाथ, बाबू मुद्रिकाप्रसाद, पं० लक्ष्मीनारायण नागर, रासबिहारी शुक्ल, मैत्रेय बाबू, देवेन्द्रनाथ बनर्जी, प्रमथनाथ भट्टाचार्य आदि। हिन्दी के अव्यवसायी रंगमंच के इतिहास में ये अविस्मरणीय व्यक्तित्व हैं। माधव शुक्ल वीर एवं करुण रस का बहुत अच्छा अभिनय करते थे और प्रमथनाथ भट्टाचार्य शान्त के तथा महादेव भट्ट हास्यरस के सफल अभिनेता थे। रासबिहारी शुक्ल खलनायक के अभिनय के लिए प्रसिद्ध थे तथा देवेन्द्रनाथ बनर्जी और मुद्रिकाप्रसाद स्त्री-पात्रों का अभिनय बड़ी स्वाभाविकता से करते थे।

'श्रीरामलीला नाटक मंडली' के विघटन के बाद जिस 'हिन्दी नाट्य समिति' का पुनर्गठन हुआ, उसके उन्नायकों में तरुण (राजर्षि) पुरुषोत्तमदास टण्डन जैसे कई अपूर्व उत्साही युवक थे। इस समिति के इतिहास की सबसे स्मरणीय घटना राधाकृष्णदास लिखित 'महाराणा प्रताप' नाटक का अभिनय है। इसको देखने के लिए अत्यन्त अस्वस्थ होते हुए भी बाबू राधाकृष्णदास स्वयं प्रयाग आये थे। इस समिति ने प्रयाग में अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के छठे अधिवेशन के अवसर पर माधव शुक्ल का लिखा 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) नाटक का अभिनय किया था जिसके दर्शकों में भारतेन्दु-सखा बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और आचार्य द्विवेदी जी भी थे। माधव शुक्ल जी ने भीम की भूमिका में अपना ओजस्वी अभिनय दिखाया। दुर्योधन थे पं० वेणोप्रसाद शुक्ल और धृतराष्ट्र थे महादेव भट्ट। इन तीनों का अभिनय ऐसा हुआ कि 'न भूतो न भविष्यति।' आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है, 'आज तक मैंने किसी हिन्दी रंगमंच पर वैसा सफल और प्रभावशाली अभिनय नहीं देखा है।'[१] इसी प्रकार इस समिति ने लखनऊ के अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर भारतेन्दु जी के 'सत्य हरिश्चन्द्र' का बड़ा सफल अभिनय किया था। इस अभिनय के अवसर पर 'हिन्दू पंच' के यशस्वी सम्पादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा उपस्थित थे जो पं० माधव शुक्ल के साहित्य-गुरु भी थे। वे इस अभिनय से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने लौटकर अपने नगर आरा में 'मनोरंजन नाटक मण्डली' की स्थापना की थी। शुक्ल जी नाटक को ही हिन्दी-प्रचार का अमोघ साधन मानते थे। आचार्य शिवपूजन सहाय जी ने उनके सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उससे प्रतीत होता है कि उनका व्यक्तित्व बड़ा विशाल और तेजस्वी था, उनका शरीर सुगठित एवं स्वस्थ, डीलडौल, प्रकाण्ड एवं वाणी गम्भीर थी।[२] तात्पर्य यह कि वीर रस के अभिनय के लिए मानों प्रकृति ने ही उनके व्यक्तित्व को गढ़ा था। उनके साहित्यिक जीवन का निम्नलिखित प्रसंग[३] महाकवि निराला की चरित्रिक दृढ़ता का स्मरण दिलाता है। 'शुक्ल जी वीरसात्मक अभिनय की कला में अद्वितीय थे। वे केवल स्वांग भरनेवाले अभिनेता न थे। उनका सिद्धान्त भी वैसा ही आदर्शपूर्ण था जैसा उनका अभिनय। जिस समय उनका एकमात्र जामाता छत से गिरकर मर गया था, वे राष्ट्रीय आन्दोलन के

---

१. दे० शिवपूजन सहाय का 'स्व० कविवर माधव शुक्ल' शीर्षक लेख, विशाल भारत, मई, १९४४ ई०।

२. देखिए—वही।

३. देखिए—वही।

कारण जेल में थे। यह कहने पर कि क्षमायाचना करके सान्त्वना देने चलिए, उन्होंने कहा—'मैं हरिश्चन्द्र और महाराणा प्रताप का अभिनय करने वाला व्यक्ति हूँ, ऐसे भीषण आघात से विचलित होकर क्षमा-प्रार्थना करना असंभव है।' हिन्दी का रंगमंच अब भी माधव शुक्ल जैसे तपस्वी अभिनेता और रंगमंच के उन्नायक की प्रतीक्षा कर रहा है।

प्रयाग की हिन्दी नाट्य-समिति के साथ महामना मालवीय जी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। एक विवरण यह भी मिला है कि एक बार समिति ने 'मुद्राराक्षस' नाटक का अभिनय किया था जिसमें बालकृष्ण भट्ट ने रंगमंच पर अभिनेता के रूप में अपने पिता का श्राद्ध किया जिससे उनके घरवाले बहुत रुष्ट हुए थे। जिन परिस्थितियों में प्रयाग की 'हिन्दी नाट्य समिति' सरकार का कोपभाजन बनी, उसका विवरण पहले दिया जा चुका है। सम्भवतः सरकार के विशेष कोपभाजन होने के कारण ही पं० माधव शुक्ल १९१६ ई० में प्रयाग छोड़कर कलकत्ता चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने 'हिन्दी नाट्य परिषद्' की स्थापना की। उनके कलकत्ता चले जाने के बाद प्रयागस्थ 'नाट्य-समिति' को पं० महादेव भट्ट, रासबिहारी शुक्ल आदि ने कुछ दिन चलाते रहने का प्रयत्न तो किया, पर पं० महादेव भट्ट का स्वर्गवास हो जाने के कारण वह आगे न चल सकी। पं० माधव शुक्ल ने कलकत्ते में जिस नाट्य-परिषद् की स्थापना की थी, वह कुछ दिन बड़ी सक्रिय रही। तत्कालीन परिस्थिति में पारसी कम्पनियों से आक्रान्त कलकत्ता जैसी महानगरी में उनके नाट्य-प्रयोगों ने हिन्दी का गौरव बढ़ाया। उस समय का बंगला रंगमंच भी पारसी कम्पनियों से प्रभावित था। इसके विपरीत शुक्ल जी अपनी नाट्य परिषद् द्वारा पारसी कम्पनियों के प्रभाव से मुक्त शुद्ध राष्ट्रीय-परम्परा और चेतना के नाटक प्रस्तुत करते थे। दुर्भाग्य से यह 'नाट्य-परिषद' भी अधिक दिन जी नहीं पायी। इसके दो कारण थे—एक तो शुक्ल जी राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेते थे और जेल जाते थे। वे कम से कम चार बार तो जेल गये ही थे और लम्बी सजायें भोगी थीं। दूसरा कारण यह था कि उनके जैसा ध्येयनिष्ठ दूसरा समर्थ नाटकलेखक और अभिनेता आगे नहीं आया जो उनके रिक्थ को सहेज कर उसे आगे बढ़ाने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता।

प्रयाग की नाट्य-परिषदों से पं० रासबिहारी शुक्ल का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। कुछ वर्ष पूर्व इनके विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए मैं उनसे लखनऊ में मिला था। वे अलमोड़ा के निवासी हैं किन्तु अवकाश प्राप्त कर लखनऊ में रहने लगे थे। उन्होंने बताया कि उपर्युक्त परिषदों के आविर्भाव के

पूर्व प्रयाग में 'ग्लैड्स्टन थियेट्रिकल क्लब' नाम की एक अव्यवसायी नाट्यसंस्था थी, पर उसके रंगमंच और अभिनय का आदर्श पारसी कम्पनियाँ ही थीं। इसके अतिरिक्त पं० बालकृष्ण भट्ट द्वारा स्थापित 'नागरी प्रवर्द्धिनी सभा' भी वर्ष में एकाध बार नाटकों के अभिनय कर लेती थी। दशहरे के अवसर पर यह सभा मालवीय जी के निवास-स्थान पर कोई न कोई नाटक अवश्य खेलती थी। उन्होंने यह भी बताया कि वसंत पंचमी के अवसर पर पं० गंगानाथजी के निवास-स्थान पर भी संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी आदि के अभिनय होते थे। हिन्दी-नाटकों के अभिनय के लिए वे माधव शुक्ल आदि उपर्युक्त 'नाट्य समिति' के संचालकों को आमंत्रित करते थे। इन राष्ट्रवादी युवकों का अभिनय देखकर पं० गंगानाथ जी कहा करते थे कि "तुम लोग सर्वत्र देश घुसेड़ दिया करते हो।" रासबिहारी शुक्ल से यह भो ज्ञात हुआ कि सन् १९१० में प्रयाग की प्रसिद्ध प्रदर्शनी के अवसर पर 'ग्रैंड ओरियंटल पैंजेण्ट' का जो वैभवशाली प्रदर्शन हुआ था, उसमें प्रेमघन जी के 'प्रयाग रामागमन' नाटक के कई दृश्य बड़ी सफलतापूर्वक दिखाये गये थे। सूरत कांग्रेस के अधिवेशन में नरमदल और गरमदल के बीच जो मतभेद हो गया था, उसको लेकर पं० बालकृष्ण भट्ट ने 'सूरत की बेडौल सूरत' नाम का प्रहसन लिखा था, वह भी नाट्य-परिषद् द्वारा अभिनीत हुआ था। रासबिहारी शुक्लजी से ही यह सूचना भी मिली थी कि किसी नाट्यप्रयोग में मालवीय जी ने शकुन्तला का अभिनय किया था। उन्होंने यह भी बताया था कि राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन भी कभी-कभी अभिनय में योगदान करते थे।

पं० माधव शुक्ल के प्रयाग से चले जाने पर वहाँ की रंगमंचीय क्रियाशीलता मंद पड़ गयी, पर कलकत्ता पहुँचकर शुक्लजी ने वहाँ भी हिन्दी के अव्यवसायी रंगमंच की स्थापना कर विशुद्ध राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक-चेतना के प्रसार का उप-क्रम किया। पहले बताया जा चुका है कि वहाँ उन्होंने 'हिन्दी नाट्य-परिषद्' को स्थापना की। इस परिषद् की स्थापना सन् १९१६-१९१८ के बोच किसी समय हुई थी। कहा जा चुका है कि इन दिनों कलकत्ता में पारसी रंगमंच का प्रभाव सर्वत्र छाया हुआ था, बंगला का साहित्यिक रंगमंच भी उसके कुसंस्कारों से सर्वथा मुक्त नहीं था। ऐसी स्थिति में पं० माधव शुक्ल ने 'हिन्दी नाट्य परिषद' की स्थापना कर पारसी रंगमंच के प्रभाव से मुक्त नाट्य-परम्परा के प्रवर्तन का अनुष्ठान किया, यह उनकी क्रान्तदर्शी नाट्य-प्रतिभा का परिचायक है। सम्भवतः पं० माधव शुक्ल के ही प्रयत्नों के परिणामस्वरूप हास्यरसावतार पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी तथा क्रान्तिकारी महाकवि पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जैसे साहित्यिक भी कलकत्ते के हिन्दी रंगमंच पर अभिनेता के रूप में उतरे। निराला जी ने इन पंक्तियों के लेखक को स्वयं बतलाया था कि उन्होंने

कलकत्ते में कुछ नाटक लिखे थे और उनके अभिनय में भाग भी लिया था। दुर्भाग्य से वे सब नाटक अब अप्राप्य हैं। वस्तुतः उपर्युक्त 'नाट्य परिषद' को पं० माधव शुक्ल ने राष्ट्रीय भावना के प्रचार-प्रसार का शक्तिशाली साधन बनाया था। सम्भवतः उन्हीं के आदर्श से अनुप्राणित होकर सन् १९३० में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बीसवें अधिवेशन में हिन्दी रंगमंच की योजना बनी, जो दुर्भाग्य से कभी कार्यान्वित नहीं हो पायी।

पं० माधव शुक्ल ने काव्य और नाटक दोनों ही लिखे हैं और उत्कट तथा उद्दाम राष्ट्रीयता ही इन दोनों की प्रमुख विशेषता है। उनके 'भारत गीतांजलि' नामक काव्यसंग्रह की भूमिका में 'भारत में अंगरेजी राज्य' के लेखक श्री सुन्दरलाल जी ने लिखा है—'पं० माधव शुक्ल की कवितायें देशभक्ति, देशसेवा की लगन, मुल्क की आजादी के लिए तड़प, त्याग और कुर्बानी की उमंगों से ओतप्रोत रहती हैं। खासकर उस जमाने में जबकि देशभक्ति पर कविता करना जबरदस्त खतरे से खाली नहीं था, पं० माधव शुक्ल के राष्ट्रीयगान और कविताओं ने देश के हजारों बड़े-बड़े जलसों के अन्दर, सभाओं, कान्फ्रेंसों और अखबारों के कालमों में हजारों और लाखों के दिलों को हिला दिया और उनके अन्दर देशभक्ति के बीज बो दिये। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दुस्तान की आजकल की राष्ट्रीयता या आजादी की मुहब्बत का महल खड़ा करने वालों में पं० माधव शुक्ल का नाम पहले आता है।' वस्तुस्थिति यह है कि पं० माधव शुक्ल ने राष्ट्रीयता या आजादी की मुहब्बत का महल खड़ा करने का काम कविताओं की अपेक्षा अपने नाटकों और अभिनयों के द्वारा बहुत अधिक किया। दुःख की बात है कि नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में उनके असाधारण कर्तृत्व का समुचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो पाया है। शुक्ल जी की कविताओं के सम्बन्ध में जवाहरलाल नेहरू जी ने भी कहीं कहा है कि शुरू शुरू में राष्ट्रीय कविताओं द्वारा मुल्क को जगाने का काम जिन थोड़े से कवियों ने किया है, उनमें शुक्ल जी का पहला स्थान है।[1]

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि आलोच्ययुग में पं० माधव शुक्ल की साधना से प्रयाग और कलकत्ता अव्यवसायी हिन्दी रंगमंच की सक्रियता के प्रधान केन्द्र बन गये थे। इस प्रसंग में अव्यवसायी रंगमंच के इतिहास में वाराणसी का योगदान भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वाराणसी ने हिन्दी के दो महान् नाटककारों–भारतेन्दु और प्रसाद–को जन्म दिया, वहीं भारतेन्दु जी के प्रयत्नों से हिन्दी के अव्यवसायी रंगमंच की साहित्यिक परम्परा का प्रवर्तन हुआ। इस

---

१. गिरिधर शुक्ल—'हिन्दी प्रकाशन', दिसम्बर, १९६३, पृ० २०।

प्रकार वाराणसी आधुनिक हिन्दी नाट्य-परम्परा की धात्रो के रूप में प्रतिष्ठित है। वहाँ अव्यवसायी साहित्यिक रंगमंच की परम्परा कभी निःशेष नहीं हुई। जिस ओज-तेज के साथ उसका आविर्भाव भारतेन्दु-युग में हुआ था, भले ही उसका सम्यक् निर्वाह परवर्ती युग में न हो पाया हो। भारतेन्दु-युग के पश्चात् वाराणसी की रंगमंचीय प्रतिभा को प्रकाश में लानेवाली दो नाट्य-संस्थायें मानी जा सकती हैं—वे हैं 'भारतेन्दु नाटक मंडली' और 'नागरी नाटक मंडली'। इन नाट्यमंडलियों के आविर्भाव और भारतेन्दुयुगीन नाटकीय क्रियाशीलता के बीच एक व्यवधान दिखाई पड़ता है जिसे दूर करने का प्रयास १९०४–५–६ ई० के आसपास कुछ तरुणों ने 'ब्वायज ड्रामैटिक क्लब' नाम की एक संस्था स्थापित करके आरम्भ किया था। इन तरुणों में जिन लोगों का उल्लेख प्राप्त हुआ है, उनमें भारतेन्दु जी के भ्रातुष्पुत्र बाबू ब्रजचंद्र, झूठे गोटेवाले गोपालदास, घड़ीवाले श्रीचंद गुप्त, राय जगन्नाथदास आदि थे। बाबू बालकृष्ण दास (बल्ली बाबू) के कथनानुसार इस क्लब का पहला कार्यक्रम राय जगन्नाथ दास के घर पर एक छोटे कमरे में एक छोटा पर्दा लगाकर भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी' और 'नीलदेवी' के अभिनय द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस क्लब का यही प्रथम और अन्तिम कार्यक्रम था, वह आगे नहीं चल सका। इस क्लब के असफल होने पर इसके जैन अग्रवाल सदस्यों ने 'जैन नाटक मंडली' की स्थापना की जिसमें उपर्युक्त क्लब के कुछ को छोड़कर प्रायः सब सदस्य सम्मिलित थे। इन लोगों ने कुछ जैन धर्म सम्बन्धी नाटकों के अभिनय के कुछ समय बाद इस मंडली की प्रवृत्ति बदल गयी और इसने पारसी कम्पनियों के 'सिलवर किंग' और 'काली नागिन' आदि नाटक खेलने आरम्भ कर दिये। इसी बीच सेण्ट्रल हिन्दू कालेज में भी एक ड्रामैटिक क्लब' की स्थापना हुई जिसके प्रधान कार्यकर्त्ता रामगोपाल मिश्र नाम के एक सज्जन थे। रामगोपाल मिश्र ने 'ड्रामैटिक क्लब' के अवधान में कॉलेज में राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रताप' के अभिनय का आयोजन किया। इसके लिए उन्होंने बाबू ब्रजचंद्र से प्रार्थना की कि वे 'जैन नाटक मंडली' से पर्दे आदि दिलवा दें। बाबू ब्रजचंद्र ने 'जैन नाटक मण्डली' के कर्णधार श्रीचंद जी से उन्हें आवश्यक सामग्री दे देने का अनुरोध किया। उन्होंने ब्रजचंद्र जी के सामने वचन तो दे दिया, पर समय पर अपने वचन का पालन नहीं किया। इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर बाबू ब्रजचंद्र ने सन् १९०७ के उत्तरार्द्ध अथवा १९०८ के पूर्वार्द्ध में 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मण्डली' नामक नाट्यसंस्था की स्थापना की।

इस मंडली के संस्थापकों में ब्रजचन्द्र जी के अतिरिक्त भारतेन्दु जी के दूसरे भ्रातुष्पुत्र कृष्णचंद्र एवं शाहवंश के बाबू कृष्णदास प्रमुख थे। प्रारम्भ में काशी

के कई प्रमुख नागरिकों में से प्रत्येक ने इसके वस्त्र, सीन-सीनरी, पर्दे आदि बनवाने के लिए दो सौ रुपयों की सहायता की। इसके प्रथम सभापति श्रीकृष्ण-चन्द्र जी थे और इस मंडली के द्वारा अभिनीत पहला नाटक भारतेन्दुरचित 'सत्य हरिश्चन्द्र' था। इस नाटक के अभिनय के अवसर पर मंडली के संचालकों में बड़ा उग्र मतभेद उत्पन्न हो गया। जब इस नाटक के अभिनय की तिथि निकट आ गयी, तो कृष्णचन्द्र जी ने मंडली में यह प्रस्ताव रखा कि इसका नाम बदलकर 'भारतेन्दु नाटक मंडली' कर दिया जाय। मंडली की बैठक में सबने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और सब लोगों ने निमंत्रणपत्र भी इसी नाम से छपवाने तथा बाँटने का निश्चय किया। किन्तु निमंत्रणपत्रों के इस नाम से बँट जाने के बाद बड़ी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा हो गयी। कुछ सदस्यों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि बाबू कृष्णचन्द्र अपने ताऊ की ख्याति चाहते हैं, इसलिए उन्होंने प्रबंध-कारिणी में इस नाम का विरोध किया। इस विरोध से परिस्थिति ऐसी विषम हो गयी कि नाटक का अभिनीत होना ही संदिग्ध हो गया। कृष्णचन्द्र जी 'भारतेन्दु नाटक मंडली' के नाम से ही नाटक अभिनीत करने को कृतसंकल्प थे और विरोधी अपना हठ नहीं छोड़ रहे थे। इस बात को लेकर आपस में बड़ी कटुता उत्पन्न हो गयी। अंत में कुछ लोगों के उद्योग से यह निश्चय हुआ कि यह नाटक 'भारतेन्दु नाटक मंडली' के नाम से ही अभिनीत हो, और उसके बाद इस मतभेद को दूर करने के लिए उचित उपाय कर लिया जाय। अतएव ऐसा ही हुआ, पर इसके परिणामस्वरूप 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्त्तक मंडली' दो शाखाओं में विभक्त हो गयी—एक 'भारतेन्दु नाटक मंडली' और दूसरी 'नागरी नाटक मंडली।'

जब ये दोनों मंडलियाँ अलग हुईं, तो दोनों के मार्ग भी अलग हो गये। दोनों में 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्त्तक मंडली' की प्रत्येक वस्तु आधी-आधी बाँटी गयी। 'भारतेन्दु नाटक मंडली' का सारा उत्तरदायित्व बाबू कृष्णचन्द्र और बाबू ब्रजचन्द्र के मत्थे पड़ा। बाबू ब्रजचन्द्र 'भारतेन्दु नाटक मंडली' में खूब रुचि लेते थे और उसके लिए अधिक से अधिक समय भी देते थे। इस मंडली का पहला अभिनय भारतेन्दुरचित 'सत्य हरिश्चन्द्र' का किया गया जिसको लेकर 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली' का विघटन हुआ था। इस नाटक के अभिनय में भाग लेनेवालों में गोविन्द शास्त्री दुगवेकर (हरिश्चन्द्र), हरिदास माणिक (शैव्या), जगमोहन शाह (नारद), धर्मदत्त गुर्ज्जर (विश्वामित्र), वृन्दावन दास गुजराती (इन्द्र), बल्लो बाबू (धर्म), हरिभाऊ (सत्य) आदि प्रमुख थे। सत्य हरिश्चन्द्र, नारद एवं विश्वामित्र अभिनय अत्यन्त उत्तम हुआ था। इस नाटक के सीन-सीनरी आदि प्रसिद्ध शिल्पी श्री टी० के० मिश्र ने प्रस्तुत किये थे

और उन्होंने अपनी शक्ति भर प्राचीन वातावरण का ध्यान रखा था फिर भी यह कमी रह गई थी कि पौराणिक पात्रों के अनुरूप वेश-भूषा की व्यवस्था नहीं हो पायी थी। इस नाटक के अंत में भगवान् के प्रकट होने के समय ट्रांसफर-सीन के प्रयोग द्वारा श्मशान का दृश्य स्वर्ग में परिवर्तित किया गया था। बाबू कृष्णचंद्र और ब्रजचंद्र के जीवनकाल में इस मंडली ने दो उल्लेखनीय अभिनय किये—एक था 'महाराणा प्रताप' और दूसरा 'सौभद्र हरण'। 'सौभद्र हरण' का अनुवाद गोविन्द शास्त्री दुगवेकर ने मराठी से हिन्दी में किया था। इन दोनों भाइयों ने भारतेन्दुरचित 'विद्यासुन्दर' तथा 'उत्तर रामचरित' (हिन्दी अनुवाद) के अभिनय की योजना भी बनाई थी। उसका अभ्यास भी पूरी तैयारी के साथ आरंभ हो गया था। किन्तु किन्हीं अनिवार्य कारणों से यह योजना कार्यान्वित नहीं हो पायी। इस योजना के असफल होने पर दोनों भाइयों को बड़ा दुःख रहा।

'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्त्तक मंडली' के विघटन के पश्चात् 'भारतेन्दु नाटक मंडली' की स्थापना हो जाने पर बाबू ब्रजचंद्र के प्रयत्न और बाबू शिवप्रसाद गुप्त के सहयोग से 'भारतेन्दु प्रकाशन मंडल' नाम की एक संस्था स्थापित की गयी। इस संस्था के अवधान में 'भारतेन्दु' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला गया जिसका संपादन गोविन्द शास्त्री दुगवेकर करते थे। बाबू शिवप्रसाद गुप्त के तेजस्वी व्यक्तित्व एवं अदम्य राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित यह साप्ताहिक थोड़े ही दिनों में सरकार का कोपभाजन बना और बन्द हो गया तथा इसके साथ ही 'प्रकाशन मंडल' भी बैठ गया। 'भारतेन्दु नाटक मंडली' कृष्णचन्द्र और ब्रजचंद्र के संरक्षण में कुछ दिन और चली। पर सन् १९१२-१४ के बीच दुर्भाग्यवश बाबू ब्रजचंद्र का स्वर्गवास हो गया। भाई की मृत्यु के दारुण आघात से कृष्णचंद्र मंडली की ओर से उदासीन हो गये और मंडली बिलकुल निष्क्रिय हो गयी।

'भारतेन्दु नाटक मंडली' की इस निष्क्रियता से खिन्न होकर रायबहादुर बटुकप्रसाद खत्री ने सन् १९१६ के आसपास इसको पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया। सम्भवतः १९१८ ई० के सितम्बर में बाबू कृष्णचंद्र जी की भी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् बटुक प्रसाद खत्री आदि ने इसे दो-तीन वर्षों तक 'भारत धर्म महामण्डल' के तत्वावधान में चलाया। इस अवधि में मण्डली ने दो उल्लेखनीय अभिनय किये—एक था गोविन्द दुगवेकर का लिखा हुआ 'हर हर महादेव' और दूसरा पं० माधव शुक्ल रचित 'महाभारत'।

'भारतेन्दु नाटक मंडली' को निष्क्रिय देखकर काशी के कुछ कलाप्रेमी नागरिकों ने जिनमें बाबू मनोहरदास, पं० आत्माराम, बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री,

विष्णु बोआ, कार्लविट आदि प्रमुख थे, 'आदर्श भारतेन्दु नाटक मंडली' नाम की एक नवीन संस्था चलायी। इस नाटक मंडली ने भी माधव शुक्ल के 'महाभारत' नाटक का अभिनय किया। इस प्रकार के उपलब्ध उल्लेखों से यह प्रमाणित होता है कि उस युग में पं० माधव शुक्ल अभिनेता और नाटककार दोनों ही रूपों में सर्वाधिक लोकप्रिय थे।

सन् १९२० के आसपास एक बार पुनः 'भारतेन्दु नाटक मंडली' के उद्धार का सफल प्रयत्न किया गया। केशोराम टण्डन के प्रयत्नों से मंडली को 'भारतधर्म महामण्डल' के प्रभुत्व से मुक्ति मिली। इन्होंने मंडली को नवजीवन प्रदान किया, नये-नये सदस्यों की भरती की और अनेक नाटकों के अभिनय आयोजित किये। कहा जाता है कि इन्होंने अभिनेता के रूप में अनेक प्रतिभाशाली तरुण साहित्यिकों का सहयोग प्राप्त किया, जिनमें महेन्द्रलाल मेढ़, कुँवरकृष्ण कौल, जगन्नाथप्रसाद शर्मा (अब डॉक्टर), पंड्या पुरुषोत्तम, बल्ली बाबू आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मंडली ने जिन नाटकों का अभिनय कर लोकप्रियता अर्जित की उनमें राधेश्याम का 'अभिमन्यु', द्विजेन्द्रलाल राय के 'मेवाड़-पतन', 'दुर्गादास', 'शाहजहाँ' आदि तथा विलक्षण कृत 'भीष्म', 'द्रोण' और 'नादिरशाह' आदि हैं। किंतु इस मंडली के कृतित्व का सबसे गौरवशाली पक्ष प्रसाद के नाटकों का सफल अभिनय है। प्रसाद के नाटकों के सर्वथा अनभिनेय होने का जो प्रवाद उस समय प्रचारित कर दिया गया था, उसे इस मंडली के अभिनयों ने असत्य प्रमाणित कर दिया। इस मंडली ने नागरी प्रचारिणी सभा के अर्धशती महोत्सव पर 'चन्द्रगुप्त' नाटक का सफल अभिनय किया। काशी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर 'स्कन्दगुप्त' नाटक का बड़ा सफल अभिनय हुआ जिसके प्रेक्षण का सौभाग्य इन पंक्तियों के लेखक को भी प्राप्त हुआ था। 'द्विवेदी अभिनंदन ग्रन्थोत्सव' के अवसर पर 'ध्रुवस्वामिनी' का सफल अभिनय हुआ था। उस समय तक 'ध्रुवस्वामिनी' प्रकाशित नहीं हुई थी, यह अभिनय प्रसाद जी की पाण्डुलिपि के आधार पर किया गया था। सम्भवतः प्रसाद जी के नाटकों के अभिनय के प्रमुख सूत्रधार बाबू बालकृष्णदास (बल्ली बाबू) थे।

नागरी नाटक मंडली

यद्यपि 'भारतेन्दु नाटक मंडली' और 'नागरी नाटक मंडली' दोनों एक ही मूल संस्था से आविर्भूत हुई, किन्तु 'नागरी नाटक मंडली' को उससे एक वर्ष ज्येष्ठ मानते हैं। इस मंडली ने पहले-पहल २७ जुलाई, सन् १९०९ को भारतेन्दु जी के एक नाटक का अभिनय किया था जिसमें हरिदास माणिक और धर्मदत्त

गुर्ज्जर का अभिनय अत्यंत प्रशंसनीय हुआ था। उसी वर्ष २७ नवम्बर को इस मंडली ने राधाकृष्णदास जी के 'महाराणा प्रताप' नाटक का अभिनय किया। इस नाटक के प्रेक्षकों में कई राजा, महाराजा और सम्मानित नागरिक थे जिन्होंने अभिनय से प्रसन्न होकर इस मंडली को विशेष प्रोत्साहन और सहायता प्रदान की। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के शिलान्यास महोत्सव के अवसर पर देश के कई नरेशों ने इस मंडली का अभिनय देखा था और प्रसन्न होकर उसके लिए नाट्यशाला के निर्माण के निमित्त पुष्कल सहायता देने का वचन दिया था। काशी नरेश को स्वाधीन शासक का अधिकार प्राप्त होने के अवसर पर इस मंडली ने 'युधिष्ठिर' नाटक का अभिनय किया था। इस मंडली ने एक बार 'महाराणा प्रताप' नाटक का अभिनय कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के लिए चंदा भी एकत्र किया था। ९ जनवरी, १९२६ ई० को इस मंडली ने 'अत्याचार' नामक नाटक का अभिनय कर संयुक्त प्रांत के बाढ़-पीड़ितों की सहायता के लिए चार सौ बीस रुपये भेजे थे। इन उल्लेखों से यह सिद्ध है कि यह मंडली साहित्यिक कार्यों के साथ-साथ अनेक लोकोपकारी कार्य भी करती रहती थी। इस मंडली के उन्नायकों में डॉ० भगवानदास जी भी थे; और राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के वंशज राजा नित्यानंद सिंह ने भी इसके उत्कर्ष में विशेष योग दिया था।

इस मंडली ने जिन नाटकों के अभिनय द्वारा विशेष लोकप्रियता प्राप्त की थी, उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय थे—'महाराणा प्रताप', 'सम्राट् युधिष्ठिर', 'सम्राट् अशोक', 'महाभारत', 'भीष्मपितामह', 'वीरबालक अभिमन्यु', 'भक्त सूरदास', 'बिल्वमंगल', 'संसार स्वप्न', 'कलियुग पाप–परिणाम', 'अत्याचार' आदि। मंडली के अभिनयों में जिन लोगों की प्रतिभा अभिनेताओं के रूप में विशेष रूप में प्रकाश में आयी उनके नाम हैं पं० राधाकुमार व्यास, काशीनाथ (बच्चू जी), दुर्गाप्रसाद खत्री, बाबू श्यामसुन्दरदास, हरिदास माणिक, बाबू ठाकुरदास, बाबू शिवप्रसाद, पं० श्रीकृष्ण शुक्ल, पं० लक्ष्मीनारायण शास्त्री, पं० विश्वेश्वरनाथ, पं० रलियाराम आदि। बाबू आनन्दप्रसाद कपूर नाटककार भी थे, वे बहुत दिनों तक मंडली के संचालक रहे थे। उनका अभिनय-कौशल असाधारण था। अव्यवसायी रंगमंच के सफल अभिनेताओं में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है—"मैंने भी मंडली का अभिनय देखा है। देखने से अनुभव हुआ कि मंडली के अभिनयों में अभी पारसीपन की बू बाकी है। किन्तु इसके लिए मंडली नहीं, हमारा समाज दोषी है। मंडली के पास काफी फंड है, सुयोग्य स्टेज-मैनेजर हैं, त्रिगुण हारमोनियम वादक हैं, अच्छे से अच्छे भेष हैं, सुन्दर सीनसीनरी है पर साहित्यिक दृष्टि से अभिनय में दिलचस्पी लेनेवाले पात्रों का बड़ा टोटा है।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि उस काल का

अव्यवसायी रंगमंच सक्रिय तो था, पर ध्येयनिष्ठ सूत्रधारों एवं अभिनेताओं के अभाव में उस पर पारसी रंगमंच का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। पं० माधव शुक्ल जैसे सूत्रधार, अभिनेता और नाटक-लेखक उस समय अवश्य थे, पर वे साधनहीन थे। 'नागरी नाटक मंडली' जैसी साधन-सम्पन्न मंडलियाँ उनकी प्रतिभा का उपयोग नहीं करना चाहती थीं।

झालावाड़ (राजस्थान) की भवानी नाट्यशाला

आलोच्ययुग की कतिपय ऐसी नाट्यसमितियों और नाट्यपरिषदों का विवरण पहले प्रस्तुत किया गया है जिनके संचालक और अभिनेता माधव शुक्ल जैसे उच्चकोटि की साहित्यिक प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे। यदि उन्हें साधन, सुविधा और अभीष्ट सहयोग मिलता, तो हिन्दी नाटक और रंगमंच का इतिहास आज कुछ भिन्न होता। खेद है, हिन्दी नाटक के इन उन्नायकों को किसी दिशा से आवश्यक सहकार और समर्थन नहीं मिला। परिणाम यह हुआ कि ये नाट्य-परिषदें अकाल ही काल-कवलित हो गयीं। किन्तु इसी काल में ऐसी नाट्य-संस्थायें भी अस्तित्व में आयीं जो सब प्रकार के साधनों से सम्पन्न थीं और जिनके संस्थापक बड़े-बड़े राजा-महाराजा थे। इनमें से एक थी झालावाड़ की भवानी नाट्यशाला। इन नाट्यसंस्थाओं के अपने रंगमंच थे जो उस समय के इस देश के सर्वोत्तम रंगमंचों में एक कहे जा सकते हैं। इस नाट्यसंस्था के पास योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त अनेक अभिनेता, गायक, वादक, नर्तक और नाट्यलेखक भी थे। सीन-सीनरियों तथा वेशभूषा एवं प्रसाधन आदि की भी प्रचुर सामग्री इसके पास थी। फिर भी यह नाट्यसंस्था हिन्दी नाटक और रंगमंच के अभ्युत्थान अथवा विकास में कोई महत्वपूर्ण योग न दे सकी। इसका एक कारण यह था कि इस नाट्यसंस्था को भारतेन्दु अथवा माधव शुक्ल जैसे किसी ध्येयनिष्ठ साहित्यकार का सहयोग सुलभ न हो सका। दूसरा कारण यह था कि झालावाड़ हिन्दी-क्षेत्र में होते हुए भी काशी एवं प्रयाग जैसे साहित्यिक और सांस्कृतिक सक्रियता के प्रधान केन्द्रों से दूर पड़ता था। तीसरा कारण यह था कि यह संस्था शुद्ध राजाश्रय में पोषित होने के कारण जन-जीवन के सम्पर्क में पलनेवाली साहित्यिक धारा के सम्पर्क में नहीं आ सकी थी।

इस नाट्यसंस्था के संस्थापक झालावाड़ के कलाप्रेमी एवं विद्याव्यसनी महाराज सर भवानीसिंह जी थे। सन् १९०३ के दिल्ली दरबार में बम्बई, कलकत्ता, इलाहाबाद, मेरठ, कानपुर, आगरा आदि से बहुत सी नाटक कंपनियाँ गई थीं। यहीं आगरा की एक कंपनी के डाइरेक्टर मिर्जा नजीरबेग महाराज के होम मिनिस्टर के विशेष कृपापात्र बन गये। अतएव अपने होम मिनिस्टर की

संस्तुति के फलस्वरूप महाराजा भवानीसिंह ने मिर्जा नजीरबेग को अपने कुछ चुने हुए अभिनेताओं के साथ झालावाड़ बुलाया। इनके झालावाड़ पहुँचते ही वहाँ नाट्यशाला की नींव पड़ी। राजकीय आदेश से बहुसंख्यक कारीगर और मजदूर रंगमंच के निर्माण में लग गये। अनेक पेण्टर पर्दे और सीनरियों की रचना में नियुक्त कर दिये गये तथा अभिनेता और संगीतज्ञ अभिनय एवं गायन का अभ्यास करने लगे। अनेक ज़रदोज़ अभिनेताओं के लिए मखमली और सादी सभी प्रकार की आहार्य-सामग्री की तैयारी करने लगे। इस उत्साहपूर्ण आयोजन का परिणाम यह हुआ कि डाइरेक्टर नजीरबेग ने सन् १९०४ के आरम्भ में ही चार नाटकों के अभिनय की तैयारी पूरी कर ली। ये चार नाटक थे—'गुलरू-जरीना', 'गुलनारफिरोज', 'खूने नाहक' और 'हरिश्चन्द्र'। इनमें से सबसे पहला नाटक 'गुलरूजरीना' था। इन चार नाटकों के अतिरिक्त 'चन्द्रावली', 'लैला-मजनू', 'अलीबाबा चालीस चोर', 'मोरध्वज', 'जुलबकावली', 'चित्राबकावली', 'हकीकतराय', 'पूरन भक्त', 'फिसाना अजायब', 'खुदा दोस्त', 'इन्द्रसभा', 'नलदमन', 'जहर इश्क', 'शीरी फरहाद', 'रामलीला', 'भूलभुलैया' 'माहीगीर', 'अलादीन का चिराग' और 'कत्ल नजर' नामक नाटक भी मिर्जा नजीरबेग के निर्देशन में लगभग दो वर्ष के भीतर अभिनीत हुए। स्वयं महाराजा भवानीसिंह ने भी इनमें से कुछ नाटक देखे और उनकी प्रशंसा की।

उल्लिखित नाटकों के नाम से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इनमें से अधिकांश नाटक उर्दू के थे। 'मोरध्वज', 'नल दमन' और 'हरिश्चन्द्र' जैसे नाटकों की भाषा भी अधिकांश उर्दू थी। मुसलमान डाइरेक्टरों के निर्देशन में तैयार नाटकों की भाषा का ढाँचा उर्दू होना स्वाभाविक ही था। लगभग दो वर्ष तक झालावाड़ में मिर्जा नजीरबेग महाराजा के विशेष कृपापात्र बने रहे। परन्तु अकस्मात् एक घटना ऐसी घटी जिससे उन्हें अपने आगरा के साथियों के साथ झालावाड़ छोड़कर जाना पड़ा। मिर्जा के द्वारा आयोजित एक विशेष अभिनय में महाराजा स्वयं पधारने वाले थे। परन्तु उसी दिन सहसा राजमाता अस्वस्थ हो गयीं और रात्रि में उनकी मृत्यु हो गयी। इस घटना के कारण मिर्जा नजीरबेग के अभिनय अशुभ माने जाने लगे तथा महाराजा एवं मिर्जा सरदारों ने उनका प्रेक्षण अमांगलिक मानकर त्याग दिया। फलतः मिर्जा तथा उनके साथी अभिनेताओं को झालावाड़ छोड़ देना पड़ा।

मिर्जा नजीरबेग के चले जाने के बाद सन् १९०६ में इस नाट्यसंस्था की व्यवस्था का उत्तरदायित्व तुलसीराम नाम के एक सज्जन ने अपने ऊपर लिया। वे झालावाड़ के स्थानीय अभिनेताओं की सहायता से अपना काम चलाते रहे। किन्तु थोड़े ही समय में तुलसीराम का स्वर्गवास हो गया, इसलिए नाटकों के

अभिनय कुछ समय के लिए बन्द हो गये। नाट्यसंस्था के भवन में ताला पड़ गया। इसका रंगमंच जो अब तक अस्थायी था, उजड़ गया।

किन्तु झालावाड़ की नाट्यचेतना एक बार फिर पुनरुज्जीवित हुई और कुछ नाटक प्रेमियों ने मिलकर १९०८ ई० में 'अमेच्योर ड्रामेटिक कंपनी' नाम की एक संस्था की स्थापना की। इस संस्था ने महाराज के जन्मदिवस तथा विशिष्ट राजकीय अतिथियों के सम्मान में कुछ अभिनय प्रस्तुत किये। इससे प्रसन्न होकर महाराजा सर भवानीसिंह ने अपने होम मिनिस्टर को आदेश दिया कि वे कोई अच्छी जगह चुनकर स्थायी रंगमंच का निर्माण करवा लें। तदनुसार राजभवन के कोने में सन् १९१० में स्थायी रंगमंच का निर्माण करवाया गया। इसी का नाम आगे चलकर 'भवानी नाट्यशाला' हुआ। इस स्थायी रंगमंच पर 'गुलनार-फिरोज' नामक नाटक पहले-पहल खेला गया। इस नाटक के दर्शकों में स्वयं महाराजा सर भवानीसिंह भी थे। वे प्रेक्षागृह में रुपये और गिन्नियाँ लेकर बैठे थे और अभिनय के बीच में अच्छे अभिनेताओं को पुरस्कृत करने के लिए रंगमंच पर बरसाते थे। इस अभिनय को देखकर महाराज ने इस नाट्यसंस्था के उन्नयन की ओर विशेष ध्यान दिया। इसीलिए उन्होंने एक बार फिर मिर्जा नजीरबेग को आगरे से बुलवाने का आदेश दिया।

महाराजा भवानीसिंह को 'गुलनार-फिरोज' नाटक बहुत पसन्द था। वे इस आशय का कोई अंगरेजी नाटक पहले देख चुके थे। इसलिए उन्होंने इसके अभिनेताओं के प्रसाधन के लिए चाइना ड्रेस, चोटीदार बाल आदि वैसी ही सामग्री विदेशों से मँगवाई। रंगमंच पर प्रदर्शित दृश्यों की भूमिका में उसी वेशभूषा में अभिनेताओं के चित्र खिचवाकर महाराजा प्रति तीसरे मास के अन्त में इङ्गलैण्ड के किसी नाटक क्लब को भेजते थे। महाराजा अपने सम्बन्धी एवं मित्र नरेशों को भी कभी-कभी अपने रंगमंच पर नाटकों के अभिनय दिखवाते थे। अभिनेताओं के अभ्यास एवं उत्साहवर्धन के लिए महाराजा ने सन् १९१३ में 'राजेन्द्र क्लब' को कार्तिक के मेले के अवसर पर नाटकों के अभिनय करने का आदेश दिया। ये अभिनय जनता को कई दिनों तक मुफ्त दिखाये गये।

सन् १९१४ में महाराजा भवानीसिंह ने बम्बई की 'पारसी थियेट्रिकल कम्पनी' से अभिनेताओं के प्रशिक्षण के लिए मास्टर पुरुषोत्तमदास को बुलवाया। ये बड़े अच्छे अभिनेता एवं संगीतज्ञ थे। इन्होंने 'खूबसूरत बला' और 'महाभारत' नाटक अभिनय के लिए तैयार करवाये। सन् १९१५ में साहराबजी की कम्पनी मद्रास से अब्दुल रऊफ भी नाटकों की तैयारी में सहायता देने के लिए बुलाये गये। पुरुषोत्तम और अब्दुल रऊफ दोनों का सारा जीवन झालावाड़ राज्य की इस नाट्यसंस्था की सेवा में बीता, वहीं दोनों की मृत्यु भी हुई।

सन् १९१७ में 'भवानी नाट्यशाला' में कुछ अंग्रेजी नाटकों के अभिनय भी सफलतापूर्वक किये गये। इन नाटकों के अभिनय के लिए उत्तम से उत्तम ड्रेस आदि इंग्लैण्ड से मँगवाये गये थे। जिन अंग्रेजी नाटकों का अभिनय पहले-पहल किया गया, वे थे—'किंग जोन्स', 'हैमलेट' और 'मर्चेण्ट आफ वेनिस'। अंग्रेजी नाटकों के अभिनय युवराज राजेन्द्र सिंह की प्रेरणा से हुए थे। इनके बाद महाराजा भवानीसिंह ने नाट्यशाला के नवनिर्माण का आदेश दिया। परिणामस्वरूप यह नाट्यशाला राजप्रासाद के अन्तःपुर के निकट जिस स्थान पर और जिस रूप में आज है, बनी। सन् १९२१ की १६ जुलाई को नाट्यशाला के नवीन भवन में 'सिकन्दर' नाटक का अभिनय किया गया। इस नाटक के गीत और गद्य दोनों की भाषा अधिकांश हिन्दी थी। वस्तुतः इस नाटक के द्वारा इस रंगमंच पर पहले-पहल हिन्दी के अपेक्षाकृत विशुद्ध रूप का प्रवेश हुआ था। इसका श्रेय युवराज राजेन्द्रसिंह को दिया जा सकता है, जो आगे चलकर हिन्दी के अच्छे कवि हुए। इन दिनों नाटकों के अभिनय में महाराज भवानीसिंह का अनुराग इतना अधिक बढ़ गया था कि उन्होंने बाहर की प्रसिद्ध कम्पनियों को अच्छे से अच्छा वेतन देकर झालावाड़ बुलवाया था। इन दिनों झालावाड़ के 'राजेन्द्र ड्रामैटिक अमेच्योर क्लब' के अभिनय बंबई और कलकत्ते की श्रेष्ठ व्यवसायी कम्पनियों के अभिनय से उत्तम माने जाने लगे थे।

१३ अप्रैल १९२९ ई० को इंग्लैण्ड से लौटते समय अदन के निकट जहाज में ही महाराजा भवानीसिंह का देहान्त हो गया। उनके स्थान पर राणा राजेन्द्रसिंह सिंहासनासीन हुए। नवीन शासन-व्यवस्था के प्रसंग में कुछ दिनों के लिए यह नाट्यशाला भंग कर दी गयी। बाहर के जो वैतनिक अभिनेता बुलाये गये थे उन्हें एक का मास वेतन तथा पुरस्कार देकर बिदा किया गया। केवल पुरुषोत्तमदास पेंटर, अब्दुल रऊफ एवं अब्दुल अली रख लिये गये, ये लोग घर बैठे वेतन पाते रहे।

सन् १९३० के कार्तिक के मेले के अवसर राणा राजेन्द्रसिंह ने पुनः इस नाट्यसंस्था को पुनरुज्जीवित एवं सक्रिय करने का विचार किया। अतएव मेले के अवसर पर अभिनयों का आयोजन किया गया। इस बार टिकट लगाकर अभिनय दिखाये गये, क्लब को इससे अच्छी आमदनी हुई। बाहर के जो अभिनेता बिदा कर दिये गये थे, उनका स्थान स्थानीय अभिनेताओं ने ले लिया। इनमें से अधिकांश अभिनेता राज्य के 'गुनीजनखाने' से लिये गये थे। मेले से लौटने के बाद कुछ दिन तक इस क्लब के अभिनय राज्यादेश से टिकट लगाकर होते रहे।

इसके पश्चात् इस क्लब के अभिनय पुनः 'भवानी नाट्यशाला' में राजकीय व्यय से सम्पन्न होने लगे। सन् १९३२ में स्वयं महाराजा राजेन्द्रसिंह ने

'अभिमन्यु' नाटक लिखा जो रंगशाला में बड़ी तैयारी के साथ खेला गया। इसमें चक्रव्यूह, कैलाश, जयद्रथ के सिर का कटकर गिरना, हिमाच्छादित पर्वतशृंग पर दौड़ते हुए रथयुद्ध आदि के दृश्य बड़ी कुशलता से दिखाये गये थे। इसके बाद कुछ दिनों के लिए यह नाट्यसंस्था पुनः बंद कर दी गयी। महाराजा ने सम्भवतः आर्थिक व्यवस्था से उसे टिकट चलाते रहने का आदेश दिया। पर इस प्रकार वह चल न पायी और सन् १९३६ ई० में बंद कर दी गयी। किन्तु १९४० ई० में युवराज के विवाह के अवसर पर उसे पुनरुज्जीवित करने का आदेश हुआ। 'कृष्ण-कमला' नाटक की तैयारी बड़ी धूम-धाम से की गयी। इस नाटक के लिए गीत आदि भी स्वयं महाराज राजेन्द्रसिंह ने लिखे थे। इस नाटक के अभिनय की तैयारी भी स्वयं महाराजा के निर्देशन में सम्पन्न हुई। वे प्रतिदिन ६-७ घंटे अभिनेताओं को अभ्यास करवाने के लिए नाट्यशाला में उपस्थित रहते थे। महाराजा राणा राजेन्द्रसिंह अच्छे कवि, नाटककार एवं कुशल नाट्य निर्देशक थे। उनके शासनकाल में राज्य में तथा नाट्यशाला में भी हिन्दी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। दुर्भाग्य से राणा राजेन्द्रसिंह का देहावसान युवावस्था में ही २ सितम्बर, १९४३ को हो गया। इससे इस नाट्य संस्था की प्रगति को एक बार पुनः गहरा धक्का लगा।

राणा राजेन्द्रसिंह के बाद राणा हरिश्चन्द्रदेव झालावाड़ के शासक हुए। वे इस समय राजस्थान की प्रजातांत्रिक-सरकार में मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित हैं। आरम्भ से ही उनमें लोक सेवा की प्रवृत्ति थी, अतएव उन्होंने अपने राज्य की नाट्यसंस्था का उपयोग भी लोक हितकारी कार्यों के साधन के रूप में किया। उनके आदेश से इस संस्था ने जो थोड़े-बहुत नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये, उनमें ग्राम-सुधार को प्रोत्साहन देने वाले कथानक ही प्रायः लिये जाते थे।

इस नाट्य संस्था की प्रवृत्तियों का जो विवरण दिया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि पहले इसके द्वारा जो नाटक खेले जाते थे, उन पर पारसी रंगमंच का बहुत प्रभाव था। दिग्दर्शक और अधिकांश अभिनेता भी व्यवसायी पारसी कम्पनियों से वेतन देकर बुलाये गये थे। उनकी भाषा भी अधिकांश अरबी-फारसी-मिश्रित अर्थात् उर्दू की ओर झुकी रहती थी। महाराजा राजेन्द्रसिंह ने जब से इस संस्था में अभिरुचि लेना आरम्भ किया, उस समय से इस प्रकार की भाषा का स्थान हिन्दी को मिला।

इस नाट्यसंस्था की सबसे बड़ी उपलब्धि इसकी नाट्यशाला है, जिसकी जोड़ की नाट्यशाला उस समय देश में दुर्लभ थी। यह नाट्यशाला इंग्लैंड की अच्छी से अच्छी नाट्यशालाओं को देखकर उनके नमूने पर बनवायी गयी थी। इस पर

सब प्रकार के नाटक प्रस्तुत किये जा सकते थे और सब प्रकार के जटिल से जटिल दृश्य भी प्रदर्शित किये जाते थे। इस नाट्यशाला में शेक्सपियर के लिखे हुए अनेक अंग्रेजी नाटकों का भी मूल में अभिनय होता था। इन नाटकों के लिए हजारों रुपये लगाकर सभी प्रकार की अपेक्षित सामग्री इंग्लैंड से मँगायी गयी थी। जिस समय मैंने इस नाट्यशाला को देखा था, उस समय विभिन्न अंग्रेजी के नाटकों के लिए वेशभूषा आदि के सेट अलग-अलग सन्दूकों में बंद सुरक्षित रखे थे। बड़ी से बड़ी व्यवसायी पारसी नाटक कम्पनी भी अभिनय और रंगमंच के उपकरणों की दृष्टि से इतनी समृद्ध रही होगी, इसमें सन्देह है। इस नाट्यशाला के नेपथ्य गृह की दीर्घा में अभिनेताओं के प्रसाधन के अलग-अलग अनेक कक्ष थे जिनमें वे स्वतन्त्र रूप से अपनी तैयारी करते थे। प्रेक्षागृह भी सभी श्रेणी के दर्शकों को ध्यान में रखकर बनाया गया था। खेद है, यह उत्तम नाट्यशाला उस समय भी हिन्दी नाट्य-साहित्य के विकास में किसी प्रकार का योगदान न कर सकी और आज भी वह अज्ञात पड़ी हुई है। परिशिष्ट में इस नाट्यशाला का जो चित्र दिया जा रहा है, उससे इसके स्वरूप का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

जिन प्रमुख नाट्यसंस्थाओं का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है, इनके अतिरिक्त और भी बहुत सी अव्यवसायी नाट्य समितियाँ थीं। इन सब नाट्य-संस्थाओं की गतिविधि को लक्ष्य कर ललित कुमार सिंह 'नटवर' ने इनकी बड़ी यथार्थ टीका प्रस्तुत की थी—"हमारी अधिकांश नाटक समितियाँ पेशेदार पार्सी स्टेजों की भद्दी नकल है। भद्दी इसलिए कि पार्सीपन की वह चुस्ती, वह मस्ती, वह 'प्रीपेरेशन' नाम-मात्र को भी नहीं होते, केवल हाथ-पैर और आँख-मुँह के बेतहर संचालन, वेशभूषा तथा उच्चारण की थोड़ी-बहुत नकल अवश्य की जाती है उसमें भी विराम-नियमानुसार रुक-रुक कर बोलने का प्रयोग अधिकतर बेमौके और बेढंगे तौर पर किया जाता है। नियम है कि पद्य के अन्तिम चरण के अन्तिम दो शब्दों को उनके पहले वाले शब्द को जरा चढ़ाव पर लाकर चढ़ता—कहीं एक ही स्थान पर भी ठहरता—हुआ उच्चरित होता है। इस तरह के तीन और पाँच चरण वाले पद्यों की बड़ी प्रशंसा है। इनके गद्य भी कहीं-कहीं पद्यात्मक ढंग के ही रहते हैं—इसमें भी चढ़ाव-उतार होता है, परन्तु ऐसा प्रयोग सब जगह नहीं होता, न सभी पात्र ही ऐसा करते हैं। बड़ा आवेश और बड़ी मस्ती है इसमें। जनता फड़क उठती है, उमड़ पड़ती है। पारसियों की यह खास विशेषता है, मगर है यह अस्वाभाविक। हमारे नकलची नट निरन्तर अभ्यास न होने के कारण इसकी और भी रद्दी हालत बना डालते हैं। थियेट्रिकल तर्जों की तो और भी मट्टी पलीद की जाती है। इसी प्रकार पार्सी ढंग के

स्त्री पात्रों के उच्चारण में इतनी लोच और भाव-भंगी में इतनी लचक और फाहिशापन होता है कि कुछ न पूछिये। हमारी नाटक-समितियाँ उनका बड़ा बुरा अनुकरण करती हैं। इससे समाज को जितनी उनसे हानि पहुँचने की संभावना नहीं होती—उससे अधिक निकट संबंध के कारण इन नाटक समितियों से हैं....थोड़ी सी दूसरी प्रकार की नाटक समितियाँ हैं, जो बंगला स्टेज की नकल करती हैं। इनमें अधिकतर शिक्षित कहे जाने वाले सज्जन सम्मिलित हैं। कामिक और कुछ साधारण वार्तालाप को छोड़कर बंगला का उच्चारण व्याख्यान-नुमा होता है। शब्दों को हटाकर केवल ध्वनि का प्रवाह सुना जाय, तो साफ मालूम होगा कि अंग्रेजी स्पीच का वजन है। वैसे ही विराम, उसी तरह का चढ़ाव-उतार और आवेश के साथ गला कँपा-कँपा कर थरथराहट भरी आवाज निकालना बंगला स्टेज की विशेषता है। खास कर स्त्री पात्रों से ऐसा संभाषण कराया जाता है, मालूम होता है कि किसी निश्चित नियम के अनुसार पद्यात्मक ध्वनि निकल रही है। हमारे अंगरेजीदाँ हिन्दी-भाषा-भाषी इसी का अनुकरण अधिक करते हैं। साधारण वार्तालाप में भी व्याख्याननुमा ढंग से ही बातचीत करते हैं। हालाँकि इसमें भी बड़ा आवेश और प्रभाव है, किन्तु अस्वाभाविकता में पार्सीपन से किसी तरह कम नहीं है। कुछ इस तरह के पात्र हैं, जो स्कूली सबक सुनाने की तरह पार्ट करते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नाटक-समितियों में रामलीला, रासलीला और नौटंकी के ख्याल खेले जाते हैं।''[१]

द्विवेदी-युग के नाटक-लेखक—वर्गीकरण और विवरण

इस उद्धरण में अभिनय और रंगमंच की जिस अवस्था का विवरण दिया गया है, उसका अव्यवहित प्रभाव उत्तर भारतेन्दु-युग के नाटकों पर देखा जा सकता है। इस युग के नाटक लेखकों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(१) व्यवसायी नाटक कम्पनियों के लेखक (२) इन लेखकों के अनुयायी (३) साहित्यिक नाटक-लेखक और (४) अनुवादक। व्यवसायी नाटक कम्पनियों के कुछ प्रमुख लेखकों और उनकी कृतियों का उल्लेख पहले हो चुका है। उनकी सर्वसामान्य विशेषताओं का विवरण भी पूर्ववर्ती पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि इन व्यवसायी लेखकों में सबसे उल्लेखनीय कृतित्व नारायणप्रसाद 'बेताब' और राधेश्याम कथावाचक का है। उन्हीं दोनों के नाटकों द्वारा पारसी रंगमंच पर हिन्दी का प्रवेश हुआ था जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस दृष्टि से राधेश्याम कथावाचक का सबसे सफल और सर्वाधिक लोक-

---

१. हमारा रंगमंच और अभिनय कला—माधुरी, वैशाख, तु० सं० ३०६।

प्रिय नाटक 'अभिमन्यु' था। बेताब जी के 'महाभारत' नाटक ने भी हिन्दी, हिन्दू एवं सुधार की भावनाओं के प्रचार-प्रसार में योग दिया था। राधेश्याम कथा-वाचक के अतिरिक्त व्यवसायी कम्पनियों के अन्य लेखक हरिकृष्ण जौहर, तुलसी दत्त 'शैदा' और आगा हश्र कश्मीरी थे। इन नाटककारों की भाषा के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। उनके गद्य के कथोपकथन बड़े रोमांचक, उत्तेजक एवं सानुप्रास होते थे और उनके बीच फड़कते हुए उर्दू शेरों का प्रयोग किया जाता था। व्यवसायी कम्पनियों के संचालकों के निर्देशन के अनुसार ये लोग अपने नाटकों में उत्तेजक एवं अधिक से अधिक कौतूहलपूर्ण दृश्यों का संविधान करते थे। मुख्य कथानक के बीच में एक प्रहसन की योजना की जाती थी, जिसकी कथावस्तु नाटक की मूल कथावस्तु से स्वतन्त्र रहती थी। प्रहसन का कम से कम एक दृश्य प्रत्येक अंक में अवश्य रखा जाता था। इस प्रकार की प्रहसन श्रृंखला-संयुक्त नाटक-रचना पारसी रंगमंच की विशेष देन मानी जा सकती है। इन लेखकों के लिखे हुए नाटकों का प्रयोग केवल पारसी रंगमंच पर ही नहीं किया जाता था। अभिनययोग्य नाट्यसंस्थाएँ भी आवश्यकता पड़ने पर इन्हीं का उपयोग करती थीं।

इन नाटकों के व्यापक प्रभाव के कारण उस समय हिन्दी में नाटक-लेखकों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था जो इन पारसी रंगमंच के नाटककारों का ही पूरा-पूरा अनुकरण एवं अनुसरण करता था। ऐसो अनुकृतियों में अनुकार्य के गुणों का अभाव और दोषों का अधिकाधिक अन्तर्भाव रहता था। ऐसी रचनाएँ उस समय लिखी तो बहुत गईं, पर उनका अब कहीं पता नहीं रह गया है। ऐसे नाट्य-लेखकों का संबंध व्यवसायी कंपनियों से नहीं था, और न ये साहित्यिक कोटि में ही गिने जाने योग्य थे। ये केवल नाटक लिखने का शौक पूरा करने के लिए ही लिखते थे। इस वर्ग के लेखकों को लक्ष्य कर एक प्रबुद्ध समसामयिक समीक्षक ने लिखा था कि "ये लेखक पारसी रंगमंच के लेखकों के 'एकलव्यनुमा' शिष्य हैं, जो अपने अनजान गुरु की कृतियों को अपनी निकृष्ट रचनाओं के दर्पण में मुँह चिढ़ाते हुए भावी अभिनय-साहित्य-निर्माण के लिए उसके वर्तमान क्षेत्र में कूड़े की खाद पटाते हैं।" इस वर्ग के लेखकों में उल्लेख योग्य नाम कोई नहीं है।

इस युग के तीसरे वर्ग के मौलिक साहित्यिक नाटक-लेखकों की कृतियों को लक्ष्य कर श्री जगदीशचन्द्र माथुर[1] ने लिखा है कि उनको 'भारतेन्दु शैली' के अन्तर्गत माना जा सकता है, क्योंकि उनकी कृतियों में उन्हीं गुणों का विकास

१. आलोचना—'हिन्दी रंगमंच और नाट्यरचना का विकास', पृ० २६-२७।

मिलता है जिनकी झाँकी भारतेन्दु और उनके समकालीन नाटककारों के नाटकों में मिल चुकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके नाटककारों की कृतियाँ भारतेन्दुयुगीन नाट्यपरंपरा का ही अनुसरण करती हैं, पर इनके ऊपर समसामयिक पारसी रंगमंच की नाट्यप्रविधि का भी प्रभाव पड़ा है जिससे भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के नाटक प्रायः मुक्त थे। डॉ० सोमनाथ गुप्त का यह कथन सर्वथा उचित है कि इस काल के नाटककारों का यह प्रयत्न था कि समसामयिक सभी नाट्यप्रवृत्तियाँ यथासंभव मिलकर एक हो जावें। 'साहित्य और रंगमंचीय नाटकों में भेदभाव न रहने पावे और अंगरेजी तथा संस्कृत नाट्यविधान में भी समन्वय की स्थापना हो। पारसी रंगमंच के चमत्कार और व्यवसायी होने के कारण उसमें और शास्त्रीय रंगमंच में जो ऊपरी भेद दिखाई देता था, वह मिट जाये।'[1] इस प्रकार का प्रयत्न उस काल के प्रमुख नाटककारों की कृतियों में स्पष्ट दिखाई देता है।

पं० माधव शुक्ल

इस युग के नाटककारों में और नाट्यकर्म तथा नाट्यधर्म के उन्नायकों में पं० माधव शुक्ल का स्थान सर्वोपरि है। वस्तुतः वे उत्तर भारतेन्दु-युग के अव्यवसायिक नाट्याभिनय के क्षेत्र में सूर्य की तरह प्रकाशमान थे। रंगानुकूल नाट्यरचना करने में वे सिद्धहस्त थे। उनके पाँच नाटक प्रकाशित हुए थे जिनके नाम हैं—(१) 'सीय स्वयंवर' (२) 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) (३) 'नारी-संकल्प' (४) 'प्रायश्चित' और (५) 'नारी जागरण'। 'सीय स्वयंवर' मानस की रामकथा को लेकर लिखा गया नाटक है, किंतु वस्तुतः यह राजनीतिक व्यंग्य-प्रधान नाटक है। इस नाटक में कथानक के बीच-बीच अवसर निकालकर अंगरेजी शासन के छल-छद्म, कूटनीति आदि पर व्यंग्य के चाबुक चलाये गये हैं। इस संबंध में पहले लिखा जा चुका है कि इसके संवाद ऐसे अंगरेजविरोधी थे कि विशिष्ट जनों को भी सुनकर चिंताग्रसित हो जाना पड़ता था।

उनका दूसरा नाटक 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) है। जिन दिनों यह नाटक लिखा गया, उन दिनों फारसी, अरबी के शब्दों से लदी हुई भाषा का प्रयोग रंगमंचीय नाटकों में होता था। पारसी रंगमंच पर भाषा के परिष्कृत रूप का विकास नहीं हो पा रहा था। कारण, पारसी कम्पनियाँ भिन्न-भिन्न प्रदेशों में घूम-घूम कर प्रदर्शन करती थीं। इन कम्पनियों के स्वामियों और सूत्रधारों को यह अनुभव तो अवश्य हुआ होगा कि हिंदी प्रायः सर्वत्र समझी जाती है, पर उसके सर्वग्राह्य परिनिष्ठित

---

१. डॉ० सोमनाथ गुप्त, 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास', पृ० ६।

स्वरूप की सम्यक् अवधारणा उनको नहीं थी। पारसी कम्पनियों के मालिक बड़े-बड़े शहरों के निवासी थे, वे फारसी और अरबी के अप्रचलित शब्दों से भरी भाषा को ही नाटकों के उपयुक्त मानते थे। पारसी रंगमंच के नाटकों को जो लोकप्रियता प्राप्त हो रही थी, उसके कारण उनकी भाषा संबंधी धारणा दृढ़ हो गई थी। वे यह भूले हुए थे कि उनके नाटकों की लोकप्रियता का कारण केवल फारसी-अरबी शब्द-बहुल भाषा नहीं है। लोकप्रियता के कारण पारसी रंगमंच के चमत्कारी दृश्यबंध प्रसिद्ध वाराङ्गनाओं के नृत्य, उत्तेजक संवाद, कॉमिक आदि थे। पारसी रंगमंच के प्रसिद्ध नाटककार पं० नारायणप्रसाद 'बेताब' ने सबसे पहले अपने नाटकों की भाषा को अरबी-फारसी शब्दों के अस्वाभाविक भार से मुक्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने एक मध्यम मार्ग निकाला—

न ठेठ हिंदी न खालिस उर्दू,
जबान दोनों मिली-जुली हों।
अलग रहे दूध से न मिश्री,
डली-डली दूध में घुली हो॥
('महाभारत' की प्रस्तावना, पृष्ठ १०)

पारसी नाटकों के साथ हुए अनुबंध के अन्तर्गत लिखते रहने के कारण ही शायद 'बेताब' अपने राम-लक्ष्मण जैसे महान् पात्रों की भाषा को परिष्कृत न कर पाये। उनकी रामायण के अंक-दो, प्रवेश-एक में लक्ष्मण का यह कथन भाषा की दृष्टि से नितान्त अस्वाभाविक लगता है—

अभी सही बाण को परीक्षा,
अभी सही इम्तिहाने खंजर।
सवाल पैदा जो कोई होगा,
जबाब देगी जबाने खंजर॥

'बेताब' और उनके साथ राधेश्याम कथावाचक ने व्यवसायी रंगमंच की भाषा को स्वाभाविक और परिष्कृत बनाने की दिशा में दो डग अवश्य भरे, किंतु इस काम को उस युग में पूरा किया पं० माधव शुक्ल ने। उन्होंने भारतेन्दु और उनके सहयोगियों के नाटकों की भाषा-शैली के अनुरूप अपनी भाषा को ढालने का सफल प्रयत्न किया। भारतेन्दु जी ने हिन्दी को जिस 'नई चाल में' ढाला था, पं० माधव शुक्ल के सामने उसी का आदर्श था।

पं० माधव शुक्ल भारतेन्दु जी के आदर्शों से पूर्ण रूप से प्रेरित और प्रभावित थे। भारतेन्दु की तरह वे पारसी रंगमंच के बढ़ते हुए असांस्कृतिक और

अनैतिक प्रभाव को रोकना चाहते थे। भारतेन्दु की तरह वे देशवासियों में हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न करते हुए देश प्रेम की ज्वलंत भावना भर देना चाहते थे। उन्होंने नाटक और काव्य सभी कुछ इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए लिखे। वे राष्ट्र के स्वतंत्रता आन्दोलन के एक अग्रणी नेता थे। पहले वे लोकमान्य तिलक से प्रभावित थे और उनके आदर्शों और सिद्धान्तों के सक्रिय प्रचारक थे। बाद को वे गाँधी जी के अनुयायी बन गये। लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय और विपिनचन्द्र पाल ने देश को स्वतंत्र कराने के लिए उस समय के कांग्रेस की भिखभंगी नीति का विरोध किया था और इन नेताओं ने अंग्रेज सरकार को बहुत बड़ा और कड़ा आन्दोलन करने की चुनौती दी थी। पं० माधव शुक्ल अपने नाटकों में और अपनी कविताओं में इसी नीति का प्रबल समर्थन कर रहे थे। वे जितने निष्ठावान साहित्यिक थे, उतने ही बड़े राजनीतिक कार्यकर्ता और स्वतंत्रता सेनानी थे। उनको अपने नाटकों और कविताओं में व्यक्त विचारों के लिए और उग्र राजनीतिक गतिविधियों के लिए कई बार जेल जाना पड़ा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी रंगमंच के नवनिर्माण में अथवा नाट्य-साहित्य के संवर्धन में कोई उल्लेखनीय योगदान नहीं किया। यह काम सम्पूर्ण समर्पण की भावना से पं० माधव शुक्ल ने सम्पन्न किया। हम उनके कृतित्व में उनके चार रूप स्पष्ट देख सकते हैं। एक ओर वे एक महान् राजनेता थे जिसके लिए देश की आजादी के लिए कुछ भी अदेय नहीं था। दूसरी ओर वे एक सफल नाटककार, महान् अभिनेता और रससिद्ध जनकवि थे जिनकी वाणी असंख्य हृदयों में त्याग और कुर्बानी की उमंगों की आग जगा देती थी। हिन्दी रंगमंच के नव निर्माण का जो व्रत भारतेन्दु ने लिया था, उसको पूरा करने के लिए माधव शुक्ल ने जीवनव्यापी तप किया। धन की कमी के कारण वे हिन्दी रंगमंच के नये उत्थान को स्थायी रूप नहीं दे पाये। यदि उनको धनियों का सहयोग मिला होता, तो निश्चय ही भारतेन्दु जी के स्वप्न को सत्य करके दिखा देते।

हिन्दी के व्यवसायी अथवा अव्यवसायी रंगमंच पर शुक्ल जी से बड़ा अभिनेता आज तक कोई नहीं हुआ है। उन दिनों बंगाली रंगमंच पर शिशिर कुमार भादुड़ी की धूम मची हुई थी। मैंने उनको राम का अभिनय करते हुए स्वयं देखा था। शुक्ल जी का अभिनय देखने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला। पर जिन विज्ञों और रसज्ञों ने इन दोनों महान् कलाकारों का अभिनय देखा है, वे शुक्ल जी को भादुड़ी से श्रेष्ठ अभिनेता मानते हैं। विशेष रूप से राष्ट्र की स्वातंत्र्य-चेतना को

अपने अभिनय से शाणित करने और उसे निशित और निविड़ रूप से सर्वजन संवेद्य बनाने की उनकी कला अद्वितीय थी। आचार्य शिवपूजन सहाय ने उनके अभिनय के विषय में लिखा है—"वे अद्वितीय पुरुष-सिंह थे।....हिन्दी संसार में वैसा 'हरिश्चन्द्र' और वैसा 'भीम' कहीं दृष्टिगत न हुआ। उनका अभिनय ऐसा हुआ कि 'न भूतो न भविष्यति'।" स्वातंत्र्य-चेतना, देशप्रेम, हिन्दी के प्रचार और साहित्यानुराग की वृद्धि के लिए शुक्ल जी नाटक को अमोघ साधन मानते थे।

डॉ० रामविलास शर्मा ने लिखा है, "भारतेन्दु जी ने नाटक लिखने की ही परम्परा को जन्म नहीं दिया, उन्होंने नाटक की परिपाटी भी आरम्भ की और स्वयं अभिनय करके लोगों के सामने एक आदर्श स्थापित किया।" ये तीनों ही कार्य माधव शुक्ल ने किये। उन्होंने नाटक लिखे जिनकी चर्चा की जा चुकी है। सम्भव है इनके अतिरिक्त उन्होंने और नाटक भी लिखे हों, पर अब वे प्राप्त नहीं हैं। उन्होंने भारतेन्दु की तरह नाटकों के अभिनय की परम्परा को एक सफल अभिनेता के रूप में आगे बढ़ाया। आचार्य शिवपूजन सहाय ने लिखा है, "शुक्ल जी वीररसात्मक अभिनय की कला में अद्वितीय हैं।" जी० एस० पथिक ने लिखा है, 'शुक्ल जी ने अपनी कलम से 'महाभारत', 'प्रताप', 'दुर्गादास', 'छत्रसाल' तथा 'शिवाजी' आदि नाटक लिखे। उन्होंने केवल नाटक ही नहीं लिखे, बल्कि अभिनय भी किये। वे बड़े कुशल अभिनेता थे। अभिनय में वे अपने लिए सदा वीर रस के अभिनेता का पार्ट लेते थे। अपने पार्ट में वे सारे भाव प्रदर्शित करने में सिद्धहस्त थे। कुछ विद्वानों का मत है कि शुक्ल जी ने 'प्रताप', 'दुर्गादास', 'छत्रसाल' तथा 'शिवाजी' नाटक स्वयं नहीं लिखे, दूसरों के लिखे हुए इन नामों के नाटकों का अभिनय उन्होंने किया था। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि इनको छोटे नाटकों के रूप में उन्होंने स्वयं लिखा था और स्वयं उनका अभिनय भी किया था।

माधव शुक्ल के प्राप्त नाटकों में 'महाभारत' (पूर्वार्द्ध) दृश्य और श्रव्य दोनों दृष्टियों से एक श्रेष्ठ कृति है। रंगमंच पर इस नाटक के जितने अभिनय हुए वे सभी अत्यन्त सफल और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए। इस नाटक में शुक्ल जी ने कथानक, भाषा और रंगसज्जा तीनों दृष्टियों से हिन्दी के अव्यावसायिक रंगमंच को यथाशक्ति पारसी रंगमंच के प्रभाव से मुक्त करने का प्रयत्न किया। इस नाटक के पात्र कोरे पौराणिक नहीं हैं, वे प्रतीकात्मक भी हैं। इसमें स्थान-स्थान पर धृतराष्ट्र और कौरवों के शासन की निंदा के व्याज से अंगरेजों के शासन का असली स्वरूप प्रकट किया गया है। भीष्म का यह कथन इसका प्रमाण है—

धिक् वह नृप, धिक् मंत्री, धिक् वे राजपुरुष, धिक् राज।
कपट, कुमति, दुष्कर्मों से जो पीड़ित करे समाज॥

इस नाटक की कौरवों के द्वारा अपमानित द्रौपदी विदेशी शासन से त्रस्त भारतमाता का चित्र सामने प्रस्तुत कर देती है। द्रौपदी की अस्मिता में भारत-माता का संघर्षशील तेजस्वी रूप प्रकट होता है।

रंग सज्जा की दृष्टि से इस नाटक का शिल्प पारसी रंगमंच से प्रभावित और प्रेरित अवश्य है। कारण, उस समय रंगमंच का यही रूप सर्वाधिक प्रच-लित था। किन्तु माधव शुक्ल ने इसके अंकों और दृश्यों के विधान में रंगमंचीय व्यावहारिकता का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। उस समय कलकत्ता में 'परिक्रामी रंगमंच' का प्रवेश हो चुका था। यह नाटक 'परिक्रामी रंगमंच' पर सफलतापूर्वक खेला जा सकता है।

शुक्ल जी का क्रान्तिकारी कविरूप उनके नाटकों में विशेष रूप से प्रकट हुआ है। उनका कविरूप अनेक स्वतंत्र काव्य-संग्रहों के रूप में प्रकाश में आया। नाटकों में भी उन्होंने बड़ी ओजस्वी कविताओं का समावेश किया है। कुछ विद्वानों ने उनके कविरूप की तुलना बंगला के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कवि नजरूल इस्लाम से की है। महात्मा गाँधी ने शुक्ल जी के लिए कहा था, "देश के लिए उन्होंने बड़ी तकलीफ सही थी, बड़ा काम किया था, उनकी एक एक कविता कीमती है।" शुक्ल जी का जीवन और उनका साहित्य एक दूसरे के पर्याय बन गये थे। उन्होंने जैसा त्यागमय आदर्श-जीवन व्यतीत किया, उनका यथार्थ प्रति-बिम्ब उनकी कृतियों में सुरक्षित है। अपनी कृतियों में उन्होंने जिन आदर्शों का अनुलेखन किया उनको उन्होंने अपने जीवन में यथारूप जीने का प्रयत्न किया।

बदरीनाथ भट्ट

इस वर्ग के नाटककारों में बदरीनाथ भट्ट प्रमुख हैं। उन्होंने 'चन्द्रगुप्त', 'तुलसीदास', 'दुर्गावती', 'कुरुवनदहन', 'बेन चरित्र', 'चुंगी की उम्मेंदवारी', 'मिस अमेरिकन' आदि कई नाटक लिखे हैं। इन नाटकों में 'दुर्गावती' और 'बेन चरित्र' सबसे सफल माने गये हैं। भट्ट जी ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में भारतेन्दु युग के ऐतिहासिक नाटककारों की अपेक्षा ऐतिहासिकता का अधिक ध्यान रखा है। फिर भी उन्हें ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण में वह सफलता नहीं मिली है जो प्रसाद जी के नाटकों का आधारभूत वैशिष्ट्य है। भट्ट जी के नाटकों की भाषा अभिनयोपयुक्त सरल, सरस, सशक्त और मुहावरेदार है और कतिपय स्वगत-कथनों को छोड़कर उनके कथोपकथन भी लंबे और भाषण-शैली के नहीं हैं। परन्तु इनके कथोपकथनों में पद्यात्मकता की भरमार है। यहाँ तक

कि दैनिक व्यवहार की कामचलाऊ बातें भी पद्यों—उर्दू और हिन्दी दोनों प्रकार के छन्दों—में कही गयी हैं जो अस्वाभाविक होने के साथ-साथ पारसी रंगमंच के गहरे प्रभाव का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। 'दुर्गावती' नाटक के आरम्भ में ही अकबर का स्वगत-कथन है—

हारा हुआ व राना ऊधम मचा रहा है,
फौजों को पर्वतों पर मेदी नचा रहा है।

इस प्रकार स्वगत-कथन करते हुए अकबर को लक्षित कर पृथ्वीराज भी इसी प्रकार स्वगत-कथन करते हैं—

किस पर भला यों आज यह त्योरी चढ़ी है आपकी ?
क्यों, चोट किस पर होनेवाली है तने इस चाप की ?
हो क्रुद्ध यों यमराज ने किस पर उठाया दंड है ?
किसका प्रचंड घमंड होने को अभी शत खंड है ?

इसी प्रकार रानी दुर्गावती अपने सैनिकों से कहती हैं—

यही आज्ञा है मेरी, मेरे सैनिक शत्रु को रोकें,
लगाई अग्नि जो उसने, उसी में उसको धर झोकें,
न जो शीशोदियाओं को मिला, वह यश मिले हमको,
भगावें हम सदा को मौत का भय मारकर यम को।

विचारणीय है कि ये कथन शक्तिशाली गद्य में प्रस्तुत किये जाने पर अधिक प्रभावशाली होते। परंतु कुशल नाटककार परम्परा और विशेषतः समसामयिक प्रवाह से अभिभूत होने के कारण वैसा नहीं कर सका। भट्ट जी के पूर्ववर्ती भारतेन्दु के नाटकों में तथा परवर्ती प्रसाद जी के आरंभिक नाटकों में भी पद्यात्मक कथोपकथन मिलते हैं। पर भारतेन्दु अथवा प्रसाद ने प्रायः सामान्य दैनिक व्यवहार के तथ्यों और कथ्यों को पद्यात्मक संवाद के रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। उन्होंने विशेष भावपूर्ण और रागात्मक अवसरों पर ही प्रायः पद्यात्मक कथोपकथनों की योजना की है। यह विवेक भट्ट जी एवं उनके समसामयिक नाटककारों में नहीं है।

भट्ट जी हास्य और व्यंग्य के सिद्ध लेखक थे, अतएव इन तत्वों की सफल योजना उन्होंने नाटकों में की है। उस समय हास्यरस की योजना की दृष्टि से तीन प्रकार के नाटक लिखे जाते थे—(१) विदूषक संयुक्त, (२) प्रहसन शृंखला युक्त और (३) हास्य पात्र संयुक्त। शुद्ध संस्कृत-परंपरा के नाटकों में विदूषक की योजना की जाती थी। स्वयं प्रसाद जी ने 'स्कन्दगुप्त' नाटक तक इस परंपरा को निभाया है। यह पहले बताया जा चुका है कि पारसी रंगमंच के लिए जो

नाटक लिखे जाते थे, उनमें मुख्य कथावस्तु से स्वतंत्र प्रहसनों की शृंखला रहती थी। भट्ट जी ने हास्यरस की अवतारणा की। इन दोनों ही शैलियों को अपने नाटकों में स्थान नहीं दिया है। तीसरी हास्यपात्र संयुक्त शैली का प्रयोग उन्होंने अवश्य कई प्रकार से किया है। उनके नाटकों में जो हास्य मिलता है, वह प्रायः आधिकारिक कथानक के कुछ प्रकृत पात्रों द्वारा ही अभिव्यक्त कराया गया है। उदाहरणस्वरूप 'दुर्गावती नाटक में गिड़धाड़ी सिंह, छिपेलू सिंह, भगेलू सिंह, गिरबारी सिंह आदि पात्रों के द्वारा, जो रानी दुर्गावती के जागीरदार हैं, हास्य की सृष्टि की गई है। यह हास्य प्रायः शिष्ट और मर्यादित होते हुए भी व्यंग्य के तीखेपन से युक्त है। 'दुर्गावती' नाटक के दूसरे अंक के चौथे दृश्य में उपर्युक्त पात्रों के कथोपकथन में स्वार्थी, देशद्रोही एवं कायर सरदारों के चरित्र को हास्य एवं व्यंग्य के माध्यम से उद्घाटित किया गया है।[1] भट्ट जी में हास्य की सृष्टि के लिए नामों में कुछ विकृत अथवा विलक्षणता लाने की प्रकृति मिलती है। गिरधारी सिंह को गिड़धाड़ी सिंह बना देना और भगेलू सिंह, छिपेलू सिंह आदि नाम इसके प्रमाण हैं। भट्ट जी ने 'चुंगी की उम्मेदवारी', 'विवाह-विज्ञापन', 'मिस अमेरिकन' आदि कुछ स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे हैं। ये प्रहसन जी० पी० श्रीवास्तव के प्रहसनों की तरह बलात् किसी पूर्व निर्धारित साँचे में फिट नहीं किये गये हैं। इनके हास्य और व्यंग्य का लक्ष्य अपनी सामाजिक विकृति है। इनमें जी० पी० श्रीवास्तव जैसी तीव्रता तो है, पर अशिष्टता नहीं। इनका हास्य

---

१. भगेलू०—आपका कहना ठीक है कि व्यर्थ लड़ना-लड़ाई! लड़ाई! आदमी न हुए कोई जानवर हुए।

छिपेलू०—परमात्मा ने मनुष्य को इसलिए उत्पन्न नहीं किया है कि वह अपनी ही जैसी सूरत के दूसरे प्राणियों से लड़ता फिरे अरे भई तुझे एक वस्तु की आवश्यकता है, तो तू ले ले-जान तो छोड़। बस इतनी ही नम्रता दिखाने से दुनिया पिघलकर मोम हो जाती है और सब झगड़ा-टंटा मिट जाता है।

भगेलू०—राव गिरधारी सिंह ने जो उपदेश इस समय राजपूतों को दिये हैं, वे मुझे बहुत अच्छे लगते हैं।

छिपेलू०—क्या हैं वे?

भगेलू०—वैसे तो राव जी नजरबंद हैं; किन्तु उन्होंने अपने भरोसे के आदमियों द्वारा यह कहलाया है कि हे राजपूतों, सच्ची वीरता आत्म-संयम-पूर्वक क्रोध जीतने और शत्रु को क्षमा करने में है, न कि व्यर्थ प्राण देने और लेने में।

प्रायः सौष्ठवपूर्ण और मर्यादायुक्त है। केवल 'मिस अमेरिकन' को इसका अपवाद माना जा सकता है। मिस मेयो ने भारतीय राष्ट्र का अपमान करने के लिए 'मदर इंडिया' नाम की जो कुख्यात पुस्तक लिखी थी, उसकी राष्ट्रव्यापी रोषपूर्ण प्रतिक्रिया हुई थी। उसके उत्तर में विविध भारतीय भाषाओं में अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। 'मिस अमेरिकन' नामक भट्ट जी का प्रहसन भी उसी प्रसंग में लिखा गया था। उस क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया के आवेश में इस प्रहसन के हास्य का कुछ अमर्यादित हो जाना स्वाभाविक था।

इन विशेषताओं के अतिरिक्त भट्टजी के नाटकों से कतिपय पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व का भी अच्छा चित्रण मिलता है[1]। उनके कतिपय नाटकीय गीत भी बड़े सरस हैं। ये ही विशेषतायें आगे चलकर प्रसाद जी के नाटकों में पूर्ण विकसित रूप में मिलती हैं। कुल मिलाकर भट्ट जी को ही उत्तर भारतेन्दु-युग का प्रतिनिधि नाटककार मान सकते हैं। भट्ट जी की नाट्यकला में उनके युग को देखते हुए अनेक विकसनशील तत्त्व मिलते हैं जिनके आधार पर उन्हें प्रसाद-युग का अग्रदूत एवं भारतेन्दु-युग तथा प्रसाद-युग के बीच की कड़ी माना जा सकता है। भारतेन्दु ने अपने नाटकों में पाश्चात्य नाट्य-रचना-पद्धति के देशकालोपयोगी तत्त्वों का ग्रहण आरंभ किया था। भट्ट जी ने उस कार्य को आगे बढ़ाया। 'कुरुवन दहन' नाटक की भूमिका में भट्ट जी ने स्वयं लिखा है--"यह अंगरेजी ढंग पर ऐक्ट तथा सीनों में विभक्त किया गया है जिससे खेलने में भी सुगमता पड़े। अंगरेजी नाट्य-रचना-पद्धति संस्कृत से कहीं उन्नत तथा समयोपयुक्त है, इसलिए उसका ही अनुसरण करना समयोपयुक्त समझा गया।" भट्ट जी की नाट्यकृतियों में पाश्चात्य रचना पद्धति के देशकालोपयोगी उपादानों के सन्निवेश का सचेत

---

१. देखिये--'दुर्गावती' नाटक, दूसरा अंक, दूसरा दृश्य, बदनसिंह का स्वगत-कथन—बदनसिंह—(आप ही आप) बहुत सोचता हूँ, परन्तु कुछ उपाय नहीं सूझता। इन दोनों चिट्ठियों ने मुझे डाँवाडोल कर दिया। सारा किया-कराया मिट्टी में मिला जाता है। सुमति की आँसुओं की धार में मेरी प्रतिज्ञा कागज की नाव की भाँति औंधी-सीधी बही जाती है।... (उदास होकर) किंतु, बदनसिंह ! बदनसिंह ! क्या तू कायर है ? क्या तू सच्चा क्षत्रिय नहीं ?....(हँसता हुआ) सुमति, तू रानी होगी सुत होगा राजकुमार; नित्य ही प्रेमपूर्ण दरबार जुड़ा करेगा। बादशाह सलामत ने मुझे 'राजा' की उपाधि देकर नियमपूर्वक तिलक तो कर ही दिया है।........(सोचता हुआ) किन्तु देशद्रोही ! यह सुमति क्या कहती है ? देशद्रोही कौन है ?...........।

प्रयास सर्वत्र दिखाई पड़ता है। साहित्यिक नाटककारों को समुन्नत साहित्यिक रंगमंच का बल नहीं प्राप्त था, इसलिये उनके प्रयत्नों को अभीष्ट सफलता मिली।

गोविन्द वल्लभ पन्त

गोविन्द वल्लभ पन्त एक ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपनी नाट्यकृतियों में साहित्यिकता और रंगमंचीयता का समन्वय करने का प्रयत्न आरम्भ से ही किया है। उन्होंने उत्तर भारतेन्दु-काल में नाट्यरचना आरम्भ की और अन्त तक नाट्यलेखन करते रहे हैं। नाट्यरचना काल की दृष्टि से गोविन्द वल्लभ पन्त, प्रसाद और प्रेमी के समकालीन हैं। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे नाट्यरचना का एक ऐसा मध्यम मार्ग निकालते हैं जिसमें नाटक के काव्यत्व का मूल अल्पातिअल्प अंश और रंगमंच के विधान के व्यावहारिक क्रियाकल्प का निर्वाह संतोषजनक रीति से हो जाता है। उनको हम प्रसाद और प्रेमी के बीच का मार्ग अवलम्बन करने वाला नाटककार कह सकते हैं। प्रसाद के उदात्त काव्यत्व और उसके भीतर से प्राप्त होनेवाली नाटकीय चरित्रों की महिमा की झलक उनके ऐतिहासिक नाटकों में नहीं मिलती है। किन्तु प्रेमी के नाटकों जैसे कथोपकथन भी वे नहीं लिखते जिनमें कथानक की गति ही ठहर जाती है। आरम्भ से ही वे ऐसे छोटे नाटक लिखते रहे हैं, जो रंगमंच के समय की सीमा का उल्लंघन नहीं करते। उत्तर भारतेन्दु और प्रसाद-युग के संधिकाल में अव्यावसायिक रंगमंच पर पन्त जी के 'राजमुकुट' नाटक को जो सफलता और लोकप्रियता प्राप्त हुई थी वह कम ही साहित्यिक नाटकों को प्राप्त हुई। इस नाटक का वस्तुविन्यास और कथोपकथन रंगमंच पर बड़ा प्रभावी सिद्ध हुआ था। इस नाटक में उदयसिह का वध करने के लिए जाते हुए बनवीर के अन्तर्द्वन्द्व का बड़ा रोमांचकारी चित्रण किया गया है। इसी प्रकार इस नाटक में अपने स्वामी के पुत्र के लिए अपने पुत्र का बलिदान करती हुई पन्ना धाय के अन्तर्द्वन्द्व का भी बड़ा कारुणिक चित्रण किया गया है।

पन्त जी आरम्भ से ही अपने नाटकों में किसी न किसी रूप में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व का प्रदर्शन करते हैं। उनके 'वरमाला' नाटक में एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक समस्या को कथानक का केन्द्र बिन्दु बनाया गया है। यह समस्या प्रेम और घृणा की है। इस नाटक की नायिका वैशालिनी अपनी इच्छा के विपरीत स्वयंवर में अवीक्षित का वरण करती है। फिर भी अवीक्षित के प्रेम निवेदन की वह कठोर उपेक्षा करती है। परिणामस्वरूप अवीक्षित का प्रेम घृणा में बदल जाता है। वे दोनों एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। नाटककार अन्त में एक ऐसी परिस्थिति का निर्माण करता है जिससे दोनों की घृणा अथवा उपेक्षा की भावना एक

दूसरे के प्रति तीव्र प्रेम में परिणत हो जाती है। 'मार्कण्डेय पुराण' की इस कथा को लेखक ने आधुनिक मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अपने 'अन्तःपुर का छिद्र' नामक नाटक में भी पन्त जी ने घृणा को प्रेम में परिवर्तित करने की प्रक्रिया का बड़ा सफल और स्वाभाविक चित्रण किया है। अभिनय की दृष्टि से यह नाटक भी बहुत सफल सिद्ध हुआ है। इस नाटक में शीतल सेनी का चरित्र बड़े प्रभावशाली रूप में चित्रित हुआ है। नाटक के छल-प्रपंच, हत्या, रक्तपात आदि का प्रेरक यही शीतल सेनी है। शीतल सेनी का चरित्र शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'मैकवेट' को नायिका लेडी मैकवेट के चरित्र से बहुत साम्य रखता है। इस नाटक के कथानक में पन्त जी चरम सीमा का निर्माण बड़ी कुशलता से करते हैं। यह विशेषता उनके अन्य नाटकों में भी पायी जाती है। 'अन्तःपुर का छिद्र' एक ऐतिहासिक नाटक है। रंगमंचीय क्रिया-कल्प की दृष्टि से यह एक सफल नाटक अवश्य है किन्तु इस नाटक में भगवान् बुद्ध के युग के ऐतिहासिक वातावरण का आभास उत्पन्न करने में नाटककार को सफलता नहीं मिली है।

पन्त जी का 'ययाति' एक पौराणिक नाटक है। 'ययाति' का कथानक एक गहन मनोवैज्ञानिक-आध्यात्मिक समस्या प्रस्तुत करता है। समस्या यह है, क्या इन्द्रिय भोगों से किसी की आत्यन्तिक तृप्ति हो सकती है ? उत्तर है नहीं। जैसे अग्नि में घृत डालते रहने से अग्नि और अधिक प्रज्वलित होती है उसी प्रकार भोगों से इन्द्रियों की भोगाकांक्षा निरन्तर बढ़ती जाती है। इस मनोवैज्ञानिक-आध्यात्मिक समस्या को लेखक ने 'ययाति' नाटक में प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत किया है।

"अँधूरी मूर्त्ति' उनका एक बहुत सफल नाटक है। इस ऐतिहासिक नाटक में कतिपय महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक का सफल मंचन भी हो चुका है जिसमें आधुनिक रंगमंच के शिल्प-विधियों का प्रयोग किया गया था। नाटककार पन्त नाटक को एक राष्ट्रीय चेतना मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि नाटक केवल कला ही नहीं, विज्ञान भी है। वे नाटक में भाषा की सरलता को ही सरसता भी मानते हैं।

उनके अन्य नाटक हैं—'कंजूस की खोपड़ी' (१९२३), 'अंगूर की बेटी' और 'सिंदूर की बिन्दी'। 'कंजूस की खोपड़ी' एक प्रहसन है और 'अंगूर की बेटी' एक सामाजिक सुधारवादी नाटक है। 'सिंदूर की बिन्दी' भी एक सामाजिक नाटक है, जिसमें समाजभ्रष्ट बालिकाओं की समस्या का समाधान खोजने का प्रयत्न किया गया है।

अन्य प्रमुख साहित्यिक नाटककार

इस युग के अन्य प्रमुख साहित्यिक नाटककारों में मिश्रबन्धुओं का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है । उन्होंने 'नेत्रोन्मीलन', 'पूर्व भारत', 'उत्तर भारत', 'शिवाजी', 'रामचरित्र' आदि कई नाटक लिखे हैं । 'नेत्रोन्मीलन' एक सामाजिक नाटक है जिसमें अदालतों का यथार्थ चित्रण किया गया है । अदालतों के कार्य-व्यापार का इतना वास्तविक चित्रण प्रस्तुत करनेवाला यह उस युग का अद्वितीय नाटक है । 'पूर्व भारत' एवं 'उत्तर भारत' में महाभारत की कथा का सरस नाटकीय रूप प्रस्तुत किया गया है । 'रामचरित्र' में रामायण की कथा है और 'शिवाजी' पौराणिक नाटक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मिश्रबन्धुओं ने सामाजिक, ऐतिहासिक और पौराणिक सभी प्रकार के नाटक लिखे हैं । 'मिश्र-बन्धु' के नाम से प्रसिद्ध पं० श्यामबिहारी मिश्र एवं पं० शुकदेवबिहारी मिश्र नामक बन्धुद्वय का साहित्यिक कृतित्व अत्यन्त महान् एवं चिरस्मरणीय है। साहित्य के अन्य क्षेत्रों के समान नाटक-साहित्य में भी उनका योगदान उनके युग के परिपार्श्व में महत्वपूर्ण है । नाटकों के संवाद बड़े रोचक और सजीव हैं । वे विभिन्न वर्गों के पात्रों से उनके कुल-शील आदि के अनुरूप विभिन्न प्रकार की बोलियों का प्रयोग करवाते हैं । कुछ पात्र उर्दू बोलते हैं, कुछ अवधी, कुछ ब्रज-भाषा, कुछ खड़ी बोली आदि । भरत ने पात्रोपयुक्त भाषा सिद्धान्त का निरूपण करते हुए इसी प्रविधि का अनुमोदन किया है । किन्तु आधुनिक काल में इसका प्रयोग एक सीमा तक ही रुचिकर एवं उपादेय हो सकता है । मिश्रबन्धुओं ने अपने युग की सभी प्रकार की नाटक प्रवृत्तियों का प्रभाव ग्रहण किया है । उनके नाटक अभिनेय भी हैं ।

इस युग में बदरीनाथ भट्ट, माधव शुक्ल, मिश्रबंधु, वृन्दावनलाल वर्मा, डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र जैसे मौलिक नाटक लिखने वाले अन्य प्रमुख व्यक्तित्व अवश्य सामने आते हैं । भारतेन्दु-काल में रचना की जो प्रवृत्तियाँ इस क्षेत्र में लक्षित की गयी हैं, वे सब किसी न किसी रूप में, किसी न किसी नाटककार की कृति में अवश्य दिखाई पड़ जाती हैं । इस काल के अन्य मौलिक नाटकों में वृन्दावनलाल वर्मा का 'सेनापति ऊदल', शालिग्राम का 'पुरु विक्रम', प्रयाग प्रसाद त्रिपाठी का 'हिंदी साहित्य की दुर्दशा', शिवनंदन सहाय कृत 'सुदामा', रामनारायण मिश्र का 'कंस वध', परमेश्वर मिश्र का 'रूपवती' आदि उल्लेखनीय हैं । ये नाटक अधिकांश अप्राप्य हो गये हैं और होते जा रहे हैं । इस युग में गोविन्द वल्लभ पंत ने नाट्य-रचना आरंभ की । उनके 'राजमुकुट' और 'वरमाला' नाटक बहुत प्रसिद्ध हुए । उनका रचनाकाल प्रसाद-युग और प्रसादोत्तर युग तक विस्तृत है ।

इस काल में अनेकानेक स्वतंत्र प्रहसन भी लिखे गये। अधिकांश प्रहसन-लेखकों पर पारसी रंगमंच का प्रभाव है, इसलिए वे अमर्यादित एवं उच्छृंखल हैं। प्रहसनकारों में बदरीनाथ भट्ट एवं जी० पी० श्रीवास्तव के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। भट्ट जी के 'मिस अमेरिकन' प्रहसन की चर्चा हो चुकी है। उनके 'चुंगी की उम्मेदवारी', 'विवाह-विज्ञापन', 'लबड़ धोंधों' आदि अधिकांश शिष्ट-हास्यपूर्ण प्रहसन हैं। जी० पी० श्रीवास्तव ने छोटे-बड़े अनेक प्रहसन लिखे हैं। उनके प्रहसनों में सौष्ठव और मर्यादा दोनों का अभाव है। उनके हास्य एवं व्यंग्य में तीव्रता तो अवश्य है पर उसके साथ-साथ अशिष्टता भी है।

अनुवाद

उत्तर भारतेंदु-युग में इतने अधिक नाटक हिन्दी में अनूदित हुए कि बहुत से विद्वान् इसे अनुवाद-काल कहना ही समीचीन समझते हैं। ये अनुवाद देशी-विदेशी सभी भाषाओं से किये गये। विदेशी भाषाओं से अनुवाद का माध्यम अंगरेजी था। इस प्रकार के प्रयत्नों में अवधवासी लाला सीताराम के द्वारा किया हुआ शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद उल्लेखनीय है। उन्होंने 'हैमलेट', 'रिचर्ड द्वितीय', 'मैकबेथ' आदि कई नाटकों का अनुवाद किया था। सं० १९६७ में 'हैमलेट का जयंत' नाम से एक दूसरा अनुवाद भी हुआ था। लाला सीताराम ने संस्कृत के 'नागानंद', 'मृच्छकटिक', 'महावीर चरित', 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' का बड़ा सरस अनुवाद प्रस्तुत किया।

इस युग में बँगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं के नाटकों के भी अनुवाद हुए। इस प्रयत्न को आचार्य द्विवेदी का समर्थन प्राप्त था। बँगला नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत करनेवालों में गोपालराम गहमरी स्मरणीय हैं। उन्होंने 'बनवीर', 'ब्रभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्याविनोद' आदि बँगला नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किये एवं रवि बाबू की 'चित्रांगदा' का भी अनुवाद किया। बँगला नाटकों के दूसरे समर्थ अनुवादक पं० रूपनारायण पाण्डेय थे जिनके अनुवाद-कार्य का प्रारम्भ द्विवेदी-युग में होता है और जो प्रसाद-युग का भी अतिक्रमण कर जाता है। उन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय के प्रायः सब नाटकों का हिन्दी अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने गिरीश घोष, क्षीरोद, कवीन्द्र रवीन्द्र आदि प्रसिद्ध बँगला नाटककारों की कृतियों का भी अनुवाद किया। पांडेय जी के अनुवाद बड़े सफल हैं, उनमें मूल की आत्मा को अधिक से अधिक सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। इस क्षेत्र में पं० रूपनारायण पाण्डेय का कृतित्व अनुपम है।

मराठी का नाट्यसाहित्य और रंगमंच भी बँगला की ही तरह समुन्नत एवं सम्पन्न है। उसमें बँगला के रंगमंच की अपेक्षा परानुकरण कम एवं निजत्व

अधिक है। आचार्य द्विवेदी जी बँगला की अपेक्षा मराठी के अधिक निकट थे। अतएव बहुत से मराठी नाटकों के भी हिन्दी अनुवाद हुए। मराठी-नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत करने वालों में पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी का नाम प्रमुख है। उन्होंने अच्युत बलवन्त कोल्हाटकर लिखित 'स्वामी विवेकानन्द' नाटक के अपने अनुवाद की भूमिका में अपना उद्देश्य इस प्रकार निरूपित किया है[1]—"मराठी पाठकों को यह नाटक बहुत ही रुचिकर प्रतीत हुआ है, हम आशा करते हैं कि हिन्दी पाठक भी इसे प्रेमपूर्वक अपनायेंगे। यदि हमारी हिन्दी भाषी तरुणमण्डली इसे स्टेज पर लाने का भी प्रयत्न करेगी, तो अच्छा होगा। हम यह बात जानते हैं कि अभी हिन्दी में संगीत-नाटकों के विषय में ही विशेष उत्साह नहीं देखा जाता, फिर बिलकुल गद्य-नाटक उनके खेलने में बहुत प्रिय मालूम नहीं हो सकता। तथापि मनोरंजन की जो मात्रा इस नाटक में रखी गयी है, उससे संगीत की कमी बहुत अंशों में पूर्ण हो जाती है; इसके सिवाय अंग्रेज पात्रों के आने की विलक्षणता भी इस नाटक को रमणीय तथा कौतुहलवर्धक बनाती है, सो हम पहले ही कह चुके हैं। महाराष्ट्र इत्यादि में गद्य-नाटक खेलने का भी खूब प्रचार है, और 'शाहू नगरवासी नाटकमण्डली' तो गद्य नाटक खेलकर ही जो सफलता और कीर्ति प्राप्त कर चुकी है, वह बहुत कम संगीत-मण्डलियों ने प्राप्त की है। सच तो यह है कि अभिनयकर्तागण अपने कार्य में निपुण होने चाहिए फिर वे चाहे गद्य-नाटक हों, चाहे पद्य, उसे दर्शकों के सामने इस प्रकार अभिनीत करते हैं कि दर्शक लोग वाह-वाह करके ही गर्दन हिलाने लगते हैं। इसीलिए हम चाहते हैं कि हमारे हिन्दी भाषी नवयुवक भी गद्य-नाटकों का अभिनय प्रारम्भ करके अपनी अभिनय-निपुणता का परिचय देना प्रारम्भ कर दें।" इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि हमारे अनुवादक विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं की साहित्यिक प्रगति के सम्पर्क में थे और उनके ग्राह्य उपादानों को हिन्दी में आत्मसात करने के लिए प्रयत्न करते रहते थे।

रवीन्द्रनाथ का नव्योत्थान

रवीन्द्रनाथ का आविर्भाव भारतीय साहित्य-जगत् की एक महत्वपूर्ण घटना है। उनका बड़ा व्यापक और बहुमुखी प्रभाव प्रायः सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर पड़ा। नाटक का क्षेत्र भी उससे अछूता नहीं रहा। रविबाबू ने यद्यपि नाटक कम ही लिखे पर शान्तिनिकेतन में तथा कलकत्ता में भी वे नाट्य-

---

१. 'स्वामी विवेकानन्द' (हिन्दी अनुवाद) प्र० सं०, सं० १९७४, हिन्दी गौरवग्रन्थ माला।

प्रदर्शन की योजना किया करते थे और स्वतः उसमें सम्मिलित होते थे। अभिनय-कला का एक सरल किन्तु सुरुचिपूर्ण निर्माण रवि बाबू के प्रयत्नों से सम्पन्न हुआ। रंगमंच में प्राचीन वातावरण और प्रसाधन की योजना भी उन्होंने की और इस कार्य में शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध कलाकारों ने, विशेषतः श्री नन्दलाल बोस ने उन्हें पूरा योग दिया। गीत और नृत्य की नयी पद्धति रंगमंच पर प्रतिष्ठित हुई। कहा जा सकता है कि शान्तिनिकेतन से अभिनय और रंगमंचीय प्रसाधन की एक नई परिपाटी ही चल निकली और केवल बंगाल में ही नहीं, भारत के अन्य प्रदेशों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। केवल नाटक-लेखन के क्षेत्र में भले ही रवि बाबू का कोई उल्लेखनीय प्रभाव तत्कालीन हिन्दी नाटककारों पर न पड़ा हो, पर आगे चलकर नवीन रंगमंच तथा नये अभिनय एवं नृत्यगीत-शैली का जो अभ्युदय हुआ, उस पर रवि बाबू की कुछ न कुछ छाप अवश्य है।

उपसंहार

उत्तर भारतेन्दु-युग अथवा द्विवेदी-युग एवं प्रसाद-युग की विभाजक रेखा अत्यन्त क्षीण है। प्रसाद-युग के प्रायः सभी लेखकों का रचनाकाल द्विवेदी-युग में आरम्भ होता है। प्रसाद जी की आरम्भिक नाट्य-कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा में आती हैं परन्तु आगे चलकर उनकी नाट्यकृतियों में जो वैशिष्ट्य आता है, वह उन्हें द्विवेदी-युग के लेखकों से पृथक् कर देता है। ऐसा ही अन्य नाटककारों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। इस वर्ग के लेखकों में माखनलाल चतुर्वेदी का स्थान विशिष्ट है। उनकी काव्य-कृतियाँ द्विवेदी-युग के आगे की वस्तु हैं। पर उनका 'कृष्णार्जुन-युद्ध' नाटक उत्तर भारतेन्दु-युग के रंगमंचीय विधान और साहित्यिक परम्परा का समुचित समन्वय है। भारतेन्दु-युग के नाटककारों ने जिस प्रकार नाटकीय पात्रों के माध्यम से समसामयिक राजनीतिक परिस्थिति पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है, वही शैली इस नाटक में चतुर्वेदी जी ने भी अपनायी है। इन्द्र, कुबेर, नारद आदि के वार्तालाप में समसामयिक राजनीतिक परिवेश का परिचय मिलता है। 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक इस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसमें प्राचीन परम्पराओं का प्रतिफलन एवं नवीन अरुणोदय का आभास मिलता है।

●

परिशिष्ट-१

नौकालीला

श्री राधा के साथ एक दिन गोपियाँ दही बेचने यमुना पार मटहरा ग्राम तक चली जाती हैं। बहुत दूर जाने पर भी उस दिन उनकी बिक्री नहीं होती है, अतएव उन्हें बड़ा दुःख होता है। इसी बीच दिन ढल चलता है। वे लौटकर जब तक यमुना-तट तक पहुँचती हैं, तब तक सूर्य भी अस्ताचल पर पहुँच जाते हैं। दैवयोग से तट पर कोई नौका भी नहीं मिलती अतः उनकी विवशता चिन्त्य होकर इस प्रकार प्रकट होती है—

मुँद्यो चहत पिय दूर नगरिया।
ना मल्लाह न कोई नवरिया।

रही हैं पार की पार गुजरिया॥
कहा कहैंगो युवती ग्राम की बाट निहार निहार गुजरिया॥

इस प्रकार सोचती-विचारती हुई वे सब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रही हैं। उसी समय कृष्ण एक छोटे से बालक का रूप धारण करके एक छोटी नौका खेते हुए दूर पर धारा के मध्य दिखाई देते हैं। वर्षा के कारण नदी बढ़ी हुई है, एक गोपी वृक्ष पर चढ़कर उन्हें ध्यान से देखती और फिर केवट समझ कर पुकारती है। कृष्ण कहते हैं, नौका नहीं लाऊँगा—

'सुन्दर सुघर नवरिया मेरी, पट भूषन बहु भार गुजरिया।'

निकट आकर वे उन्हें पार ले जाना स्वीकार न करके कहते हैं—"मेरी यह छोटी-सी सुन्दर नौका तुम्हारे वस्त्राभूषणों और दधि-भाण्डादिकों के भार से डूब जायगी क्या तुम देखती नहीं, पूर्व दिशा का प्रभंजन प्रखर से प्रखरतर होकर बह रहा है, यमुना की तरंगें उत्ताल होती जाती हैं, मेरे हाथ काँप रहे हैं और बल्ली बार-बार छूट-छूट जाती है—

उत पूरब पवन झकोर रही,
इत जमुना अधिक हिलोर रही,
कर बल्ली छुटि छुटि काँप रही,
हो बरसानेवाली गुजरिया।"

बहुत अनुनय-विनय के पश्चात् वे इस शर्त पर उन्हें नौका में बैठाने को

तैयार होते हैं कि पहले स्वामिनी उन्हें अपने चरण धो लेने दें। इस पर राधा कहती हैं कि मैं इस नीच जाति के धीवर को अपने शरीर का स्पर्श नहीं करने दूँगी। बहुत कहने-सुनने पर वे कृष्ण को अपने पैर धोने देती हैं। अब कृष्ण पुनः बाधा उपस्थित करते हुए कहते हैं कि मेरी नौका सबको एक साथ पार नहीं ले जा सकती, उसके डूब जाने की आशंका है, इसलिए उन्हें एक-एक करके पार जाना होगा। गोपियाँ अनेक प्रकार से प्रार्थना करके और प्रलोभन देकर बड़ी कठिनाई से सब की सब एक साथ नौका में बैठने में सफल हो जाती हैं। नौका चलती है, तो केवट-रूपधारी कृष्ण के नेत्र राधा के मुखचन्द्र के चकोर बन जाते हैं, इस पर राधा अप्रसन्न हो सखियों को उन्हें निवारण करने का आदेश देती हैं। इस बीच नौका मध्य धारा में पहुँच जाती है और कृष्ण का नर्मालाप पुनः प्रारम्भ हो जाता है। वे गोपियों से कहते है, 'इन दधिभाण्डों के भार से नौका बीच धारा में डगमगा रही है, सब गोरस मुझे ही खिला-पिला कर इन्हें यमुना में फेंक दो, नौका हल्की हो जायेगी, मुझमें भी संतरण-शक्ति बढ़ेगी।' विवश होकर गोपियाँ वही करती हैं, किन्तु अब उनकी ओर से अन्य आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। कृष्ण कहते हैं, "अरे नौका का भार तो अब भी हल्का नहीं हुआ। तुम्हारे इन आभूषणों के भार से मेरी नौका विशेष आक्रान्त है। इन्हें शीघ्र फेंको अन्यथा यह डूब जायगी। तुम्हारे संकोच का भार भी कम नहीं है, इसे भी दूर करो। जब तक संकोच है, तब तक तुम पार नहीं जा सकोगी।" गोपियाँ हारकर आभूषण उतार-उतार कर फेंक तो देती हैं, पर संकोच के निवारण के लिए क्या करें? बड़ी विषम स्थिति हो जाती है। दयार्द्र होकर कृष्ण कहते हैं कि अच्छा, मैं एक मन्त्र बताता हूँ, उसे जपो। यही तुम्हें पार उतारेगा। मन्त्र बताने के ब्याज से वे राधा के कान में 'कृष्ण' शब्द का उच्चारण करते हैं और फिर उनको यह भी बता देते हैं कि वे ही कृष्ण हैं। इस लीला में संसार-सरिता को पार करने के लिए जिस त्याग और वैराग्य के सहित गुरुमन्त्र के सहारे की आवश्यकता है, उसका निरूपण बड़े ही रोचक ढंग से किया गया है। इसीलिए यह लीला भक्तों को बहुत प्रिय है और कभी-कभी इसका अभिनय अनेक नौकाओं द्वारा रंगमंच बनाकर यमुना में विशेष समारोह के साथ किया जाता है।[1] यह लीला ललितकिशोरीजी ने गोपाल भट्ट गोस्वामी द्वारा विरचित 'कृष्णप्रेमामृत' नामक संस्कृत ग्रन्थ के 'पारखण्ड' के आधार पर लिखी है।

भौंरा-लीला

यह चैतन्य-संप्रदाय के श्रेष्ठ कवि माधुरी जी, जो रूपगोस्वामीजी के प्रिय

---

१. दे० ललितकिशोरी रचित 'नौकालीला'।

शिष्य थे, की माधुरी वाणी के 'वंशीवट माधुरी' के एक प्रसंग के आधार पर अभिनीत होती है। इसका कथानक इस प्रकार है :—

एक दिन यमुना में नौका विहार करते हुए कृष्ण और राधा ने कमलों से एक दूसरे का शृंगार किया—

कमलनि के कंकन रचे पहुँची परम रसाल।
कमलनि के अङ्गद बने उर कमलनि की माल।
कमलनि के भूषण जहाँ तहाँ कनक मणि कांति।
कमलनि की शोभा निरखि नैन कमल न अघात।
कमलनि को नव कुँवर को कुँवरि करति सिंगार।
कमल-वरन की पाग पर, राखे कमल सँवार।
कर्णफूल कानन कियो कलिका कमल मँगाइ।
कंठ माल नव कमल को कीनी अंग बनाइ।

किसी कमल से निकल कर एक भ्रमर पहले कृष्ण की सरोज-माल पर गूँजता रहा, फिर राधा के कमल से मुख पर जाकर गुंजार करने लगा—

चंचरीक चरबनि के आगे ते टरै न नेकु,
चकित है प्यारो चल अंचल चलावहीं।
परम कुटिल ढीठ ढिग ते न न्यारी होत,
भामिनो अनखि भुज-लता सो उड़ावहीं।
तैसोई ककन कल बाजत ललित गति,
साँवल कटाक्ष इत-उत फिरि आवहीं।
मधुप-समूह जानि होत है विकल ज्यों-ज्यों,
त्यों-त्यों मधुसूदन जू मन सचुपावहीं।

प्रियतमा को अत्यन्त विकल देखकर कृष्ण ने अपने लीलाकमल से उस 'मुख मोद मत्त' भ्रमर को उड़ा दिया और राधा से कहा—

सावधान हूजे प्रिये विकल होत केहि काज।
मधु-सूदन तो गृह गयो लीने संग समाज।।

यह सुनते ही राधा मधु-सूदन का अर्थ कृष्ण समझकर और उन्हें गया हुआ मानकर सहसा अत्यन्त व्याकुल हो जाती हैं, यहाँ तक कि सामने बैठे हुए प्रियतम कृष्ण का भी ध्यान उन्हें नहीं रहता। अतएव वे अनेक प्रकार से विलाप-प्रलाप करने लगती हैं—

हा मधु-सूदन, हा मधुर, हा मनमोहन लाल।
अहो कुँवर लोचन कमल, गये कहाँ इहि काल।
कै भूली बंसी कहूँ, गये सुमन हित धाइ।
कै रूसे रस रूसने कै परिहास सुभाइ।
हो प्रीतम हो प्राणपति, अहो प्रेम-प्रतिपाल।
रहे कहाँ अब लों कुँवर बीति गयो बहुकाल।

राधा की यह विरहावस्था देखकर कृष्ण अत्यन्त विस्मित होते हैं और आतुरतापूर्वक उन्हें कण्ठ से लगा लेते हैं। राधा को कण्ठ से लगाते ही उनकी भी वैसी ही दशा हो जाती है और वे भी विकल होकर पूछने लगते हैं कि मेरी प्रियतमा कहाँ है—

जब सुकुवारी भरि लीनी अंकवारी देखि,
तहाँ ही बिहारी जू की न्यारी गति ह्वै गई।
कहूँ दीठ डारी कहूँ श्रमकन कारी कहुँ,
पुलक-पनारी सब अंगन मैं छै गई।
विकल है भारी कछु सुधि न सँभारी कहै,
कहाँ मेरी प्यारी जब कण्ठ लाइ कैं लई।
कहिये कहाँरी, कबहुँ न सुखकारी यह,
मिले हूँ दुखारी कछु नेह गति है नई।

प्रेमी-युगल की यह दशा देखकर सब सहचरियाँ दौड़ कर आती हैं और 'कोटि' उपायों द्वारा उनके इस भ्रम के निवारण का उपाय करती हैं, परन्तु उनके जंत्र, मंत्र, तंत्र सब विफल हो जाते हैं। उन दोनों की यह विरह-बाधा तब दूर होती है, जब सखियाँ कृष्ण के कान में—'राधा-राधा' और राधा के कान में 'कृष्ण-कृष्ण कहती हैं।

यह अत्यन्त सूक्ष्म विरह की अवस्था है, जिसमें संयोग में ही वियोग का भाव रहता है, और जिसे प्रेम-वैचित्य कहते हैं—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावतः,
या विश्लेषधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते।

अर्थात्

बिछुरन की अरु मिलन की परे सन्धि जब आइ।
जो मन में संभ्रम भयेउ, प्रेम विचित्ति सुभाइ।

इसी प्रकार मानलीला[1] में राधा को कृष्ण के ज्योतिमंय 'सत मुकुरप्रकाश' शरीर में अपना प्रतिबिंब देखकर उनके अन्य स्त्री होने का भ्रम हो जाता है, फलस्वरूप वे कठिन मान करती हैं—

निरखत निज प्रतिबिंब तन, मन संभ्रम भयो आनि ।
उठन उठी कछु मान की और त्रिया संग जानि ।।
चपल चली तेहिं ठौर तें, कीनो कठिन सुभाय ।
बैठी जाय रिसाय कै गर्व सिंहासन छाय ।।

कृष्ण अनुनय-विनय करते हैं, विशाखा और ललिता आदि अन्तरंगिणी सखियाँ उन्हें सब प्रकार समझाती हैं, पर उनका मान भंग होना तो दूर, वह अधिकाधिक बढ़ता ही जाता है। जब सब प्रकार के प्रयत्न विफल हो जाते हैं, तब कहीं अन्त में मान का कारण कृष्ण की समझ में आता है। अब वे झीना-सी पट ओढ़कर जिससे उनके शरीर की सहज दीप्ति छिप जाती है, राधा के चरण-स्पर्श करते हैं। कृष्ण के शरीर में अपना प्रतिबिंब न देखकर वे लज्जित होकर मान छोड़ देती हैं—'पट में न प्रतिबिंब देख्यो निज अंगनि को कछुक लजाइ रही नीचे चख ढरिके।' ऐसी ही अन्य भी अनेक लीलायें हैं। ऐसी सूक्ष्मतम—मनःस्थितियों और अनुभूतियों को प्रायः तीन घण्टे तक अभिनीत होनेवाले स्वतंत्र नाटक का रूप दे देना रासलीला की अपनी कला है। नाट्याभिनय की ऐसी विशिष्ट परम्परा अन्यत्र नहीं मिलती, परन्तु उस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वैष्णव भक्तों और सन्तों की दृष्टि से ही इन निकुंज लीलाओं का तत्व समझा जा सकता है और उनका रस प्राप्त किया जा सकता है, अन्यथा इनमें रस-भंग की ही अधिक सम्भावना है। वैष्णव भक्त और आचार्य रासलीला को रस-स्वरूप परात्पर ब्रह्म से जीव का मिलन कराने वाली साधना मानते हैं। उनके अनुसार लीला शब्द में 'ली' का अर्थ है मिलन और 'ला' का अर्थ है प्राप्त करना।[2] इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि रस-स्वरूप ब्रह्म से जो जीव का मिलन प्राप्त करावे, उसी का नाम है 'रासलीला।' वस्तुतः रासलीला उस आध्यात्मिक प्रगति का प्रतीक है, जिसके द्वारा भक्त अपने को भगवच्चरणों में समर्पित करता है। रास-नृत्य के सव्य-भ्रमण और अपसव्य-भ्रमण नाम के दो भेद कहे गए हैं। सम्भवतः वे दोनों स्वकीय एवं परकीय भाव की आराधना के प्रतीक हैं। राधा महाभाव की प्रतीक हैं—'राधनोति इति राधा।' श्रीकृष्ण

१. दे० माधुरीजी कृत 'मान माधुरी', माधुरी वाणी, पृ० ७६।
२. लियं लाति इति लीला। ली-मिलन, ला-प्राप्त करना।

समस्त आराधना के, आकर्षण के केन्द्र हैं—'कर्षतीति इति कृष्णः ।'[1] इस प्रकार प्रकट है कि ब्रज का रासलीलानुकरण एक परमोच्च आध्यात्मिक साधना के रूप में प्रवर्तित हुआ ।

●

१. तुलना करिए—कृषति विदारयति संसाराटवीमिति कृष्णः, कर्षति आत्मसात्करोति ज्ञानिनामिति कृष्णः परमात्मेति वदन्ति ।—नारायणभट्टकृत 'भक्तिविवेक' ।

परिशिष्ट—२

सहायक पुस्तक-सूची

(अ) हिन्दी नाटक

पुस्तक	लेखक
(अ)	
अकबर गोरक्षा-न्याय नाटक	जगतनारायण शर्मा
अथ रामचरित नाटक	जयगोविन्द मालवीय
अद्भुत नाटक	कमलाचरण मिश्र
अनर्घ नल चरित्र	सुदर्शनाचार्य
अभिमन्यु नाटक	शालिग्राम वैश्य
अमरसिंह राठौर	राधाचरण गोस्वामी
अर्जुन-मद मर्दन	
अश्रुमति नाटक	उदित नारायणलाल वर्मा
अष्टयाम	देवादि
अहिरावन लीला (हस्तलेख)	उदय
अंधेर नगरी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(आ)	
आनन्दोद्भव नाटक	कृष्णबिहारी गुप्त
आनन्द रघुनन्दन	महाराज विश्वनाथ सिंह
आम्रस्तुति प्रहसन	नागर
आर्यमत मार्तण्ड	रुद्रदत्त शर्मा
(इ)	
इन्द्रसभा (अमानत)	कृष्णबिहारी शुक्ल (नाटक रूप में संग्रहीत)
इश्क चमन या स्वांग बिस्मिल परिवार का	शालिग्राम वैश्य
(उ)	
उत्तर भारत	मिश्रबन्धु
उद्धव नाटक	गोप

उद्धव वशीठि नाटिका	विद्याधर त्रिपाठी
उषा हरण	कार्तिक प्रसाद खत्री
(ए)	
एक-एक के तीन-तीन	देवकीनन्दन त्रिपाठी
एई कि बोले सभ्यता ?	अनु०
ए थीयरी ऑफ ड्रामा (वर्ल्ड ड्रामा)	ए० निकॉल
(क)	
कनकतारा	विनायक प्रसाद
कन्या सम्बोधिनी नाटक	कामताप्रसाद
कपटी मुनि नाटक	अनन्तराम पांडेय
कमल मोहिनी भँवरसिंह	जवाहरलाल वैद्य जैन
करुणाभरण नाटक (हस्तलेख)	लच्छीराम
कल्पवृक्ष नाटक	खड्गबहादुर मल्ल
कलि कौतुक रूप	प्रतापनारायण मिश्र
कर्ण पर्व	विष्णु गोविन्द शर्मा
काली नागिन	विष्णु गोविन्द शर्मा
काली लीला	ब्रजवासीदास
कंस वध	रामनारायण मिश्र
काशी दर्शन नाटक	हरशंकर प्रसाद
किंग लियर	अनु० लाला सीताराम
कुन्दकली नाटक	जगन्नाथप्रसाद शर्मा
कुरुवन दहन	बद्रीनाथ भट्ट
कृष्णाकुमारी	अनु० रामकृष्ण वर्मा
कृष्ण नाट्यम्	मानवेद
कृष्णार्जुन युद्ध	माखनलाल चतुर्वेदी
(ख)	
ख्याल राजा भरथरी	मातादीन
(ग)	
गुन्नौर की रानी	काशीनाथ खत्री
गोपीचन्द	विनायकप्रसाद
गोपीचन्द नाटक	श्रीमती लालजी

गोपीचन्द नाटक	अरुणाजी इनामदार
गोवध निषेध नाटक	देवकीनन्दन खत्री
गोरखधन्धा	
गो संकट नाटक	अम्बिकादत्त व्यास
गौनेवारी लीला	
गंगा महात्म्य	वंशीधर पाठक
ग्राम पाठशाला	काशीनाथ खत्री
(च)	
चीरहरण लीला	ललितकिशोरी
चौपट चपेट	किशोरीलाल गोस्वामी
चन्द्रावली	भारतेन्दु
चन्द्रगुप्त	बदरीनाथ भट्ट
चुंगी की उम्मेदवारी	बदरीनाथ भट्ट
(छ)	
छद्मयोगिनी	वियोगी हरि
(ज)	
जय नारसिंह की	देवकीनन्दन त्रिपाठी
जानकी रामचरित	हरिराम
जैसा काम वैसा परिणाम	बालकृष्ण भट्ट
जोगलीला (हस्तलेख)	उदय
जोगीलीला	
जोहरा बहिराम नाटक	मुहम्मद अब्दुल्ला
(त)	
तप्ता संवरण	लाला श्रीनिवास दास
तुलसीदास	बदरीनाथ भट्ट
(द)	
दमयन्ती स्वयंवर	बालकृष्ण भट्ट
दयानन्द परास्त	बालकृष्ण भट्ट
दर्याई इन्द्रसभा	रामभजन मिश्र
दशावतार (मराठी)	
दामोदर लीला	देवीदास

दुर्गावती	बदरीनाथ भट्ट
देवाक्षर चरित	रविदत्त शुक्ल
दो मित्रों का वार्तालाप	भारतेन्दु
द्रौपदी वस्त्र हरण	राम प्रभुलाल
(ध)	
धन औ विद्या कौ विवाद (हस्तलेख)	नरहरि
धर्मालाप	राधाकृष्णदास
ध्रुव तपस्या	मंसाराम मारवाड़ी
(न)	
नल दमयन्ती	नित्यबोध विद्यारत्न
नहुष	गिरधरदास
न्याय सीमा नाटक	रत्नचन्द वकील
नवीन वेदान्त नाटक	,, ,,
नागरी विलाप	रामगिरीष चतुर्वेदी
नाट्य संभव	किशोरीलाल गोस्वामी
निकृष्ट नौकरी	काशीनाथ खत्री
नीलदेवी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
नेत्रोन्मीलन	मिश्रबंधु
नौका लीला	ललितकिशोरी
नौटंकी	लछमन
नंद विदा	बल्देवप्रसाद मिश्र
नृसिंहावतार	रामभजन मिश्र
(प)	
पग पखारन लीला	कोई बालक
पत्नी प्रताप	नारायणप्रसाद बेताब
पति भक्ति	हरिकृष्ण जौहर
पदमावती	रामकृष्ण वर्मा
परीक्षित	आनन्दप्रसाद कपूर
परम प्रबोध बिधु नाटक (हस्तलेख)	महाराज रघुराज सिंह
पाखंड बिडंबन	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
पुरुविक्रम	शालिग्राम वैश्य
पुलिस नाटक	मूलचन्द

पूर्व भारत	मिश्रबन्धु
प्रद्युम्न विजय	हरिऔध
प्रद्युम्न विजय (हस्तलेख)	गणेश
प्रबोध चन्द्रोदय	ब्रजवासी दास
प्रबोध चन्द्रोदय	नानक दास
प्रबोध चन्द्रोदय	अनु० देवीदीन
प्रबोध चन्द्रोदय	अनु० भवदेव दूबे
प्रबोध चन्द्रोदय	गुलाब सिंह
प्रबोध चन्द्रोदय	धोंकल मिश्र
प्रभास मिलन	मधुसूदन लाल
प्रभास मिलन	कालीकृष्ण मुखोपाध्याय
प्रभास मिलन	बल्देव प्रसाद मिश्र
प्रयाग रामागमन	प्रेमघन
प्रह्लाद चरित्र नाटक	श्रीनिवास दास
प्रह्लाद चरित्र नाटक	महाराजदीन दीक्षित
प्रह्लाद चरितामृत	जगन्नाथ शरण
प्रेम की बेल	ब्रजजीवन दास
प्रेम जोगिनी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
प्रेम वाटिका	श्री राजेन्द्र सिंह
प्रेम मंजरी	श्री राजेन्द्र सिंह
प्रेमलीला	अनु० गोपीनाथ पुरोहित
प्रेम स्वरूप	ब्रजजीवन दास
प्रेम सुन्दर	खिजावन लाल
प्रेमियों की सैर	कृष्णबिहारी शुक्ल

(फ)

फुलवारी लीला	रसिकबिहारी जी

(ब)

बनवीर नाटक	गोपालराम गहमरी
बयालीस लीला	चाचाहित वृन्दावनदन
बाल खेल या ध्रुव चरित्र	दामोदर शास्त्री
बाल विधवा संताप नाटक	काशीनाथ
बाल्य विवाह दूषक	देवदत्त मिश्र

बाल्य विवाह नाटक	देवी प्रसाद शर्मा
बाल्य शिशु विवाह	शिवकरण रामरतन
बनवारी लीला	
वीर नारी (अनुवाद)	
बैल छै टके को	देवकीनन्दन त्रिपाठी
वीर बालक	नित्यबोध विद्यारत्न
बेन चरित	बदरीनाथ भट्ट

(भ)

भक्त सूरदास	श्रीलाल उपाध्याय
भारत आरत	खड्गबहादुर मल्ल
भारत आरत (भा० १-१८८५)	(रसित पंच, अप्रैल, जून, जुलाई)
भारत डिमडिमा नाटक	जगतनारायण
भारत सौभाग्य	बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'
भारत सौभाग्य	अम्बिकादत्त व्यास
भारत जननी	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भारत दुर्दशा	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
भारती हरण (हस्तलेख)	देवकीनन्दन त्रिपाठी
भारतोद्धार नाटक	शरत्कुमार मुखोपाध्याय
भारतेन्दु नाटकावली	ब्रजरत्नदास
भौंरा लीला	माधुरीजी

(म)

मधुर मुरली	नित्यबोध विद्यारत्न
मदन मंजरी	अमान सिंह व जागेश्वर
मन भावन	अनु० गोपीनाथ पुरोहित
मनोरंजनी नाटक	रघुवीर सिंह वर्मा
मयंक मंजरी	किशोरीलाल गोस्वामी
महाअंधेर नगरी	विजयानन्द
महाभारत नाटक	माधव शुक्ल
महामोह विद्रावण नाटक	विजयानन्द त्रिपाठी
महाराणा प्रताप	राधाकृष्ण दास
महारानी	खड्गबहादुर मल्ल
महारानी पद्मावती	राधाकृष्ण दास

महारास	खड्गबहादुर मल्ल
मृत्यु सेना	भवनराज श्रीमाली
माधव विनोद नाटक	सोमनाथ
माधवानल कामकंदला	शालिग्राम
मान माधुरी	आलम
मानलीला	चौबे रामप्रसाद
मालती वसंत	—
मालती माधव भाषा	लाला सीताराम
मालविकाग्नि मित्र	अनु० लाला सीताराम
मिथिलेश कुमारी	विन्ध्येश्वरप्रसाद राय
मिस अमेरिकन	बदरीनाथ भट्ट
मीराबाई	बल्देवप्रसाद मिश्र
मुछन्दर सभा	सूर्यनारायण सिंह
मैकबेथ	अनु० लाला सीताराम
मोरध्वज	शालिग्राम वैश्य

(य)

युगल विहार नाटक	द्विजकृष्ण दत्त
यौवन योगिनी	गोपालराम गहमरी

(र)

रणधीर प्रेममोहिनी	श्रीनिवास दास
रति कुसुमायुध	खड्गबहादुर मल्ल
रत्नावली	अनु० बालमुकुन्द गुप्त
राजदान लीला	—
राधानन्द कुमार	रामसरनदास
रामकरुणाकर नाटक (हस्तलेख)	उदय
रास सर्वस्व	राधाकृष्णदास
रूपक रहस्य	श्यामसुन्दर दास
रूपक विकास	उपाध्याय वेदमित्र व्रती
लावनी का इतिहास	स्वामी नारायणानन्द सरस्वती
लोकधर्मी नाट्य परम्परा	श्याम परमार
लोकमान्य	—
ब्रजलोक संस्कृति	कृष्णदत्त बाजपेयी

ब्रजोत्सव चन्द्रिका	—
ब्रह्मसूत्र	—
विक्टोरिया राजदर्पण	—
वेदान्तांक (कल्याण, भाग ११)	—
वैदिक दर्शन	फतह सिंह
विज्ञान गीता (हस्तलेख)	केशवराम (बा० ब्रजरत्नदास द्वारा प्राप्त)
सन् १८५७ के गदर का इतिहास, खण्ड ४	शिवनारायण द्विवेदी
सभा की १३वीं खोज रिपोर्ट	काशी नागरी प्रचारिणी सभा
समीक्षा के सिद्धान्त	सत्येन्द्र
सर्वदर्शन संग्रह	—
समीक्षाशास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी
संगीत कलाधर	डाह्याभाई शिवराम
संदेश रासक	हरिवल्लभ वियाणी
संस्कृत साहित्य का इतिहास	कन्हैयालाल पोद्दार
संस्कृत साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय
साहित्य	शिवनारायण शर्मा
साहित्य-परीक्षण	सत्यदेव चतुर्वेदी व गिरिजा मोहन चतुर्वेदी
साहित्य समीक्षांजलि	सुधीन्द्र
सूरसागर	सूरदास
सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ	—
हमारी नाट्य परम्परा	श्रीकृष्ण दास
हमारी नाट्य साधना	राजेन्द्रसिंह गौड़
हरिवंश पुराण पूर्वार्द्ध	टीका० गदाधर शर्मा
रामचरित नाटक	जयगोविन्द मालवीय
रामचरित्र	मिश्रबंधु
रामचरित्र नाटक	द्विजदास
रामानाट्टम्	केरल वर्मा
रामयश दर्पण (आठ कांड)	शिवशंकरलाल वाजपेयी
रामलीला या नाटककार रामायण (छः कांड)	दामोदर शास्त्री
रामलीला नाटक (हस्तलेख)	देवकीनन्दन त्रिपाठी
रामलीला विजय नाटक	बलदेवप्रसाद मिश्र
रामलीला कौमुदी	बल्लूलाल

रामलीला सहायक नाटक	दाशरिथदास 'दिव्य'
रामलीला नाटक रामायण	गोस्वामी नारायण सहाय
रामलीला नाटक	ब्रजचन्द जनवल्लभी
रामलीला रामायण	ज्वालाप्रसाद मिश्र
रामलीला नाटक	ज्वालाप्रसाद मिश्र
रासछद्म विनोद	चाचाहित वृन्दावनदास
रामलीला विहार	लक्ष्मणशरण मधुकर
रामकरुना (लक्ष्मण संग्राम नाटक)	उदय
रामायण	विनायक प्रसाद
रामाभिषेक नाटक	अनु० रामगोपाल
रामायण नाटक	प्राणचन्द
रुक्मिणीहरण नाटक	देवकीनन्दन त्रिपाठी
रूपवती	परमेश्वर मिश्र
रोमियो-जूलियट	अनु० गोपीनाथ पुरोहित
(ल)	
लबड़धोंधों	बदरीनाथ भट्ट
ललित माधव	रूप गोस्वामी
ललित (मराठी)	
लल्ला बाबू	बलदेवप्रसाद मिश्र
ललिता नाटक	अम्बिकादत्त व्यास
लव जी का स्वप्न	काशीनाथ खत्री
लावण्यवती सुदर्शन	शालिग्राम वैश्य
(व)	
वंशी लीला	
वारांगना रहस्य	बद्रीनारायण चौधरी
विद्या-विनोद नाटक	गोपालराम गहमरी
विद्या विलासी सुखवंदिनी	गोपालराम गहमरी
विधवा दुर्दशा नाटक	रामरतन
विधवा सन्ताप नाटक	काशीनाथ खत्री
विधवा विडम्बना नाटक	तोताराम वकील
विवाहिता विलास नाटक	निद्धिलाल
विषस्य विषमौषधम्	भारतेन्दु

विश्वामित्र	कैलासनाथ बाजपेयी
विषयाचन्द्र हास	सी० एल० सिन्हा
विज्ञान नाटक	शंकरानन्द तृतीय
विचित्र नाटक	गुरु गोविन्दसिंह
वीर अभिमन्यु	राधेश्याम कथावाचक
बुद्धदेव	व्याकुल भारत कम्पनी
वीर भारत	हरिकृष्ण जौहर
वीर वामा	बैजनाथ
वीर नारी	अनु० रामकृष्ण वर्मा
वेनिस नगर का व्यापारी	आर्य उपनाम महिला
वेणी संहार	अम्बिकादत्त व्यास
वेश्या नाटक	चौधरी नवल सिंह (अनु० ईश्वरीप्रसाद शर्मा)
वेश्या विलास	देवकीनन्दन त्रिपाठी
वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
वृद्ध-विवाह नाटक	घनश्याम दास
वृहन्नला	बालकृष्ण भट्ट
बभ्रुवाहन	अनु० गोपालराम गहमरी
वनवीर	,, ,,
विद्या विनोद	,, ,,

(श)

शकुन्तला (हस्तलेख)	धोंकल मिश्र
शकुन्तला	नेवाज
शकुन्तला नाटक	हाकिम मुहम्मद अब्दुल्ला
शमशाद सौसन	केशवराम भट्ट
शर्मिष्ठा	अनु० रामकृष्ण वर्मा
शिवाजी	मिश्रबन्धु
शील सावित्री	कन्हैयालाल
श्यामानुराग नाटिका	सूर्यनारायण सिंह
श्रवण कुमार	राधेश्याम कथावाचक

(स)

सत्य हरिश्चन्द्र	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

सज्जाद संबुल	केशवराम भट्ट
सती नाटक	उदित नारायण वकील
सती चन्द्रावती	रामचरण गोस्वामी
सती चरित्र नाटक	हनुमन्त सिंह रघुवीर सिंह
सती प्रताप	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
सत्यवती नाटक	छगनलाल कासलीवाल
सत्य हरिश्चन्द्र नाटक	रामभजन मिश्र 'स्वतंत्र'
सत्योदय	नन्हेमल
सबै जात गोपाल की	भारतेन्दु
समयसार नाटक	बनारसीदास
सँपेरा नया सँपेरा पुराना	(नागर सभा)
सरस्वती	दुर्गाप्रसाद मिश्र
सर्राफी नाटक	गौरीदत्त
सावित्री	लाला देवराज
सिन्धु देश की राजकुमारियाँ	काशीनाथ खत्री
सिलवर किंग	(पारसी थियेटर)
सीता वनवास नाटक	ज्वालाप्रसाद मिश्र
सीता स्वयम्वर नाटक	बन्दोदीन दीक्षित
सीय स्वयम्वर नाटक	माधव शुक्ल, अम्बिकादत्त त्रिपाठी
सुरभि संताप नाटक	सुन्नुलाल गुप्त
सुदामा जी का स्वांग व नाटक	बेताब, कपूर, मेहरा, राधेश्याम, नत्थामल
सुदामा चरित	नरोत्तमदास
सुलोचना सती या सती महात्म्य	बल्देव जी अग्रहरि
सुलोचना सती नाटक	भवदेव
सूरत की बेडौल सूरत	बालकृष्ण भट्ट
सेनापति ऊदल	वृन्दावनलाल वर्मा
सोमा सती	जैनेन्द्र किशोर
सौभद्र हरण	अनु० गोविन्द शास्त्री दुगवेकर
संगीत शाकुन्तल	प्रतापनारायण मिश्र
संयोगिता स्वयम्वर	श्रीनिवासदास
संसार सागर रत्न अर्थात् वैश्य नाटक	मोहनलाल
संगीत गोपीचन्द	लक्ष्मण
संगीत गोपीचन्द	इन्द्र

संगीत नागलीला	कुँवर सेन साहब
संगीत प्रह्लाद	लक्ष्मण
संगीत शकुन्तला	—
साँग राजा सरवन	खुशीराम
साँग रूप वसन्त	लक्ष्मन के शिष्य
संगीत ध्रुव	चिरंजीलाल तथा नत्थाराम शर्मा
श्रीदामा नाटक	रविदत्त शुक्ल
संगीत प्रह्लाद	चिरंजीलाल तथा नत्थाराम शर्मा
संगीत मोरध्वज	चिरंजीलाल तथा नत्थाराम शर्मा
संगीत गोपीचन्द	चिरंजीलाल तथा नत्थाराम शर्मा
संगीत पूरनमल	चिरंजीलाल तथा नत्थाराम शर्मा

(ह)

हनुमन्नाटक	हृदयराम
हनुमान नाटक (हस्तलेख)	उदय
हर-हर महादेव	गोविन्द शास्त्री दुगवेकर
हरिकथा (मराठी)	—
हरितालिका नाटक	खड्गबहादुर मल्ल
हरिश्चन्द्र	विनायक प्रसाद
हरिश्चन्द्र ख्याल भाषा	—
गर्दिशे तकदीरे	नजीर बेग
हिन्दी साहित्य की दुर्दशा	प्रयागप्रसाद त्रिपाठी
हिन्दी उर्दू का नाटक	रत्नचन्द बी० ए०
होली दर्पण नाटक	शिवराम पांडेय वैद्य

(आ) अन्य हिन्दी पुस्तकें

पुस्तक	लेखक
अजंता का कला मंडप	रविशंकर रावल
अध्यात्म रामायण	—
अभिनव भारती (हिन्दी टीका)	अभिनव गुप्तपादाचार्य
अभिनव नाट्य शास्त्र	सीताराम चतुर्वेदी
अलबेरूनी का भारत	—
अशोक	भंडारकर

आधुनिक भारत	ईश्वरी प्रसाद
आधुनिक हिन्दी साहित्य	लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास	श्रीकृष्ण लाल
आर्य संस्कृति के मूलाधार	बल्देव उपाध्याय
उर्दू साहित्य का इतिहास	सय्यद एहतिशाम हुसेन
उर्दू साहित्य परिचय	हरिशंकर शर्मा
एकांकी कला	रामकुमार वर्मा
कल्याण का भागवत पुराण अंक	—
कवितावली	गोस्वामी तुलसीदास
कवि वचन सुधा (पत्रिका)	अंक मई, १८७९ ई०
कृष्णोपनिषत्	—
कांग्रेस का इतिहास	पट्टाभिसीतारमैया
कामायनी सौन्दर्य	फतह सिंह
कामसूत्र	वात्सायन
काव्य कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद
कुश जातक	—
गदाधर भट्ट की वाणी	—
गीत रघुनन्दन (भूमिका)	महाराजा विश्वनाथ सिंह
चैतन्य भागवत	वृन्दावनदास
छलना	भगवतीशरण बाजपेयी
छद्मयोगिनी	वियोगी हरि
जीवन और संघर्ष (भूमिका)	उदयशंकर भट्ट
जानकी रामचरित	हरिराम
नाट्य कला दर्शन	चन्द्रराम भंडारी
नाटक की परख	एस० पी० खत्री
नाट्य प्रबन्ध	बल्देव प्रसाद मिश्र
नाट्य निर्णय	रमाशंकर शुक्ल रसाल
नाट्य शास्त्र	महावीरप्रसाद द्विवेदी
निबन्ध-नवनीत	प्रतापनारायण मिश्र
निम्बार्क माधुरी	बिहारीदास
पोद्दार अभिनंदन ग्रन्थ	कन्हैया लाल
प्रताप पीयूष	सं० रमाकान्त त्रिपाठी
प्रताप समीक्षा	प्रेम नारायण टंडन

ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास	केशवदेव
भक्तमाल	नाभादास
भक्त कल्पद्रुम	महाराजा प्रताप सिंह
भक्त नामावली लीला	ध्रुवदास
भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
भारतेन्दु की नाट्य कला	प्रेमनारायण शुक्ल
भारतेन्दु युग	रामविलास शर्मा
भक्त कवि व्यास	वासुदेव गोस्वामी
भारत का धार्मिक इतिहास	शिवशंकर मिश्र
भारत दुर्दशा (भूमिका)	सम्पा० वार्ष्णेय
भारत दुर्दशा (भूमिका)	सम्पा० रामप्रकाश अग्रवाल
भारत दुर्दशा (भूमिका)	सम्पा० सत्यव्रत सिन्हा
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा	नगेन्द्र
भारतोय नाट्यशास्त्र और रंगमंच	मोहन वल्लभ पंत
भारतीय नाटकशास्त्र (मराठी)	इन्दुमती केतकर
भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास	सत्यकेतु विद्यालंकार
भारतेन्दु का नाट्य साहित्य	धीरेन्द्र कुमार शुक्ल
भारतेन्दु की नाट्यकला	प्रेमनारायण शुक्ल
भारतेन्दु जी का जीवन चरित्र	राधाकृष्ण दास
भारतेन्दु मंडल	ब्रजरत्न दास
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	ब्रजरत्न दास
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी
महावाणो	हरिव्यास
मिश्रबन्धु विनोद भाग १, २, ३	मिश्रबन्धु
मँझली रानी (भूमिका)	सद्गुरुशरण अवस्थी
राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज	द्वितीय भाग
राजस्थानी लोक नाट्य	देवीलाल सागर
राजपूत पेंटिंग्स	आनन्द कुमार स्वामी
राधाकृष्ण ग्रन्थावली	
रामचरित मानस	गोस्वामी तुलसीदास
रामभक्ति साधना में मधुर उपासना	भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'
रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय	भगवतीप्रसाद सिंह

रास पंचाध्यायी	नन्ददास
रास और रासान्वयी काव्य	दशरथ ओझा एवं दशरथ शर्मा
राधावल्लभ सम्प्रदाय—	
सिद्धान्त और अध्ययन	विजयेन्द्र स्नातक
रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट	बाबा कृष्णदास
रास सर्वस्व	रासधारी राधाकृष्ण दास

